नन्ददास

नन्ददास
विचारक, रसिक, कलाकार

रूपनारायण
एम० ए०, पी-एच० डी०

राधाकृष्ण प्रकाशन

क्रम

रसिक

फलाकार

आचार्य

योगदान

ग्रन्थानुक्रमणिका

नन्ददास

परिचय

कृष्ण-भक्त कवियों में नन्ददास का विशेष स्थान है। भक्ति-भावना और काव्य-सौन्दर्य दोनों दृष्टियों से कृष्ण-भक्ति काव्य में उनका योगदान सभी साहित्यिक विद्वानों ने स्वीकार किया है। साम्प्रदायिक दृष्टि से यद्यपि उनका सम्बन्ध वल्लभ-सम्प्रदाय से है किन्तु सच्चे भक्त की भाँति उन्होंने अपने को साम्प्रदायिक सीमा से कभी नही बँधने दिया। कृष्ण-प्रेम-तीव्रता पर उनका विशेष बल है—और यही प्रेम-तीव्रता उनकी साधनापरक कसौटी है। नन्ददास की साम्प्रदायिक उदारता उनके राम और कृष्ण—दोनों का इष्टदेव के रूप में स्मरण से भी लक्षित होती है। कविता के क्षेत्र में भाव-व्यंजना और कलात्मकता दोनों को उन्होंने स्वीकारा है। यह सत्य है कि कला उनके काव्य में अपेक्षाकृत अधिक स्फुट है पर भाव-व्यंजना की दृष्टि से उनके काव्य का महत्त्व कम नही है। नन्ददास की कविता के इन विभिन्न गुणों से अन्य पाठकों की भाँति मैं भी प्रभावित हुआ। और इसी के परिणामस्वरूप नन्ददास की रचनाओं पर कुछ लिखने की इच्छा मेरे मन में हुई। नन्ददास सम्बन्धी मेरी यह रचना आलोचनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया उनका परिचय है। अतः नन्ददास पर पूर्व-प्रस्तुत सामग्री से इसमें कुछ भिन्नता आ जाना स्वाभाविक था। यह भिन्नता केवल दृष्टिकोण की भिन्नता मानी जानी चाहिए—क्योंकि नन्ददास को मैंने जिस दृष्टि से समझा है उसी के अनुसार यहाँ समझाने का प्रयास किया है।

आज तक नन्ददास के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है उसमे परिचयात्मक और आलोचनात्मक दोनों प्रकार की सामग्री है। परिचयात्मक सामग्री बहुत कुछ हिन्दी साहित्य के इतिहास पर लिखी गई आरम्भिक रचनाओं में उपलब्ध होती है। उनकी जीवनी और रचनाओं का संक्षिप्त परिचय इन इतिहास-ग्रन्थों में प्राप्त होता है। परिचय की अपेक्षा इन्हें सूचना कहना ही सङ्गत होगा। आचार्य शुक्ल, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों ने नन्ददास के परिचय के साथ-साथ उनकी कविता के सम्बन्ध में संक्षिप्त पर सारगर्भित टिप्पणी भी की है। सम्भवतः अधिक विस्तार की सम्भावना यहाँ नहीं थी, किन्तु स्वतन्त्र आलोचनात्मक रचनाओं के लिए यहाँ कई सूत्र मिल जाते है। यही कारण है कि उक्त विद्वानों का मन्तव्य नन्ददास सम्बन्धी स्वतन्त्र आलोचनात्मक रचनाओं में उद्धृत किया जाता रहा है।

आलोचनात्मक रचनाओं में दूसरा वर्ग नन्ददास की सम्पादित रचनाओं का है। इस प्रकार की रचनाओं के दो वर्ग हैं। प्रथम वर्ग में केवल रासपंचाध्यायी और भ्रमरगीत को सम्पादित करने वाली रचनाएँ आती हैं और दूसरे वर्ग में नन्ददास की सभी काव्य-कृतियों का सम्पादन किया गया है। सम्पादन का यह कार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से आरम्भ होता है। वि० सं० १९३५ की 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में भारतेन्दु ने रासपंचाध्यायी का सम्पादन कर उसे प्रकाशित करवाया। इसका उद्देश्य केवल नन्ददास की उक्त रचना को प्रकाश में लाना था। अतः इसका महत्त्व आलोचनात्मक दृष्टि से अधिक नहीं है। इस दिशा में दूसरा प्रयत्न राधाकृष्णदास द्वारा किया गया। इन्होंने भी रासपंचाध्यायी को सम्पादन के लिए स्वीकार किया। इसमें कवि की जीवनी और रचनाओं की सामान्य विशेषताएँ स्पष्ट की गई हैं। बाबू बालमुकुन्द ने रास-पंचाध्यायी के अतिरिक्त भँवरगीत का सम्पादन भी किया। इसके बाद तो रास-पंचाध्यायी और भँवरगीत के सम्पादन की एक परम्परा चल पड़ी। डॉ० उदयनारायण तिवारी, विश्वम्भरनाथ मेहरोत्रा और डॉ० प्रेमनारायण टंडन ने इसी परम्परा को आगे बढ़ाया। इन सम्पादित कृतियों में आलोचनात्मक रूप का विस्तार अनुपात से बढ़ा। फिर भी कवि-परिचय और ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर इन सम्पादकों ने विशेष ध्यान दिया।

नन्ददास की सभी रचनाओं को ग्रन्थावली के रूप में सम्पादित करने वाले दो विद्वान् हैं—पं० उमाशंकर शुक्ल और बाबू ब्रजरत्नदास। आलोचनात्मक दृष्टि से उक्त दोनों ग्रन्थों का विशेष महत्त्व है। इनमें कवि की जीवनी, ग्रन्थों और काव्य-सौन्दर्य सभी के सम्बन्ध में उचित विस्तार से विचार किया गया है। इस विचार का आधार गवेषणा है। इस प्रकार नन्ददास सम्बन्धी ज्ञातव्य बातों का गवेषणापूर्ण ढंग से प्रस्तुती-करण इन्हीं सम्पादनों में लक्षित हुआ है। नन्ददास पर लिखी जाने वाली आलोचना-त्मक रचनाओं का आधार यही सम्पादन है। हमने स्वयं ब्रजरत्नदास द्वारा सम्पादित 'नन्ददास-ग्रन्थावली' के पाठ को नन्ददास के परिचय के लिए स्वीकार किया है।

नन्ददास पर प्राप्त आलोचनात्मक कृतियों में से कुछ का सम्बन्ध केवल नन्ददास से है और अन्य कुछ ग्रन्थों में परोक्ष रूप से उनकी चर्चा हुई है। दूसरे प्रकार की रच-नाओं का विषय अष्टछाप, वल्लभ सम्प्रदाय, कृष्ण-भक्ति काव्य और भ्रमरगीत की परम्परा है। अतः नन्ददास की सम्यक् आलोचना इन कृतियों में प्राप्त नहीं होती। वैसे वियोगी हरि का 'ब्रजमाधुरीसार', प्रभुदयाल मीतल का 'अष्टछाप परिचय' डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव का 'हिन्दी में भ्रमरगीत परम्परा' और 'नन्ददास का भँवरगीत—विश्लेषण और विवेचन' और सोरों सामग्री पर प्रकाश डालने वाले गवेषणापूर्ण लेखों का इस वर्ग की रचनाओं में उल्लेख किया जा सकता है।

नन्ददास सम्बन्धी आलोचना का वास्तविक रूप उन्हीं रचनाओं में लक्षित होता है जिनमें नन्ददास को ही विषय के रूप में ग्रहण किया गया है। प्रस्तुत रचना इसी परम्परा में है। पूर्व-प्रस्तुत सामग्री से इसकी विशेषता स्पष्ट करने के लिए प्रमुख आलोचनात्मक रचनाओं का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना समीचीन होगा।

(१) 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' के विद्वान् रचयिता डॉ० दीनदयालु गुप्त ने यद्यपि केवल नन्ददास को अपने विवेच्य कवि के रूप में नही लिया है, किन्तु जिस विस्तार से उन्होंने कवि की जीवनी, ग्रन्थ-संख्या और उनकी प्रामाणिकता, विचार, भक्ति-भावना और काव्य-सौन्दर्य के सम्बन्ध में विचार किया है उनका महत्त्व किसी स्वतन्त्र रचना से कम नही है। यह सत्य है कि दार्शनिक विचारों पर डॉ० गुप्त का ध्यान अपेक्षाकृत अधिक है। काव्य-सौन्दर्य की चर्चा बहुत कुछ विषय-परिचय के माध्यम से प्रस्तुत की गई है, अतः आलोचना की-सी गम्भीरता वहाँ आ नहीं पाई है। किन्तु लेखक के विचार जहाँ भी व्यक्त हुए हैं वे अत्यधिक स्पष्ट हैं। अष्टछाप के कवियों में नन्ददास के स्थान पर भी तुलनात्मक शैली से विचार किया गया है।

(२) नन्ददास पर प्रथम स्वतन्त्र आलोचनात्मक रचना डॉ० रामरतन भटनागर की है। नन्ददास के काव्य के विषय में विचारणीय सभी विषयों पर यहाँ विचार किया गया है। जीवनी, रचनाएँ, पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त, भक्ति-भावना, काव्य और कला—ये विभिन्न शीर्षक आलोचना के विभिन्न पहलुओं को स्पष्ट करते हैं। डॉ० भटनागर ने नन्ददास की इस चर्चा मे पूर्वलिखित रचनाओं का ध्यान रखा है। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व-प्रस्तुत सामग्री के अध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी की सुविधा के लिए यह रचना तैयार कर दी गई है। अतः किसी प्रकार की नवीनता यहाँ लक्षित नहीं होती।

(३) प्रो० कृष्णदेव ने 'अष्टछाप के कवि नन्ददास' नामक रचना लिखकर इस दिशा में एक अन्य प्रयास किया है। इस रचना में यद्यपि लेखक ने कहीं-कही स्वतन्त्र चिन्तन का आश्रय लिया है पर विषय को बहुत अधिक विस्तार देने के कारण गम्भीरता का अभाव लक्षित होता है। डॉ० रामरतन भटनागर की रचना के समान इस रचना से परीक्षार्थी ही विशेष लाभान्वित होता है। सम्भवतः उनका दृष्टिकोण विद्यार्थी का सन्तोष रहा हो। अध्यायो की सूची का विस्तार और विषय सामग्री की संक्षिप्तता इसी बात की ओर संकेत करती है। पर नन्ददास के कवि और भक्त रूप को समझने में इस रचना से अवश्य सहायता ली जा सकती है।

(४) डॉ० सावित्री सिन्हा ने 'ब्रजभाषा के कृष्णभक्ति-काव्य में अभिव्यञ्जना-शिल्प' नामक अपने शोध-ग्रन्थ में नन्ददास की काव्य-कला पर विस्तार से विचार किया है। नन्ददास की काव्य-कला को समझने के लिए यह शोध-प्रबन्ध अत्यधिक सहायक सिद्ध होता है। पर काव्य-कला के अतिरिक्त भाव और विचार पक्ष को समझने के लिए अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा सदैव रहती है।

(५) डॉ० उप्रेती रचित 'नन्ददास' इस परम्परा का नवीन ग्रन्थ है। लेखक की इस रचना का आधा भाग जीवनी और काव्य-कृतियो से सम्बन्धित है और शेष आधे भाग में कवि के विचार, भाव-पक्ष और भाषा-अलंकार आदि की चर्चा की गई है। जीवनी और काव्य कृतियों वाले भाग को अधिक गवेषणात्मक बनाने का प्रयत्न लेखक ने किया है। परन्तु विषयगत सूक्ष्मता और विस्तार के होते हुए भी लेखक को इस दिशा में अधिक सफलता नही मिली है। उसके बहुत-से निष्कर्ष एकपक्षीय सिद्ध

होते हैं । काव्य-सौन्दर्य के विवेचन में नवीन शैली का प्रयोग खटकता है । वैसे नन्ददास की काव्य-कला पर बहुत-सी बातें और भी कही जा सकती थीं ।

(६) इधर नन्ददास की रचनाओं में शृङ्गार के विस्तृत स्वरूप को स्पष्ट करने के उद्देश्य से रमेशकुमार गट्टर की पुस्तक प्रकाशित हुई है । शृङ्गार-वर्णन की विस्तृत चर्चा के अतिरिक्त नन्ददास की जीवनी और कृतित्व के अन्य पक्षों को स्पष्ट करने के उद्देश्य से कुछ और सम्बद्ध विषयों का समावेश भी किया गया है । किन्तु बल शृङ्गार पक्ष को स्पष्ट करने में है । इस विषय का जितना विस्तार इस रचना में किया गया है, उससे प्रतीत होता है कि शृंगारी कवि के रूप में नन्ददास ने लेखक को विशेष आकृष्ट किया है । यह सत्य है कि नन्ददास सौन्दर्य और यौवन के कवि हैं, अतः उनकी रचना में शृङ्गार के विविध अंगों का विस्तार ढूंढ लेना कोई कठिन नहीं । पर इस एक ही विषय पर इतना अधिक बल देने से कवि के व्यक्तित्व का सही रूप नहीं उभर सका है । वैसे लेखक का परिश्रम प्रशंस्य है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ लिखते समय उपर्युक्त सभी कृतियां मेरे सामने अपना-अपना दृष्टिकोण लिए प्रस्तुत थीं । किन्तु नन्ददास की कृतियों का बार-बार अध्ययन करने से मुझ पर उनके व्यक्तित्व के अनेक रूप स्पष्ट होने लगे । कृष्ण-काव्य में माधुर्य भक्ति सम्बन्धी अपने अध्ययनकाल में नन्ददास की मधुरोपासना से मेरा परिचय हुआ था । पर अब मुझको ज्ञात हुआ कि मधुरोपासक के अतिरिक्त वे सच्चे कलाकार हैं । यद्यपि उनके काव्य का प्रेरणास्रोत माधुर्य भक्ति है पर अन्य भावों की भी उन्होंने सफल अभिव्यंजना की है । पर ये सभी भाव माधुर्य के पोषक होकर उनके काव्य में स्थान पा सके हैं । इसके अतिरिक्त नन्ददास ने अपनी रचनाओं में यथावसर साम्प्रदायिक सिद्धान्त और उपासना-पद्धति को भी स्पष्ट किया है । नन्ददास के इन विभिन्न रूपों को स्पष्ट करना ही मुझको उनके काव्य के समुचित परिचय प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन प्रतीत हुआ । अतः मैंने नन्ददास के काव्य को उनके व्यक्तित्व के विभिन्न रूपों के आधार पर समझने का प्रयत्न किया । प्रस्तुत रचना मेरे इसी दृष्टिकोण का परिणाम है ।

प्रस्तुत रचना के प्रथम दो अध्याय कवि की जीवनी और कृतियों से सम्बद्ध हैं। नन्ददास पर स्वतन्त्र रूप से लिखे गए सभी ग्रन्थो मे और कुछ सम्पादित कृतियों मे इस विषय का निरूपण किया गया है । नन्ददास के व्यक्तित्व को समझने के लिए जीवनी और कृतियों का पूर्ण ज्ञान नितान्त आवश्यक है । किन्तु जीवन सम्बन्धी अनेक तथ्यों और कृतियों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए विशेष सतर्कता की आवश्यकता रहती है । हमने अपने विषय निरूपण मे तर्कसिद्ध अनुमानो का आश्रय लेकर इस विषय के समुचित निरूपण के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निभाने का यत्न किया है । और जहां तक हो सका है, नन्ददास की भावना के अनुकूल तर्कों को ही ग्रहण किया है । इन दो अध्यायो के अन्त तक नन्ददास के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू—विचारक, रसिक, कलाकार और आचार्य—उभर कर सामने आ जाते हैं । यही हमारे अगले चार अध्यायों के शीर्षक है ।

नन्ददास का विचारक रूप केवल व्याख्याता का है । किन्तु वल्लभ-सम्प्रदाय के

सिद्धान्तों को समझकर स्पष्ट करने का जैसा प्रयत्न नन्ददास के काव्य मे लक्षित होता है, वैसा अन्य समकालीन कवियों में कम है । इसीलिए शुद्धाद्वैत और पुष्टिभक्ति एवं माधुर्य भक्ति के सम्बन्ध में उनके विचारों का स्पष्ट करना हमारे इस अध्याय का उद्देश्य है । 'रसिक' शब्द व्याख्या की अपेक्षा रखता है—जिसको यथास्थान स्पष्ट किया गया है । किन्तु यहाँ इतना कहना ही उपयुक्त होगा कि नन्ददास को कवि अथवा भक्त न कहकर हमने रसिक कहना उनकी प्रेम-भाव-व्यंजना के आधार पर पसन्द किया । प्रेम-व्यंजना की यह प्रेरणा उन्हें माधुर्य भक्ति से प्राप्त हुई है । इसीलिए अपनी रचनाओं में वे मधुरोपासक तथा प्रेमी के रूप में हमारे सामने आते है । और माधुर्य भक्ति में मधुरोपासक के लिए रसिक शब्द का ही प्रयोग किया गया है। अतः 'रसिक' शब्द हमें नन्ददास के व्यक्तित्व के इस पहलू को सच्चे अर्थों मे व्यक्त करने वाला प्रतीत हुआ । वैसे प्रेमभाव-व्यंजक सौन्दर्य और यौवन के कवि के लिए प्रयुक्त यह शब्द सटीक ही कहा जायेगा ।

नन्ददास का कलाकार रूप सर्वविदित है । 'नन्ददास जड़िया' कहकर इसका जितना उद्घोष किया गया उतना इस रूप का स्पष्टीकरण नही । हमने इस दिशा में विशेष श्रम किया है और भाषा-सज्जा की सम्पूर्ण सामग्री से पाठक लाभान्वित हो सकें, इसका पूर्ण प्रयत्न किया है । नन्ददास का आचार्य रूप अधिक महत्त्व का नहीं है। पर उसे छोड़ा भी नहीं जा सकता। उनके काव्यशास्त्र और शब्दकोष का ज्ञान छठे अध्याय में स्पष्ट किया गया है ।

आशा है, नन्ददास के साहित्यिक अध्ययन में प्रस्तुत रचना सहायक हो सकेगी।

नन्ददास की जीवनी

कवि और उसके काव्य के अध्ययन में सहायक जिन विभिन्न तत्वों की चर्चा विद्वानों द्वारा की गई है उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है—कवि की जीवनी। भारतीय और पश्चिम के अधिकांश आलोचकों ने काव्य को कवि के जीवन की अभिव्यक्ति स्वीकार किया है। वस्तुतः श्रेष्ठ रचनाएँ कवि के मस्तिष्क एवं हृदय की समन्वित उपज है। और जीवन की घटनाओं का व्यक्ति के मस्तिष्क (विचारों) और हृदय (अनुभूतियों) पर कितना गहरा प्रभाव पड़ता है—यह बताने की आवश्यकता नहीं। कवि का जीवन उसके काव्य में सर्वत्र झलकता है। अतः किसी भी कवि के काव्य का अध्ययन उसकी जीवनी के विस्तृत परिचय के बिना कदापि सम्भव नहीं है। क्योंकि ऐसी अवस्था में हमारे अध्ययन में कल्पना का ही विशेष योगदान रहेगा और इस प्रकार कवि और उसके काव्य के प्रति पाठक की उचित सहानुभूति के अभाव में उसका अध्ययन एकांगी बना रहेगा। इसीलिए साहित्यिक अध्ययन का समारम्भ कवि के जीवन-परिचय से ही माना गया है। प्रस्तुत अध्याय इसी दिशा में किया गया एक प्रयत्न है।

कवि के जीवन-परिचय का सबसे अधिक विश्वसनीय सूत्र उसका अपना काव्य है। यद्यपि अन्य समकालीन लेखकों तथा कवियों एवं इतिहासज्ञों द्वारा दिये गए संकेत भी कवि के जीवन-सूत्रों को जोड़ने में सहायक हुआ करते है पर ऐसा करने में अनुमान का आश्रय विशेष रूप से लेना पड़ता है और कभी-कभी इस प्रक्रिया में तथ्य से बहुत दूर चले जाने की सम्भावना बनी रहती है। इसीलिए कवि की निजी उक्तियों का जीवन-परिचय के लिए विशेष महत्त्व है। किन्तु जहाँ ऐसा आधार न मिल सके वहाँ कवि के समकालीन कवि एवं लेखकों की रचनाओं पर निर्भर करना पड़ता है। इस प्रकार किसी भी कवि का जीवन-परिचय प्राप्त करने के लिए दो आधार है—

१. कवि की निजी रचनाएँ—अन्तःसाक्ष्य।

२. समकालीन या कुछ पीछे के कवियों एवं लेखकों की रचनाएँ—बहिःसाक्ष्य।

भक्तिकालीन कवियों की जीवन-सामग्री मुख्य रूप से द्वितीय आधार से ही प्राप्त होती है। इन दोनों साक्ष्यों के अतिरिक्त कुछ सामग्री वर्तमान काल में लिखे गए साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है। इनमें से कुछ सामग्री तो खोज द्वारा प्राप्त प्राचीन ग्रंथों पर आधारित है और कुछ जनश्रुतियों एवं किंवदन्तियों के प्रमाण पर स्वीकार कर ली गई है। अतः साहित्यिक इतिहास-ग्रंथों द्वारा प्राप्त सामग्री केवल उक्त

आधारों से प्राप्त सामग्री की पोषक ही कही जायेगी।

अन्तःसाक्ष्य—नन्ददास ने अन्य समकालीन भक्त-कवियों की भाँति अपने काव्य में निजी जीवन के सम्बन्ध में जो संकेत दिये हैं उनके आधार पर उनके जीवन की कोई निश्चित रूप-रेखा तैयार नहीं की जा सकती। नन्ददास की उपलब्ध रचनाओं में उनके वंश, कुल, जाति, जन्म-स्थान आदि के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता।

उनकी रचनाओं में जीवन-परिचयात्मक जो उक्तियाँ उपलब्ध होती हैं उनके आधार पर निम्न बातों का ज्ञान होता है—

१. नन्ददास के दीक्षागुरु गुसाईं विट्ठलनाथ थे—जिनकी इन्होंने 'विट्ठलेश' और 'श्रीवल्लभ-सुत' के रूप में कई पदों से स्तुति की है।[1] कुछ स्थलों पर उन्होंने केवल गुरु शब्द का प्रयोग किया है—गुरु के नाम का उल्लेख नहीं है।[2] किन्तु इन उक्तियों में वर्णित घटनाओं से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ भी 'गुरु' शब्द से उनका आशय दीक्षा-गुरु से है। शिक्षा-गुरु के सम्बन्ध में किसी प्रकार का संकेत इनकी रचनाओं में प्राप्त नहीं होता।

२. नन्ददास ने अपनी रचनाओं का आरम्भ जहाँ भी मंगलस्तव से किया है, वहाँ श्रीकृष्ण को ही स्मरण किया गया है।[3] इससे स्पष्ट है कि गुसाईं विट्ठलनाथ से दीक्षा लेने के बाद नन्ददास ने अपना जीवन श्रीकृष्ण की भक्ति-भावना या सेवाभाव में इष्ट की लीलाओं का गान करते हुए व्यतीत किया।

३. नन्ददास के कुछ पदों से उनका व्रज-प्रेम सूचित होता है।[4] कहीं-कहीं ऐसा भी स्पष्ट होता है कि वृन्दा-विपिन, गोकुल और नन्दगाँव उन्हें विशेष प्रिय थे।[5] इनके वर्णन में जो सजीवता लक्षित होती है उससे यही ज्ञात होता है कि इन स्थानों

---

१. श्री वल्लभसुत के चरण भजौं।
अति सुकुमार, भजन सुखदायक, पतितन-पावन-करन भजौं।
... ...
पुष्टि मजाद, भजन सुख सीमा, निजजन पोषन करन भजौं।
'नन्ददास' प्रभु प्रकट भए दोउ, श्री विट्ठलेश गिरिधरन भजौं॥ पदावली ६

२. श्रीगुरु चरन सरोज मनावौं। गिरी-गोबर्धन-लीला गावौं।
न० ग्र०, गोवर्द्धनलीला, पृष्ठ १६७

३. नमो नमो आनन्दघन, सुन्दर नन्दकुमार।
रसमय, रसकारन, रसिक जग जाके आधार॥ न० ग्र०रसमंजरी १

४. जो गिरि रुचै तो बसौ श्री गोवर्धन, ग्राम रुचै तो बसौ नन्दग्राम।
नगर रुचै तो बसौ मधुपुरी, सोभा सागर अति अभिराम॥
सरिता रुचै तो बसौ श्री यमुना तट, सफल मनोरथ पूरन काम।
'नन्ददास' कानन रुचै तो बसो भूमि बृन्दावन धाम॥ पदावली २२

५. नँदगाँउ नीको लागत री।
प्रात समैं दधि मथत ग्वालिनी, बिपुल मधुर धुनि गाजत री॥ पदावली २१

पर उन्होंने अपने जीवन का पर्याप्त समय व्यतीत किया। यहाँ के निवास को उन्होंने हृदय को प्रसन्न करनेवाला और भगवत्कृपा का फल बताया है। यमुना-स्तुतिपरक पदों से भी इसी बात की पुष्टि होती है। यमुना ने नन्ददास की सभी मनोकामनाएँ पूर्ण की—अतः वह उन्ही में अपना मन लगाते हैं।[1]

४. श्रीकृष्ण-भक्ति के अतिरिक्त नन्ददास के कुछ पदों में इस प्रकार का संकेत भी मिलता है कि कृष्ण-भक्त होते हुए नन्ददास के हृदय में राम की भक्ति कम नहीं थी। कही-कही उन्होंने राम और कृष्ण—दोनों का इष्ट रूप मे वर्णन किया है। यह उनके उदार-हृदय का परिचायक है। उनके अनुसार राम-कृष्ण वास्तव में एक हैं और लीला के लिए इन्होंने भिन्न-भिन्न अवतार धारण किये हैं।[2] कुछ पदों में इसी प्रकार रामभक्त हनुमान का भी स्मरण किया गया है।[3] वैसे इस प्रकार के पद नन्ददास की सामान्य वैष्णव भावना का सकेत करते हैं और संभवतः पुष्टिमार्ग में आने से पूर्व ही इनकी रचना हुई हो।

५. मित्र सम्बन्धी संकेत देनेवाली नन्ददास की कई उक्तियाँ हैं जिनके अनुसार इन्होंने रासपंचाध्यायी,[4] रसमंजरी[5] और दशमस्कन्ध भाषा[6] की रचना अपने एक परम रसिक मित्र की इच्छा पर की थी। इसी प्रकार अनेकार्थ भाषा[7] और नाममाला[8] के

---

१. ताते श्री जमुना, जमुना जू गावौं।
सेस सहस मुख निसि-दिन गावत पार नहिं पावत ताहि पावौं॥
सकल सुख देन हार ताते करौं उच्चार कहत हौं वार-वार जिनि भुलावौं।
'नन्ददास' की आस जमुने पूरन करी ताते घरी-घरी चित्त लाओं॥ पदावली १५

२. रामकृष्ण कहिए उठि भोर।
ये अवधेस धनुष कर धारें, ए ब्रज-जीवन माखनचोर॥
उनके छत्र, चँवर, सिंहासन, भरत, सत्रुघ्न, लछमन जोर।
इनके लकुट, मुकुट, पीताम्बर, नित गायन संग नँदकिसोर॥
उन सागर में सिला तराई, इन राख्यौ गिरि नख की कोर।
'नंददास' प्रभु सब तजि भजियै, जैसे निरतत चँद-चकोर॥ पदावली २

३. सिन्धु पार पहुँच्यो पवनपूत दूत श्री रघुनाथ को।
छुट्यो जानो धनुख तें सर परम सुभट हाथ को॥ पदावली २०

४. परम रसिक इक मीत मोहि तिन आज्ञा दीन्हो।
ताते मैं यह कथा जथामति भाषा कीन्हौं॥ रा० पं० १-१६

५. एक मीत हम सों अस गुन्यो। मैं नाइका-भेद नहिं सुन्यो॥ न० ग्रं०, पृष्ठ १२६

६. परम विचित्र मित्र इक रहै। कृष्ण-चरित्र सुन्यो सो चहै। वही, पृष्ठ १८९

७. उचरि सकत नहीं संस्कृत, अर्थ ज्ञान असमर्थ।
तिन हित 'नंद' सुमति जथा, भाषा किये सुअर्थ॥ दोहा ३

८. उचरि सकत नहि संस्कृत, जान्यो चाहत नाम।
तिन हित 'नंद' सुमति जथा, रचत नाम के दाम॥ दोहा २

रचने का भी कारण स्पस्ट किया गया है। नन्ददास के परम रसिक मित्र के सम्बन्ध में विद्वानो ने अनेक अनुमान लगाये है। इसी सन्दर्भ में रूपमंजरी की नायिका के रूप मे रसिक मित्र और सखी इन्दुमती के रूप में नन्ददास की चर्चा की गई है। किन्तु यह केवल अनुमान है। इसे तथ्य नही कहा जा सकता।

नन्ददास की रचनाओं में प्राप्त होने वाले जीवन-सम्बन्धी उक्त स्पष्ट उल्लेखों के अतिरिक्त रचनाओं के विषय और कुछ उक्तियों के आधार पर अनेक अनुमान भी लगाये जा सकते हैं।

(१) नन्ददास ने गुसाईं विट्ठलनाथ की वन्दना करते हुए एक स्थल पर उन्हें 'रुक्मिनी नाथ' और 'पदमावती प्रानपति' कहकर सम्बोन्धित किया है।[1] इसी पद मे गु० विट्ठलनाथ को 'नित्त गोकुल विहारी' कहकर पुकारा गया है। अन्य पदों मे गु० विट्ठलनाथ के लिए 'श्री गोकुल जुग-जुग राज करौ'—जैसे वाक्यों का प्रयोग किया गया है।[2] इन संकेतों के आधार पर दो बातें अनुमानित की गई हैं—(क) नन्ददास ने गु० विट्ठलनाथ को जिस समय गुरु के रूप में स्वीकार किया उस समय उनका दूसरा विवाह हो चुका था और (ख) नन्ददास के इस पद गायन के समय गु० विट्ठलनाथ स्थिर रूप से अड़ैल छोड़कर ब्रज वास करते हुए गोकुल में निवास कर रहे थे। उक्त दोनों बातों का सम्बन्ध क्रमश: वि० सं० १६२० और वि० सं० १६२३ से है। अत: यह अनुमान किया जाता है कि नन्ददास का गुरु-स्तुति रचना-काल विक्रमी सं० १६२३ के आसपास रहा होगा और यही अथवा इससे कुछ ही पूर्व का समय नन्ददास की दीक्षा का समय स्वीकारा जा सकता है।

(२) नन्ददास ने एक स्थल पर गु० विट्ठलनाथ की कृपा से यमुना, वृन्दावन और वहाँ की विभिन्न लीलाओं के दर्शन की बात कही है।[3] इसी प्रकार का कृपा-संकेत यमुना-स्तुति में भी उपलब्ध होता है और उसके साथ ही लौकिक बातों के त्याग का भी संकेत मिलता है।[4] इन उक्तियों के आधार पर अनुमान लगाया जाता है कि नन्ददास

---

१. जयति रुक्मिनी-नाथ पदमावती,
प्रानपति विप्र-कुल-छत्र आनंदकारी।
... ...
जयति सकल-तीरथ फलित नाम सुमिरन मात्र,
वास वृज नित्त गोकुल बिहारी ॥ पदावली ७

२. पदावली ११ और १३

३. जमुना-पुलिन, सुभग-वृन्दावन, नवल-लाल गोबरधन-धारी।
नवल निकुंज, नवल कुसुमित-दल, नवल-परम वृषभानु-दुलारी ॥
नवलदास, नव-नव छवि क्रीड़त नवल बिलास करत सुखकारी।
नवल-श्रीविट्ठलनाथ कृपा बलि, 'नंददास' निरखत बलिहारी ॥ पदावली ४८

४. भाग, सुहाग श्री जमुना जू देई।
बात लौकिक तजौं, पुष्टि जमुना (जू) भजौं, लाल गिरिधरन बर तब पिलैई ॥

का निवासस्थान ब्रज से कही बाहर था। उनका गोकुल आना चाहे किसी कारण से हुआ हो किन्तु उनका वहां स्थिर वास गु० विट्ठलनाथ की कृपा से हुआ होगा। और यहाँ आने पर उन्होंने लौकिक विषयों का सर्वथा त्याग कर दिया। गु० विट्ठलनाथ के अड़ैल से गोकुल आने और नन्ददास पर उनकी कृपा की बात पर ध्यान रखते हुए यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि नन्ददास की भेंट गु० विट्ठलनाथ के गोकुल आते समय रास्ते मे ही कही हुई होगी और वे उन्हें अपने साथ ही गोकुल ले आये होंगे। अतः इस घटना का अनुमानित समय भी वि० सं० १६२३ ही माना जाना चाहिए। दूसरी बात यह है कि दीक्षा के समय नन्ददास का सम्बन्ध लौकिक विषयों से रहा होगा—सम्भवतः वे गृहस्थी हों। किन्तु दीक्षा के बाद और ब्रजवास ले लेने पर सांसारिक विषयों अथवा व्यक्तियों से उनका कोई सम्बन्ध नही रहा। इससे भी यह संकेत मिलता है कि ब्रज में उनके सम्बन्धियो का वास नहीं था। जहाँ कहीं भी था—उन्हें छोड़कर नन्ददास यहाँ आये थे। नन्ददास गृहस्थी थे और गृहस्थ का उन्होंने त्याग किया इसका आभास सिद्धान्त पचाध्यायी की उन पंक्तियों से भी मिलता है जिनमें कवि ने कहा है कि स्त्री-पुत्र-पति आदि से सुख की प्राप्ति नही होती। उनका साथ केवल रोग-क्लेश को बढ़ाने वाला है।[1]

(३) सांसारिक विरति का भाव अनेकार्थ भाषा के अनेक दोहों में मिल जाता है। यहाँ उन्होंने सांसारिक प्रलोभन[2], विषय[3], आलस्य[4], छल-कपट[5] आदि के त्याग की बात कही है। यौवनावस्था का भी उल्लेख किया है।[6] वस्तुतः यह एक सामान्य-सी बात है और इसे आत्म-सम्बोधन के रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है। कवि अपने को यौवन के विकारों से विरत होने के लिए कह रहा हो। इन उक्तियों से यह अनुमान लगाया जाना स्वाभाविक है कि कवि ने विरक्ति की बात साधना की आरम्भिक अवस्था मे ही कही होगी। अन्यथा विरति की चर्चा नन्ददास की रचनाओं में विरल है। प्रेमा-भक्ति के परिपुष्ट हो जाने पर नन्ददास की रचनाओं में केवल रास-विलास या प्रेम के संयोग-वियोग का वर्णन ही उपलब्ध होता है। अतः ये रचनाएँ आरम्भिक काल की रचनाएँ मानी जा सकती हैं और उस समय की नन्ददास की मानसिक अवस्था

भगवदीन संग करि, बात उनकी लै सदाँ, सानिधि इहि देति भेई।
'नंददास' जापै कृपा श्रीवल्लभ करैं, ताकों श्रीजमुना जू सरबस जो दई॥
पदावली १६

१. दार गार सुत पति इन करि (कहो) कवन आहि सुख।
बढै रोग सम दिन दिन छिन छिन देहि महा दुख॥ सि० प० ५०
२. कं कंचन ते प्रीति तजि, सदा कहो हरि-नाम। अ० भा० १८
३. कर विष जैसे तजि विषय, भजि हरि अमीनिधान। वही २०
४. अल अलस तजि, भजो मनोहर श्याम। वही २८
५. कल्प कपट तजि हरि भजो, कल्पवृक्ष सम सोय। वही १९
६. वयस जु यौवन जात है, भजि लै मदनगोपाल॥ वही २६

का अच्छा परिचय इनसे प्राप्त होता है। बहुत सम्भव है नन्ददास की उस समय यौवनावस्था रही हो। नन्ददास की सभी रचनाओं से यह बात सिद्ध होती है कि वे यौवन के कवि हैं। इनमें वही उल्लास-उमंग प्राप्त होता है जो युवावस्था में प्राप्त होता है तथा साथ ही उनकी रचनाएँ युवा-कालीन क्रीड़ाओं और भावों का चित्र विशेष रूप में प्रस्तुत करती है।

इन अनुमानों के अतिरिक्त नन्ददास की रचनाओं से उनके गायक, रसिक और प्रेमी होने के भी संकेत मिलते हैं। 'रूपमंजरी' उनकी सहचरी रूप से उपासना का भी संकेत करती है। हमारा विचार है कि उनकी इस उपासना के रूप का विस्तृत परिचय रसिक मित्र के सम्बन्ध में किये गए विभिन्न अनुमानों पर अधिक प्रकाश डालने में सहायक हो सकेगा।

ऊपर कहा जा चुका है कि नन्ददास ने अनेक ग्रंथों में यह उक्ति दोहराई है कि मैंने अपने 'एक रसिक मित्र' के कहने से यह रचना प्रस्तुत की है। उनका यह रसिक मित्र कौन था—यह विभिन्न विद्वानों के अनुमान का विषय बना है। नन्ददास की वार्त्ता में 'रूपमंजरी' के नन्ददास की मित्र होने के संकेत मिलते है।[1] सम्भवतः इसी संकेत को ग्रहण कर और रूपमंजरी तथा सहचरी (इन्दुमती) रूप नन्ददास को स्वीकृत सत्य स्वीकार करते हुए डॉ० दीनदयालु गुप्त[2] और बाबू ब्रजरत्नदास[3] ने 'रूपमंजरी' को ही नन्ददास की परम मित्र स्वीकार किया है। डॉ० दीनदयालु गुप्त रूपमजरी के ऐतिहासिक पात्र होने में की गई संभावना में भी विश्वास करते हैं। उनके अनुसार रूपमंजरी का लोभी ब्राह्मण के कारण एक अनुपयुक्त पात्र को विवाहित हो जाने की घटना कवि की कल्पना नही हो सकती—उसमें अकबर को विवाहिता हिन्दू राजा की पुत्री वाली कहानी कुछ अंश में समाविष्ट है।[4] यहाँ कहानी को कुछ समय के लिए छोड़ भी दिया जाये तो यह बात तो सिद्ध हो जाती है कि डॉ० गुप्त के अनुमान का बहुत कुछ आधार नन्ददास की वार्त्ता है। 'रूपमंजरी' कौन थी, इसको यदि हम एक क्षण के लिए भुला दें तो भी इस बात से तो सभी विद्वान् सहमत है कि इन्दुमती के रूप में नन्ददास ने अपने आपको प्रस्तुत किया है। वस्तुतः इस आशय की पुष्टि नन्ददास की कुछ उक्तियों से हो जाती है। रूपमंजरी में श्रीकृष्ण-मिलन के दो मार्गों का उल्लेख करने के बाद रूपमार्ग की चर्चा करते हुए कवि कहता है—

इंदुमती मतिमंद पें अवर नहिन निबहंति।
नागर नगधर कुंवर पग इहि मग छुट्यो चहंति ॥[5]

---

१. गोवर्धननाथजी के प्राकट्य की वार्त्ता, पृष्ठ ३६ तथा २५२ वैष्णवन की वार्त्ता, पृष्ठ ४६१
२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ १०१
३. न० ग्र०, पृष्ठ १३
४. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ७६४
५. रूपमंजरी, दोहा २२

ये पंक्तियाँ उस समय की है जबकि इन्दुमती का पाठक से कोई परिचय नही है। वह कवि की ही वात सुन रहा है। अतः इन्दुमती का नाम सुनते ही चौंकता है। इसके वाद की पंक्तियाँ फिर कवि का कथन है। और जब कवि यह कह देता है कि मैं वही सुना रहा हूँ जो मेरे 'उर-अंतर' में है तो पाठक समझ जाता है कि उक्त दोहे को कवि की उक्ति ही स्वीकार करना चाहिए। आगे कवि नायिका के रूप-सौन्दर्य का वर्णन करने मे प्रस्तुत होता है और अन्त में कह देता है—

रूपमंजरी छवि कहन, इंदुमती मति कौन।
ज्यों निर्मल निसिनाथ कौं, हाथ पसारै वौन ॥[1]

यहाँ पाठक समझ जाता है कि कवि ने अपना तादात्म्य इंदुमती मे किया हुआ है। अतः नन्ददास के मित्र के रूप मे रूपमंजरी का अनुमान लगाने के लिए इससे भी वल मिलता है। यह तर्क अधिक अस्वाभाविक नही है कि नन्ददास ने जब अपने को एक पात्र के रूप में प्रस्तुत किया है तो यह सत्य ही होना चाहिए। और फिर जब वार्त्ताकार ने इसे स्वीकार किया है तो दूसरा पात्र भी सत्य ही होगा। वार्त्ताकार की सत्यता के सम्वन्ध में हम डॉ० उप्रेती से सहमत हैं कि वार्त्ता-साहित्य का मात्र उद्देश्य साम्प्रदायिक महत्त्व को प्रकट करना और स्थापित करना है। अतः इस आशय से घटनाओं को जोड़ा-तोड़ा गया है। और वहुत सम्भव है कि रूपमंजरी की भी इसी उद्देश्य से नन्ददास की रचना के अनुरूप मित्र के रूप मे कल्पना कर ली गई हो।[2] अतः वार्त्ताकार पर इन कथाओ के लिए अधिक निर्भर करना वुद्धिमत्ता नहीं है।

परम मित्र के अनुमान मे एक अन्य नाम श्री वियोगी हरि द्वारा सुझाया गया है। उनके अनुसार विट्ठलनाथजी की शिष्या गंगावाई को नन्ददास की मित्र मानना चाहिए।[3] इस प्रकार के अनुमान का कारण उन्होंने अधिक स्पष्ट नहीं किया पर इस कारण को नन्ददास के काव्य और गंगावाई की रचनाओं में ढूँढा जा सकता है। वस्तुतः नन्ददास और गंगावाई—दोनो ही गुसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य थे। और वार्त्ता-साहित्य के अनुसार गुसाईं विट्ठलनाथ गंगावाई को उसकी भक्ति एवं उपासना के कारण विशेष आदर देते थे। अतः नन्ददास का यदि कोई सम्पर्क गंगावाई से रहा भी हो तो आश्चर्य नही। नन्ददास के विट्ठल-स्तुतिपरक पद इस वात की पुष्टि करते हुए प्रतीत होते हैं। गंगावाई ने जितने भी पद रचे हैं उनमें 'श्री विट्ठल गिरिधरन' की छाप दी गई है[4]—और यह उनकी गुरु-भक्ति का परिचायक है। नन्ददास के गुरु-स्तुति वाले पदो में भी 'श्री विट्ठल गिरिधरन'—यह शब्दावली आ जाती है। इस प्रकार का साम्य यद्यपि दो-चार पदों में ही है किन्तु अनुमान के लिए अवसर प्रदान कर सकता है। वैसे तो स्पष्ट

---

१. रूपमंजरी, दोहा १५०
२. नन्ददास, पृष्ठ ६
३. व्रजमाधुरी सार, पृष्ठ ५० की पादटिप्पणी।
४. श्री विट्ठल गिरिधरनलाल सों नवल नवल रस भीजे। पुष्टिमार्गीय पदसंग्रह, प्र० भा०, पृष्ठ ४७४

है कि नन्ददास का आशय यहाँ श्री विट्ठलनाथ और गिरिधर (श्रीकृष्ण) में ऐक्य स्थापित करना रहा है । पर सम्भावना के रूप में यह बात कही जा सकती है । यद्यपि इस तर्क में, जैसाकि हमने स्पष्ट कर दिया है कोई सार प्रतीत नहीं होता । फिर भी यह कहना पड़ता है कि नन्ददास के मित्र रूप में रूपमंजरी अथवा गंगाबाई का अनुमान लगाते समय विद्वानों ने उनकी रसिक वृत्ति का अनुचित लाभ उठाया है ।

डॉ० प्रेमनारायण टंडन ने इस प्रकार के अनुमानों पर पूर्णविराम लगाते हुए इसे एक परिपाटीमात्र माना है । उनके विचार में 'ग्रन्थ-रचना की यह एक परिपाटी-मात्र जान पड़ती है जिसका निर्वाह करते हुए नन्ददास ने अनेक ग्रन्थों की रचना मित्र या मित्रों के आग्रह पर करने का उल्लेख किया है। इस परिपाटी के मूल में वही भावना समझनी चाहिए जिससे प्रेरित होकर आज के लेखक अनेक अवसरों पर अपनी ख्याति या निजी प्रचार के लिए किये गए आयोजनों का कारण 'अनेक मित्रो का आग्रह' बता दिया करते हैं ।"[1] यहाँ कवि का आशय चाहे कुछ भी रहा हो किन्तु 'परिपाटी' शब्द के प्रयोग से जो भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है—उसकी ओर डॉ० उप्रेती ने निर्देश कर दिया है । डॉ० उप्रेती ने स्वय इस विषय पर विस्तार से विचार किया है । विभिन्न रचनाओं मे सम्बोधन के रूप और कथित विषय को लेकर उन्होने यह सिद्ध किया है कि "नन्ददास के ग्रन्थों में मित्र का उल्लेख कवि कल्पना प्रसूत है और उनका समावेश रचना का कारण देने के प्रयोजन के फलस्वरूप हुआ है ।"[2] डॉ० उप्रेती के इस निष्कर्ष से हम सहमत है । हमारा भी विचार यह है कि परम मित्र के आग्रह पर ग्रन्थ रचना की बात केवल कवि की निजी कल्पना है । उसने अपनी रचनाओं के लिए इस नये ढंग की उद्भावना की है । अतः किसी परम मित्र का अनुमान लगाना हमें केवल तथ्य से दूर ही ले जायेगा ।[3] 'रूपमंजरी' नाम का अनुमान लगाने वालों का एक तर्क यह भी है कि मंजरी शब्द नन्ददास को अत्यधिक प्रिय है और इसीलिए उसे उन्होने अपनी अनेक रचनाओं के लिए स्वीकृत किया है । उनके अनुसार यह भी रूपमंजरी से उनकी घनिष्ठता को सूचित करता है। किन्तु इस तर्क का निराकरण करने के लिए हम नन्ददास की सहचरी भाव की उपासना की ओर निर्देश करना चाहेंगे ।

रूपमंजरी में नन्ददास ने अपने-आपको सहचरी के रूप मे प्रस्तुत किया है ।

---

१. रासपंचाध्यायी, भूमिका, पृष्ठ ६

२. नन्ददास, पृष्ठ १६

३. डॉ० उप्रेती द्वारा दिये गए एक तर्क की ओर हम यहाँ ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे । उन्होंने एक पंक्ति के आधार पर उषा को इन्दुमती की सखी होने की बात लिखी है । वास्तव में कवि का आशय यह बिल्कुल नहीं । यहाँ 'आली' शब्द का प्रयोग रूपमंजरी के लिए है न कि उषा के लिए । 'हुती' शब्द भूतकालिक क्रिया है जो सूचित करती है कि 'प्राचीनकाल में एक उषा थी' यह बात वह अपनी सखी रूपमंजरी को बता रही है । वस्तुतः यह शब्द का गलत सन्दर्भ में अर्थ लेने के कारण हुआ है । अस्तु !

वस्तुतः सखी-भाव अथवा गोपी-भाव की उपासना तत्कालीन मधुर उपासना का एक विशेष अङ्ग रही है। आचार्य वल्लभ ने भी इस प्रकार की उपासना की पुष्टि की है।[1] इसलिए नन्ददास में यदि ऐसी उपासना का रूप प्रतिफलित हुआ हो तो आश्चर्य नही है। मधुर-भाव की उपासना मे सखी का कर्त्तव्य राधा-कृष्ण की संयोग-लीला में योगदान देना है। और जिस समय यह लीला आरम्भ हो जाती है उस समय उसका कुञ्ज-रन्ध्रों से दर्शन कर आस्वादन करना उनकी उपासना का चरम फल है। किन्तु इस प्रकार का रस-लीला-दर्शन सभी सखियों के लिए सम्भव नहीं है। इसी आधार पर सखियों के दो वर्ग हैं—वहिरङ्गा और अन्तरङ्गा। रूपमंजरी में इन्दुमती अन्तरङ्गा सखी के रूप में चित्रित है। इसीलिए रूपमजरी उसे सभी रहस्य बता देती है। गौड़ीय सम्प्रदाय मे इस अन्तरङ्गा सखी के लिए प्रयुक्त शब्द 'मजरी' है। हमारा विचार है कि नन्ददास के तीनों मजरी-ग्रन्थ मूलतः रस-लीला के स्वरूप को ही स्पष्ट करने वाले हैं। अतः इन तीनो की रचना एक साथ हुई है और इसी आधार पर तीनों का नाम मंजरी दिया गया है।[2] इस विचार के विरोध मे दो तर्क दिये जा सकते है—(१) गौड़ीय विचारधारा के प्रभाव का पुष्ट प्रमाण और (२) रस-मंजरी मधुर-रस परक ग्रन्थ होने की अपेक्षा नायक-नायिका भेद परक रचना अधिक है। प्रथम तर्क के बारे मे हमे केवल यही कहना है कि नन्ददास द्वारा प्रयुक्त 'उज्ज्वल-रस' शब्द का प्रयोग वल्लभ सम्प्रदाय का नहीं वरन् गौड़ीय आचार्यों की देन है। इसी प्रकार रस-मंजरी रस-लीला की अनुभूति में सहायक तत्त्वों का विश्लेषण प्रस्तुत करती है। इस प्रकार के काव्य की प्रेरणा बहुत सम्भव है कवि को गौड़ीय भक्त्याचार्यों से मिली हो। अतः उसने संक्षेप मे इसकी चर्चा कर दी है। किन्तु रचना के आरम्भ मे कवि ने ग्रन्थ के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए जो-कुछ भी कहा है वह उसकी मधुर रसानुकूलता ही सिद्ध करता है। इसके अतिरिक्त विरह-मंजरी मूलतः बारहमासो के माध्यम से काव्य-परम्परा का अनुसरण प्रतीत होता है। पर यहाँ भी कवि ने अपना रस-लीला विषयक मन्तव्य आरम्भ और अन्त—दोनों ही स्थलों पर स्पष्ट कर दिया है। अतः हमारे विचार मे 'मंजरी' शब्द का प्रयोग किसी मित्र-विशेष के नाम का सूचक न होकर केवल कवि की सहचरी भाव की उपासना का ही द्योतक है। और रचनाओ मे भी इस प्रकार की उपासना लक्षित होती है किन्तु रूपमंजरी से उसे जो स्पष्ट रूप प्राप्त होता है वह अन्यत्र नही है। और फिर ये तीनों मजरियाँ कवि की निजी कल्पना का परिणाम हैं। इनका भागवत से किसी भी दृष्टि से सम्बन्ध नहीं है।

बाह्य साक्ष्य—इस वर्ग की रचनाओ में निम्नलिखित रचनाएँ इस प्रकार की है जिनमें नन्ददास की जीवन-सामग्री-सम्बन्धित कुछ-न-कुछ सूत्र उपलब्ध हो जाते हैं—

१. नाभादास रचित भक्तमाल

---

१. द्रष्टव्य आगे अध्याय ३

२. मंजरी भाव की उपासना के लिए द्रष्टव्य लेखक का शोधप्रबन्ध "ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य मे माधुर्य भक्ति"

२. ध्रुवदास-कृत भक्त-नामावली
३. वार्त्ता-साहित्य
४. साहित्य-लहरी
५. मूल गुसाईं चरित—तुलसीदासजी के शिष्य बाबा वेणी माधवदास-कृत
६. प्राणेश-कृत 'अष्टसखामृत'
७. सोरों से प्राप्त सामग्री

भक्तमाल

उक्त सभी रचनाओं में से सर्वाधिक प्रामाणिक रचना नाभादास रचित 'भक्तमाल' है। यह वह प्राचीनतम ग्रन्थ है जिसमे पहली बार नन्ददास का उल्लेख हुआ है। नाभादासजी का वास्तविक नाम श्री नारायणदास था। ये जयपुर के अन्तर्गत गलता-निवासी अग्रदासजी के शिष्य थे और इनका रचनाकाल वि० सं० १६४० और सं० १६८० के बीच रहा है। नाभादासजी रचित भक्तमाल भक्त-समुदाय में सर्वाधिक समादृत और साहित्यिकों की दृष्टि में एक प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया जाता है। स्वयं रामभक्त होते हुए भी नाभादासजी ने अपने से पूर्ववर्ती और समकालीन सभी प्रसिद्ध भक्तों के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ लिखा है। यद्यपि भक्तमाल में भक्तों का महिमा-गान ही विशेष है किन्तु फिर भी इनके छप्पयों से भक्तों के स्वभाव, रचना-पद्धति, उपासना का स्वरूप और कुछ-कुछ जीवन-परिचय के भी संकेत मिल जाते हैं। इसलिए नाभादास-कृत भक्तमाल का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है।

'भक्तमाल' में नन्ददास नामधारी दो भक्तों का उल्लेख है। एक बरेली-निवासी और दूसरे रामपुर-निवासी। बरेली-निवासी नन्ददास के सम्बन्ध मे केवल एक पंक्ति कही गई है और उसमें निर्दिष्ट घटना की सङ्गति प्रसिद्ध कृष्णभक्त कवि नन्ददास के साथ किसी भी सूचना-स्रोत के आधार पर नहीं बिठाई जा सकती। अतः विवेच्य कवि नन्ददास को बरेली-निवासी नहीं माना जा सकता। जैसा कि सोरों से प्राप्त सामग्री के विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा कि नन्ददास का सम्बन्ध रामपुर से ही था। रामपुर-निवासी नन्ददास के सम्बन्ध में भक्तमाल में निम्न छप्पय उपलब्ध होता है—

लीला पद रस रीति ग्रन्थ रचना में नागर।
सरस उक्ति जुत जुक्ति भक्ति रस गान उजागर।
प्रचुर पयधि लौं सुजस रामपुर ग्राम निवासी
सकल सुकुल संवलित भक्त-पद-रेनु-उपासी॥
श्री चन्द्रहास-अग्रज सुहृद परम प्रेम पद में पगे।
श्री नन्ददास आनन्दनिधि रसिक सु प्रभु हित रंग मगे॥

उक्त छप्पय से नन्ददास के सम्बन्ध में निम्न बातों की सूचना प्राप्त होती है—

(१) नन्ददास रामपुर ग्राम के निवासी थे।
(२) वे शुक्ल आस्पदीय अथवा उच्च कुल के ब्राह्मण थे।
(३) नन्ददास भगवान् के रंग में रगे हुए रसिक थे और उच्च कुल के होने पर

भी भक्तों की चरण-रेणु के उपासक थे ।

(४) वे भक्ति रस का गान करने में परम निपुण थे — यद्यपि भगवान् की लीला के अतिरिक्त उन्होंने रस-रीति की भी कुछ रचनाएँ रचीं । वे सभी रचनाएँ उक्ति और भाव की दृष्टि से सरस हैं ।

(५) भक्त और कवि के रूप में उनकी प्रसिद्धि समुद्र पर्यन्त व्याप्त है ।

(६) वे चन्द्रहास के अग्रज सुहृद थे ।

स्पष्ट है कि नाभादासजी ने अपने छप्पय में नन्ददास के जीवन, उनकी भक्ति का स्वरूप एवं प्रेमी स्वभाव और प्रसिद्ध भक्त-कवि होने की सूचना दी है । उनके द्वारा दी गई अधिकांश सूचनाओं की पुष्टि अन्य स्रोतों से भी हो जाती है — जैसा कि आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायगा । पर नन्ददास के सम्बन्ध में कही गई 'चन्द्रहास-अग्रज-सुहृद' वाली उक्ति विद्वानों के लिए आज भी रहस्य बनी हुई है । इस उक्ति के अनेक अर्थ विद्वानों द्वारा किये गए हैं । श्री वियोगी हरि ने इस उक्ति के आधार पर नन्ददास को चन्द्रहास के बड़े भाई का मित्र कहा है ।[1] इस प्रकार से उस व्यक्ति का परिचय जो स्वयं अत्यधिक प्रसिद्ध है, कुछ विचित्र-सा लगता है । चन्द्रहास यदि कोई प्रसिद्ध व्यक्ति रहे होते तो यह परिचय उपयुक्त कहा जा सकता था । पर साहित्य, राजनीति अथवा भक्ति के क्षेत्र में इस नाम के किसी व्यक्ति का उल्लेख नहीं मिलता । अतः यह अर्थ विद्वानों में स्वीकृत न हो सका । डॉ० दीनदयालु गुप्त ने नन्ददास को इस उक्ति के अनुसार चन्द्रहास का अग्रज और सुहृद् माना है ।[2] इस अर्थ में किसी प्रकार की खींचतान तो नहीं है पर फिर भी किसी प्रमाण के अभाव में इसे स्वीकार करने में आपत्ति तो हो ही सकती है । बाबू ब्रजरत्नदास ने चन्द्रहास को नन्ददास का प्रिय बड़ा भाई माना है ।[3] किन्तु इस अर्थ की भी पुष्टि किसी प्रमाण से नहीं हो पाती । कुछ विद्वान् चन्द्रहास को व्यक्तिवाचक न मानकर केवल सामान्य अर्थ का सूचक मानते हैं । इसी आधार पर श्री चन्द्रबली पाण्डेय ने नन्ददास को प्रफुल्ल प्रसन्नचित ब्राह्मण माना है ।[4] किन्तु इस अर्थ को अस्वीकार करते हुए डा० उप्रेती ने इस पंक्ति का अर्थ 'चन्द्रमा के प्रकाश की भाँति श्रेष्ठ सखा' अर्थात् अष्टसखाओं में उनका स्थान चन्द्रमा की भाँति श्रेष्ठ माना है ।[5] वस्तुतः इस अर्थ को स्वीकार करने के जितने भी कारण हैं उनका आधार अष्टछाप के कवियों का स्थान-निर्णय रहा है । हमारा इस विषय में इतना ही निवेदन है कि नाभादासजी ने अपनी रचना में कहीं भी भक्तों में, चाहे वे किसी सम्प्रदाय के क्यों न हों, ऐसा तारतमिक स्थान-निर्धारण नहीं किया है। और न ही यह उनका लक्ष्य था। अतः नाभादासजी पर यह विद्वानों की निजी भावना का आरोप ही कहा जायेगा ।

---

१. ब्रजमाधुरीसार, पृष्ठ ४६

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ११८

३. न० ग्र०, भूमिका, पृष्ठ ६

४. तुलसी की जीवन-भूमि, पृष्ठ १४१

५. नन्ददास, पृष्ठ २१

विद्वान् आलोचक ने 'सूर-सूर' वाली उक्ति के अनुसार ऐसा अनुमानित अर्थ कर दिया है। किन्तु जब तक कोई प्रामाणिक अर्थ सामने नहीं आता तब तक ये अनुमानित अर्थों की परम्परा चलती ही रहेगी। हमें व्यक्तिगत रूप से डॉ० गुप्त अथवा बाबू ब्रजरत्नदास द्वारा स्वीकृत अर्थ ही अधिक सहज प्रतीत होता है और डॉ० उप्रेती के अर्थ में तो दूरारूढ़ कल्पना का रङ्ग कुछ अधिक मिल गया है।

नन्ददास के सम्बन्ध में सूचना देने वाली अन्य रचना ध्रुवदास कृत 'भक्तनामावली' है। ध्रुवदास राधावल्लभ सम्प्रदाय प्रवर्तक गोस्वामी हितहरिवंश के शिष्य थे। इन्होंने भी नाभादास के समान प्रसिद्ध पूर्ववर्ती और समकालीन भक्तों एवं उनकी भक्ति का संक्षिप्त परिचय इस रचना में दिया है। इसका रचनाकाल यद्यपि कवि ने नहीं दिया किन्तु कुछ रचनाओं से वि० सं० १६८० और वि० सं० १७०० उनका कविता-काल ज्ञात होता है। इसलिए कहा जा सकता है कि नन्ददास के कुछ समय बाद ही इनका प्रादुर्भाव हुआ होगा। अतः नन्ददास के सम्बन्ध में दी गई ध्रुवदास की सूचना विश्वसनीय ही मानी जायगी।

भक्तनामावली के दोहों में नन्ददास का परिचय इस प्रकार दिया गया है[1]—

१. नन्ददास एक रसिक व्यक्ति थे—कृष्ण-प्रेम में मत्त।

२. नन्ददास की रचना प्रेम से सिक्त है, श्रोता-हृदय को चमत्कृत करने वाली है। वह सरस और सुन्दर है।

स्पष्ट है कि भक्तनामावली के दोहों में नन्ददास के जन्मस्थान, जाति आदि जीवन-परिचय सम्बन्धी प्रसङ्गों की चर्चा नहीं है। इन दोहों से केवल उनके कृष्णभक्त होने और प्रेमी कवि होने का परिचय प्राप्त होता है।

गोस्वामी गोकुलनाथ द्वारा लिखी गई कहे जाने वाली '२५२ वैष्णवन की वार्त्ता' नन्ददासजी के जीवन पर प्रकाश डालने वाला अन्य ग्रंथ है। यह एक साम्प्रदायिक ग्रन्थ है—क्योंकि इसमें गु० विट्ठलनाथ के शिष्यों की वार्त्ता को प्रस्तुत करते हुए गुसाईंजी के प्रति उनकी भक्ति-भावना और श्रीनाथजी के प्रति भक्ति-भावना पर विशेष ध्यान दिया गया है। वार्त्ता के इस साम्प्रदायिक रङ्ग और प्राप्त विभिन्न प्रतियों में भाषा और प्रसङ्गगत भिन्नता होने के कारण हिन्दी साहित्य के अनेक विद्वानों ने इसे अप्रामाणिक और कोरी कल्पना-मात्र माना है। किन्तु फिर भी ऐसे विद्वानों की संख्या कम नहीं है जिन्होंने ८४ और २५२ वैष्णवन की वार्त्ताओं के आधार पर ही अष्टछाप कवियों का जीवनवृत्त तैयार किया है।

---

१. नन्ददास जो कछु कह्यो राग-रंग सों पागि।
अच्छर सरस सनेहमय सुनत स्रवन उठि जागि॥
रमन दसा अद्भुत हुती करत कवित्त सुढार।
बात प्रेम की सुनत ही छुटत नैन जलधार॥
बावरो सो रस में फिरै खोजत नेह की बात।
आछे रस के बचन सुनि बेगि बिवस है जात॥ दोहा, ७७-७९

वार्ता-साहित्य की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विशेष खोज करने वाले विद्वानों की यह मान्यता तो स्थिर हो ही गई है कि २५२ वैष्णवन की वार्ता की अपेक्षा ८४ वैष्णवन की वार्ता अधिक प्रामाणिक है। इसका कारण यह है कि २५२ वैष्णवन की वार्ता की कोई भी प्राचीन हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं होती। जो भी उपलब्ध हैं वह बहुत बाद की हैं और कई स्थानों पर से अधूरी हैं। इन्हें वल्लभ-कुल के लोगों से परामर्श करके पूरा कर लिया गया है। किन्तु यह बात सब मानते आये हैं कि गोकुलनाथ इन वार्ताओं के वार्ताकार हैं, लिपिकार नहीं। उन्होंने अपने पिता विट्ठलनाथजी तथा अन्य समकालीन सम्प्रदायी लोगों से गुसाईंजी के शिष्यों के चरित्र, भक्ति-भावना और जीवन-चर्या आदि के सम्बन्ध में जो कुछ सुना वही अपने शिष्यों को समय-समय पर सुनाते रहे। कालान्तर में उन्हीं शिष्यों ने इनको लिपिबद्ध किया। ऐसी दशा में भाषागत और विषयगत भिन्नता का आ जाना स्वाभाविक ही था। किन्तु वार्ता-साहित्य और तत्सम्बन्धी वल्लभ सम्प्रदाय की अन्य सामग्री का आधार लेकर अष्टछाप-कवियों के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की जा सकती है। इस वार्ता-साहित्य से नन्ददास के सम्बन्ध मे निम्न बातें ज्ञात होती हैं—

१. नन्ददास तुलसीदास के छोटे भाई थे और जाति के ब्राह्मण थे। कुछ प्रतियो में इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण कहा गया है।
२. गुसाईं विट्ठलनाथ का शिष्यभाव स्वीकार करने से पहले नन्ददास गोकुल या गोवर्द्धन पर नही, कही अन्यत्र रहते थे।
३. गुसाईंजी की शरण मे आने से पूर्व नन्ददास विषयों में आसक्त एवं लौकिक सौन्दर्य के उपासक थे। किन्तु गुसाईंजी की कृपा से वह लौकिक प्रेम कृष्णभक्ति मे परिणत हो गया।
४. कुछ समय तक नन्ददास सूरदास के साथ पारसौली मे रहे।
५. नन्ददास एक गायक और कवि थे। श्रीनाथजी की कीर्तन सेवा में वे पर्याप्त समय तक रहे। वैसे सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व भी इनके यमुना स्तुति सम्बन्धी पद उनके गायक और कवि होने का परिचय देते हैं। उन्होने बाल-लीला के अनेक पद रचे।
६. वल्लभ सम्प्रदाय में आने से पूर्व कई प्रतियो के अनुसार नन्ददास भी तुलसीदास के समान रामभक्त थे और स्वामी रामानन्द के शिष्य थे।
७. नन्ददास ने सम्पूर्ण भागवत का भाषानुवाद किया। किन्तु गुरु की आज्ञा से दशम स्कन्ध के रासपंचाध्यायी प्रसङ्ग तक अपने पास रखकर शेष को यमुना में बहा दिया।
८. रामभक्त तुलसीदास ने नन्ददास को काशी से एक पत्र लिखा जिसमें उन्हे रामभक्ति को स्वीकार करने पर बल दिया।
९. तुलसीदास अपने छोटे भाई नन्ददास से मिलने के लिए व्रज में आये।

इन प्रसङ्गों के अतिरिक्त 'रूपमंजरी की वार्ता' वाले प्रसङ्ग मे भी नन्ददास की चर्चा आई है जिससे यह स्पष्ट होता है कि नन्ददास की कृष्ण-भक्ति न रूपमंजरी से

परम मैत्री थी और इनसे मिलने के लिए वह मानसी गंगा के तट पर गये थे। रूपमंजरी से नन्ददास की मैत्री की पुष्टि 'गोवर्द्धननाथ प्राकट्य वार्त्ता' से भी हो जाती है। अष्ट-छाप के विभिन्न कवियों के नाम पर लिखे गए प्रसङ्गों वाली इस रचना में नन्ददास के सम्बन्ध में यह भी लिखा गया है कि उन्होंने रसमंजरी की रचना भी रूपमंजरी के निमित्त की। रूपमंजरी काव्य की नायिका से भी इस मैत्री का अनुमान लगाया जाता है।

वार्त्ता-साहित्य के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले गए है—उनमें से अधिकांश सत्य की सीमा से बाहर ही रहते हैं। पहले इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि वार्त्ता साहित्य का उद्देश्य प्रामाणिक जीवनी प्रस्तुत करना नहीं रहा है—उसकी रचना का उद्देश्य केवल साम्प्रदायिक महत्त्व का प्रदर्शन करना रहा है। इस दृष्टि से चरित्र की असङ्गति की ओर भी उन्होंने ध्यान नहीं दिया है। कहीं-कहीं तो साम्प्रदायिकता का रङ्ग इतना गहरा है कि दूसरे सम्प्रदाय के व्यक्तियों के चरित्र को—चाहे वे कितने ही प्रतिष्ठित क्यों न हों—उपहासास्पद बना दिया है। वस्तुतः ये सभी बातें वार्त्ता-साहित्य के प्रति पाठक के मन में सुरुचि उत्पन्न नहीं करतीं। कुछ स्थलों पर तो चरित्र में वदतो-व्याघात है। नन्ददास के चरित्र सम्बन्धी अनेक प्रसङ्गों में इस प्रकार की असङ्गति दिखाई गई है।

नन्ददास को वार्त्ताकार ने बहुत विद्वान् बताया है किन्तु फिर भी उनका व्यवहार एक साधारण व्यक्ति का-सा है। नाच-तमाशे का शौक उन्हें विशेष है— रूपासक्ति उनकी इतनी अधिक है कि सारा दिन भूखे रहकर भी वह रूप-लिप्सा मिटाने के लिए तत्पर रहते हैं। वस्तुतः यह सब नाच-तमाशे और रूपासक्ति विद्वान नन्ददास के अनुकूल नहीं है। स्वयं गु० विट्ठलनाथ उनके इस उज्ज्वल पक्ष को पहचानते हैं। पर फिर भी वार्त्ताकार ने उनका इतना पतित रूप प्रस्तुत किया। बहुत सम्भव है यह सब श्री विट्ठलनाथ जी के गौरव को बढ़ाने और सम्प्रदाय की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए किया गया हो। यदि नन्ददास को सर्वथा अनपढ माना जाता तो यह बात मान्य हो सकती थी। अन्य बात यह है कि गुसाईंजी को यहाँ तो सर्वज्ञ और देवी शक्ति से युक्त बताया गया है और अन्यत्र नन्ददास के सम्पूर्ण भाषा-भागवत लिखने के बारे में उन्हें कोई ज्ञान नहीं होता। ब्राह्मणों से सूचना पाकर उन्हें अत्यधिक आश्चर्य होता है। यहाँ गुसाईंजी का चरित्र केवल नन्ददास की आज्ञाकारिता सिद्ध करने के लिए विरोधी तत्वयुक्त बना दिया गया है।

तुलसीदास का व्रज-आगमन और श्रीकृष्ण के सम्मुख मस्तक न झुकाने वाला प्रसङ्ग शुद्ध साम्प्रदायिक है। तुलसीदास रामभक्त होते हुए भी अन्य भक्ति-सम्प्रदायों के विरोधी नहीं थे। उसकी समन्वय भावना का आधार यही उदारता थी। किन्तु वार्त्ताकार ने उनके इस महनीय चरित्र की सर्वथा उपेक्षा की है और तथ्य को इस रूप में प्रस्तुत किया है कि उसमें साम्प्रदायिकता की तीव्र गन्ध आने लगी है। वार्त्ताकार ने तुलसीदास के व्रजमाधुरी पर मुग्ध होने की बात भी लिखी है। किन्तु फिर भी उनके स्वभाव में जिस संकीर्णता का परिचय दिया गया है वह उनके चरित्र और व्यवहार—

दोनो के प्रतिकूल बैठती है। इसी प्रसङ्ग मे नन्ददास और तुलसीदास की परस्पर इष्ट विषयक चर्चा को भी लिया जा सकता है। नन्ददास ने अपने सम्पूर्ण काव्य में राम के प्रति कही भी उपेक्षा का भाव नही दिखाया है। फिर नन्ददास का श्रीकृष्ण को बहु-पत्नीव्रत और राम को एक भी पत्नी की रक्षा करने में असमर्थ बताना केवल राम के तिरस्कार को सूचित करता है और सच्चे भक्त का यह स्वभाव नही है। सच्चा भक्त तो अपनी आराधना-उपासना मे लीन रहता है—वह इस निन्दा-उपहास-तिरस्कार आदि के चक्र मे अपने को नही डालता और फिर नन्ददास ही ऐसा क्यों करने लगे थे। अतः यहाँ भी साम्प्रदायिक संकीर्णता नन्ददास की नहीं, वार्त्ताओं के लिपिकार की व्यक्त हुई है।

रूपमंजरी का प्रसङ्ग तो चमत्कार का ही पोषक है। गुटका मुख में लेकर श्रीनाथजी के दर्शनों के लिए रूपमजरी का नित्यप्रति जाना और श्रीनाथ जी का रूप-मंजरी से रात्रि में बैठकर चौपड खेलना—ये सब घटनाएं मन का मनोरञ्जन करने वाली कथाएँ मात्र प्रतीत होती है। इनका वास्तविकता से किसी प्रकार का सम्बन्ध प्रतीत नही होता। ऐतिहासिक सत्य इनमें यही है कि नन्ददास की मृत्यु मानसी गङ्गा के तीर पर अकबर-बीरबल के समक्ष हुई। इसके अतिरिक्त नन्ददास द्वारा कीर्तन मे गाये गए 'निपट निकट' वाले पद को लेकर रूपमंजरी और नन्ददास की मृत्यु की बात अनोखी कल्पना है। वस्तुत. बाद में जो व्याख्या 'धर्म की गोपनीयता' के सम्बन्ध मे बीरबल द्वारा बतायी गई है—उसी को प्रस्तुत करना वार्त्ताकार का उद्देश्य है। और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उसने सम्पूर्ण प्रसङ्ग का ताना-बाना बुन दिया है।

ये सभी प्रसङ्ग वार्त्ताकार की निष्ठा के प्रति पाठक के मन मे सन्देह उत्पन्न करने वाले है। अतः वार्त्ता-साहित्य द्वारा प्राप्त निष्कर्षों का प्रयोग हमे अत्यधिक साव-धानी से करना चाहिए। बहुत-सी बाते हमें अपनी विषय-सामग्री के अनुकूल भी प्राप्त हो सकती हैं। ऐसे स्थल वहीं है जहां साम्प्रदायिक भावना के आरोपण की सम्भावना नही है।

सूरदास की साहित्य-लहरी के आधार पर भी नन्ददास के जीवन-सम्बन्धी कुछ तथ्य विद्वानो ने स्वीकार किये है। सूरदास की साहित्य-लहरी का यह पद इस सम्बन्ध मे उद्धृत किया जाता है।

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरी नंद को लिखि सुबल संवत् पेखि ॥
नंदनंदन मास है ते ही तृतीया वार।
नंदनंदन जनम ते है बान सुख आगार ॥
तृतीय ऋण सुकर्म योग विचारि सूर नवीन।
नंदनंदन दास हित साहित्य लहरी कीन ॥[1]

---

१. पद १०९

वस्तुतः यही पद सूरदास के काल-निर्धारण के लिए भी प्रस्तुत किया जाता है। विद्वानों ने साहित्य-लहरी की प्रामाणिकता के बारे में सन्देह व्यक्त किया है[1] और कुछ अन्य इसी पद को प्रक्षिप्त मानते हैं। वैसे भी यदि इस पद की प्रामाणिकता पर विश्वास कर लिया जाये तो गृहीत अर्थ में स्वाभाविकता प्रतीत नहीं होती। इस पद की अन्तिम पंक्ति 'नंदनंदनदास' का अर्थ 'नन्ददास' किया जाना कुछ दूर की कौड़ी लगता है। इस प्रकार के अर्थ करने वालों के सम्मुख वार्त्ताकार का यह कथन अवश्य रहा होगा कि नन्ददास सूरदास के साथ कुछ समय तक पारसोली रहे। यदि यह सत्य भी हो तो भी यह अनुमान करना कि नन्ददास की विद्वत्ता का घमण्ड समाप्त करने के लिए उन्होंने यह शब्द-क्रीड़ा की, सूरदास की प्रवृत्ति के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। इस पद की 'टेक' 'मुनि पुनि रसन के रस लेख' को लेकर सूरदास और नन्ददास के सम्पर्क का काल-निर्णय कर लिया गया है। विभिन्न विद्वानो ने अपने-अपने अर्थ के अनुसार यह संवत् १६०७, १६१७, १६२७ और १६०७ वि० सं० स्वीकार किया है। हमारे विचार से जैसा कि आगे स्पष्ट हो जायेगा नन्ददास के जीवन की विभिन्न घटनाओं को देखते हुए उक्त संवत् कही भी उपयुक्त प्रतीत नही होते। अतः साहित्य-लहरी का योग इस दृष्टि से नहीं के बराबर है।

गोस्वामी तुलसीदास के शिष्य बाबा बेनीमाधवदास रचित 'मूल गुसाईं चरित' यद्यपि तुलसीदास की जीवनी प्रस्तुत करने के उद्देश्य से लिखा गया ग्रन्थ है किन्तु उसमे नन्ददास सम्बन्धी तीन उल्लेख मिलते हैं—

१. नन्ददास तुलसीदास के गुरुभाई थे।
२. तुलसीदास और नन्ददास ने शेष सनातन से शिक्षा ग्रहण की थी।
३. नन्ददास कनौजिया कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे।[2]

विद्वानों ने 'मूल गुसाईं चरित' के इन उल्लेखों को मान्यता नही दी है। पहली और तीसरी बात के विरोध मे तो कई प्रमाण उपस्थित किये जा सकते है किन्तु हमारे विचार में यदि मूल गुसाईं चरित एक प्रामाणिक रचना सिद्ध हो जाये तो दूसरी बात को एकदम उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। वार्त्ताओ से नन्ददास के शिक्षागुरु के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलता। भक्तमाल मे उनके रामपुर निवासी होने के उल्लेख को लेकर यह स्वीकार किया जा सकता है कि बचपन में उनका सम्पर्क तुलसीदास से किसी न किसी अवस्था मे रहा होगा। अतः शेष सनातन से दोनों की साथ-साथ शिक्षा की सम्भावना को सर्वथा निराधार कल्पना नही कहा जा सकता।

महाप्रभु वल्लभाचार्य के अनुयायी और गुसाईं विट्ठलनाथ, गो० गोकुलनाथ तथा अष्टछापी कवियों के समकालीन वृन्दावन निवासी प्राणनाथ रचित 'अष्टसखामृत'

---

१. सूरदास, व्रजेश्वर वर्मा, पृष्ठ ११३
२. नन्ददास कनौजिया प्रेम मढ़े। जिन शेष सनातन तीर पढ़े॥
सिच्छा गुरु बन्धु भये तेहि ते। अति प्रेम सो आप मिले येहि ते॥

नामक ग्रंथ में भी नन्ददास के विषय मे निम्न बातें ज्ञात होती हैं[1]—

१. कृष्ण भक्त नन्ददास तुलसीदास के अनुज थे। और सनाढ्य ब्राह्मण थे।
२. अपने गुरु विट्ठलनाथ की कृपा से इन्हें विशेष वैभव प्राप्त हुआ—किन्तु वह सभी इन्होंने परमार्थ मे व्यय कर दिया।
३. कृष्णभक्त होने पर इन्होंने अपने गाँव रामपुर का नाम बदलकर श्यामपुर कर दिया। और वहाँ श्यामसरोवर का निर्माण किया।
४. नन्ददास विवाहित थे—'सूकर खेत' मे अपनी सभी गृह-सामग्री, पुत्र और पत्नी को अपने अनुज चन्द्रहास के हाथ सौंपकर वे ब्रजनिवासी हो गए।
५. भाषा मे भागवत की रचना इन्होंने की।
६. पुष्टि मार्गानुयायी नन्ददास का कृष्णप्रेम अपूर्व था।

इन बातों से नन्ददास के विवाहित जीवन पर ही विशेष प्रकाश पड़ता है—शेष बातें वार्त्ता साहित्य के समान हैं। रामपुर गाँव का नाम बदलकर श्यामपुर करने की बात द्वारा नन्ददास की कृष्ण भक्ति-भावना की ओर संकेत है। वस्तुतः इस रचना द्वारा प्रस्तुत की गई सामग्री का आधार वही रचनाएँ हैं जिनकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

नन्ददास के जीवन पर आंशिक प्रकाश डालने वाली कुछ हस्तलिखित सामग्री ऐटा जिले के सोरों नामक स्थान से प्राप्त हुई है। वस्तुतः इस सम्पूर्ण सामग्री का सम्बन्ध विशेष रूप से तुलसीदास के साथ ही है किन्तु कुछ चलते संकेत नन्ददास के सम्बन्ध मे दिये गए हैं। इस सामग्री से नन्ददास के कहे जाने वाले पुत्र कृष्णदास का नाम कई प्रकार से सम्बद्ध है। कुछ रचनाएँ स्वयं कृष्णदास द्वारा लिखी गई हैं और कुछ कृष्णदास के लिए लिखी गई कही जाती हैं। इनके अतिरिक्त तुलसीदास की पत्नी रत्नावली-कृत 'दोहा-रत्नावली' और मुरलीधर चतुर्वेदी रचित 'रत्नावली चरित' का

---

१. राम भगत तुलसी अनुज, नन्ददास ब्रज ख्यात।
दुज सनौढिया सुकुल कवि कृष्ण भगत अवदात॥
नन्ददास विट्ठल-कृपा बहु वित वैभव पाय।
खरच्यौ सब परमार्थ हित श्रीहरि भक्ति बढ़ाय॥
कर्यौ राम तें स्याम निज बदलि इष्ट अरु गाम।
रच्यौ स्याम सर बाछरू हरि बलदाऊ धाम॥
सौंपि अनुज चन्दहास कर सुत दारा धाम।
आए सूकर खेत तजि ब्रज बसि सेयौ स्याम॥
नन्ददास मुख-माधुरी बोलनि प्रान अनूप।
सुर नर मुनि का का चली जिन मोहे ब्रज भूप॥
रामायन भाषा बिरचि भ्राता करी प्रकास।
देखि रची श्री भागवत भाषा श्री नन्ददास॥
प्रान सनेही स्याम के नन्ददास बड़ भाग।
प्रति छन हरि सेवा निरत, पुष्टि पंथ अनुराग॥

उल्लेख किया जाता है। 'सूकरक्षेत्र माहात्म्य भाषा', 'वर्षफल' और 'वंशावली' कृष्णदास द्वारा लिखी गई रचनाएँ है। 'रामचरितमानस' की बालकाण्ड और अरण्यकाण्ड की प्रतियों की पुष्पिका नन्ददास-पुत्र कृष्णदास के लिए लिखी गई है।[1] इन रचनाओं के अतिरिक्त नन्ददास रचित भँवरगीत की भी एक हस्तलिखित प्रति इस स्थान से उपलब्ध हुई है। इसके लिपिकार ब्रजचन्द ने नन्ददास की वंशावली भी पुष्पिका में गिना दी है[2] जो अस्वाभाविक प्रतीत होती है। इन रचनाओं से नन्ददास के सम्बन्ध में जो संकेत प्राप्त होते हैं वे इस प्रकार है—

(१) नन्ददास और तुलसीदास चचेरे भाई थे। इनके पिता का नाम जीवाराम था और तुलसीदास के पिता आत्माराम थे। सच्चिदानन्द, परमानन्द, सनातन और पं० नारायण शुक्ल क्रम से उनके पूर्व पुरुष थे। नन्ददास और चन्द्रहास सगे भाई थे तथा नन्ददास के पुत्र का नाम कृष्णदास और चन्द्रहास के पुत्र का नाम ब्रजचन्द्र था। नन्ददास की पत्नी का नाम कमला था। इससे प्रकट है कि चन्द्रहास नन्ददास के भाई, कृष्णदास पुत्र, जीवाराम पिता और कमला पत्नी थी। नन्ददास की माता का नाम नहीं बताया गया।

(२) तुलसीदास और नन्ददास ने गुरु नृसिंह से साथ-साथ विद्या प्राप्त की थी।

(३) वे सनाढ्य ब्राह्मण थे।

(४) उनका निवास-स्थान सोरों के निकट स्थित रामपुर ग्राम था जिसका नाम बदलकर पीछे नन्ददास ने श्यामपुर कर दिया था।

(५) तुलसीदास का विवाह होने तक नन्ददास और चन्द्रहास सोरों—योगमार्ग में दादी के पास रहते थे और उनके विवाहोपरान्त दोनों अपनी माता के पास रामपुर आ गये।

(६) नन्ददास ने भाषा में भागवत और रासपंचाध्यायी की रचना की।

सोरों से प्राप्त सामग्री की विस्तृत आलोचना हमारा लक्ष्य नहीं है। अनेक विद्वान् अपना मत इस सम्बन्ध में व्यक्त कर चुके है।[3] पर इस विषय के अनावश्यक विस्तार में न जाते हुए भी यहाँ हम इतना अवश्य कहेंगे कि उक्त सभी रचनाओं द्वारा प्राप्त संकेत अत्यधिक गौण है—जिन्हे पढ़कर यही लगता है कि नन्ददास से अपरिचित किसी व्यक्ति ने केवल किंवदन्ती के आधार पर कृष्णदास से उनका पिता-पुत्र सम्बन्ध

---

१. इति श्री रामचरित्रमानसे सकल कलि कलुष विध्वंसने विमला···राग्य संपादिनी नाम १ सोपान समाप्तः। संवत् १६४३ शाके···१५०८···वासी नन्ददास पुत्र कृष्णदास हेत लिखी रघुनाथदास ने कासीपुरी में।

२. भ्रमरगीत संपूरनम्···त नन्ददास भ्राता तुलसीदास को स्यामसर वासी सोरों जो मध्ये लिषितं कृष्णदास शिष्य बालकृष्ण आज्ञानुसार गुरु कृष्णदास बेटा नन्ददास नाती जीवाराम के शुक्ल श्यामपुरी सनाढ्य ··॥

३. द्रष्टव्य, तुलसीदास डॉ० माताप्रसाद गुप्त और नन्ददास, डॉ० भवानीप्रसाद उप्रेती।

स्वीकार कर लिया है। दोहा-रत्नावली की जिस पंक्ति के आधार पर नन्ददास को तुलसीदास का अनुज माना गया है वह अपने आप में इतनी अपूर्ण है कि उसके आधार पर लिया गया निर्णय सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण ही कहा जायेगा।[२] 'रत्नावली-चरित' से लेखक के नन्ददास सम्बन्धी विशेष परिचय पर प्रकाश नहीं पड़ता। कृष्णदास ने अपनी रचनाओं में अपने पिता नन्ददास, पितृव्य तुलसीदास, पितामह जीवाराम और माता कमला का उल्लेख किया है। तुलसीदास की माता और पिता का नाम भी लिया गया है—पर नन्ददास की माता का नाम कहीं नहीं है।[३] इन निकट सम्बन्धियों के नामोल्लेख के अतिरिक्त नन्ददास की वल्लभ कुल से दीक्षा और भाषा भागवत तथा रासपंचाध्यायी की रचना—ये दो बातें ही कही गई हैं। इसके अतिरिक्त नन्ददास-परिचय का अन्य कोई अंग इन रचनाओं में संकेतित नहीं है। इस प्रकार के कुछ अधूरे संकेतों को लेकर कुछ निर्णय ले लेना एकांगी ही रहेगा। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम इन्हें सर्वथा अप्रामाणिक मानते हैं। जिस रूप में आज यह सामग्री हमारे सामने विद्यमान है उसमें समर्थन और पुष्टि के लिए पर्याप्त अवकाश है। और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक इस सामग्री का महत्त्व स्पष्ट नहीं होता।

नन्ददास सम्बन्धी उक्त सामग्री के अतिरिक्त ब्रजरत्नदास जी ने दूलहराम के पुत्र सुन्दरदास श्रीवास्तव कायस्थ के कुछ पदों का उल्लेख किया है जो इन्होंने श्रीकृष्ण-लीला और संतों की वन्दना पर लिखे हैं। सुन्दरदास मूलतः मथुरा निवासी थे—पर बाद में जीविकोपार्जन के निमित्त आठ वर्ष मुर्शिदाबाद के नवाब के पास दीवान रहकर ये काशी में ही सपरिवार बस गये थे। इनके एक पद से नन्ददास की भक्ति-भावना एवं प्रेम-भाव और उनके पंचाध्यायी ग्रंथ का संकेत मिलता है।[४]

उपर्युक्त सामग्री और किवदन्ती का आधार लेकर आधुनिक काल के इतिहास ग्रंथों—हिन्दी साहित्य का इतिहास[५], हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास[६], शिवसिंह

---

१. अरण्यकाण्ड की प्रति की पुष्पिका—

श्री तुलसीदास गुरु की आग्यासों उनके भ्रातासुत कृष्णदास सोरों छेत्र निवासी हेत लिखित लछिमनदास कासी जी मध्य संवत् १६४३ असाढ सुद्ध ४ सुक्रे इति।

२. मोहि दीनो संदेशपिय, अनुज नंद के हाथ।

३. तुलसी आतमराम पूत, उदर हुलासो के प्रसूत।
नन्ददास अरु चन्दहास, रहहिं रामपुर मातु पास॥

४. श्री नन्ददास कों करौं प्रनाम। पंचाध्या जिनका सरनाम।
अतिहि भक्ति औ प्रेम तें गायो। मूरतिवंत रासि दिखरायो॥
इक इक चौपाई मनो सागर। प्रेम प्रीति के आगर नागर॥
तिन सों चहौं वास वृन्दावन। झूलि रहैं ताही रस में मन॥

न० ग्र०, भूमिका, पृष्ठ २३

५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १७४

६. डा० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ५५१

सरोज,[1] इसत्वार दे ला लितेरात्यूर एन्दुइ ए हेंन्दुस्तानी[2] और नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट आदि में भी नन्ददास का परिचय अवश्य मिल जाता है। किन्तु इनमें दिये गए ऐसे बहुत से तथ्य हैं जिनकी पुष्टि की आवश्यकता अब भी बनी हुई है। अतः इनका संकेत केवल पथ-निर्देशक सिद्ध हो पाता है, प्रामाण्य नहीं।

ऊपर विवेचित सामग्री का आधार ग्रहण करने पर भी नन्ददास के जीवन परिचय के सभी पक्षों पर प्रकाश नहीं पड़ता। अतः ऐसे कुछ स्थल हैं जहां अनुमान का आश्रय लेना पड़ता है। किन्तु फिर भी जहां तक सम्भव है इन्हीं उल्लिखित ग्रंथों से प्राप्त सामग्री का उपयोग करते हुए हम नन्ददास की जीवनी की सम्भावित रूपरेखा नीचे प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

जन्म तिथि एवं मृत्यु तिथि

नन्ददास की जन्मतिथि के सम्बन्ध में हमें कोई भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता उनकी स्थिति (विद्यमानता) को स्पष्ट करने वाले जो संकेत हमें प्राप्त होते हैं वे इस प्रकार हैं—

(१) नन्ददास गुसाईं विट्ठलनाथ की शरणागति के बाद कुछ समय सूरदास के साथ रहे। और उन्हीं के परामर्श से वह अपने मानसिक वैराग्य को दृढ़ करने के लिए वापस अपने गांव को लौट गए। वार्त्ता साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि नन्ददास के मन का पाण्डित्याभिमान सूरदास से छिपा न रह सका और उन्हीं का मान भङ्ग करने के लिए उन्होंने साहित्यलहरी की रचना की।[3] जिसका रचनाकाल वि० सं० १६१७ अनुमाना गया है।

(२) नन्ददास के एक पद मे गुसाईं विट्ठलनाथ की स्तुति 'पद्मावती-प्राणपति' के रूप में की गई है।[4] पद्मावती विट्ठलनाथजी की द्वितीय पत्नी थी और उनका विवाह वि० सं० १६२३ के आसपास हुआ।

(३) गुसाईं विट्ठलनाथ की शरणागति के समय नन्ददास के मन पर लौकिक शृङ्गार का रूप बहुत अधिक छाया हुआ था। शरणागति से पूर्व वे काशी मे अपने बड़े भाई तुलसीदास के साथ रहते थे—जहां से वह यात्रा के निमित्त द्वारका के लिए चले थे। तुलसीदास की जन्म तिथि विद्वानों ने सम्वत् १५८९ स्वीकारी है।

(४) नागरी प्रचारिणी की सन् १९०३ की खोज रिपोर्ट में नन्ददास रचित मानमंजरी तथा अनेकार्थ भाषा का रचनाकाल सं० १६२४ दिया है। इसी प्रकार १९२०-२२ की रिपोर्ट मे नन्ददास रचित नाममाला का भी रचनाकाल सम्वत् १६२४ दिया गया है। पं० उमाशंकर शुक्ल ने इसे भूल ही समझा है।

---

१. शिवसिंह सेंगर, पृष्ठ ४४२
२. गार्सां द तासी, भाग २, पृष्ठ ४४५-४७
३. नन्दनन्दनदास हित साहित्य-लहरी कौन।
४. पदावली, पद ७

उक्त संकेतों के आधार पर विद्वानों ने नन्ददास की जन्मतिथि का अनुमान लगाने का प्रयत्न किया है। विभिन्न विद्वानों मे डॉ० दीनदयालु गुप्त की मान्यता को सबसे अधिक समर्थन प्राप्त हुआ है। सूरदास की साहित्यलहरी का रचनाकाल यदि वि० सं० १६१७ है तो उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नन्ददास का शरणागति काल इससे कुछ समय पूर्व ही माना जायेगा। और यह भी स्पष्ट है कि शरणागति से पूर्व नन्ददास के मन मे शारीरिक सौन्दर्य के प्रति कितनी अधिक आसक्ति थी जो कि युवा-काल मे ही सम्भव है। अत. उस समय नन्ददास की अवस्था २५ वर्ष के आसपास अनुमानित की जा सकती है। यद्यपि इससे कम आयु के व्यक्ति में भी इस प्रकार की तीव्र आसक्ति को अस्वीकार नही किया जा सकता किन्तु उनसे घबराकर क्षत्राणी के परिवार के सदस्यों का गोकुल यात्रा करना नन्ददास के पूर्ण यौवन प्राप्त व्यक्ति की ओर संकेत करता है। अतः आसक्ति और उस पर बिना किसी की परवाह के उसका प्रदर्शन उनकी पूर्ण युवावस्था का ही परिचायक है। इस आधार पर उनका जन्म वि० सं० १५९० में यदि अनुमानित किया जाता है तो असङ्गत नही कहा जा सकता। इस अनुमान की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि तुलसीदास नन्ददास के बड़े भाई थे जिनका समय वि० सं० १५८९ स्वीकारा गया है। सोरों सामग्री से यह भी स्पष्ट होता है कि तुलसीदास और नन्ददास गुरु नृसिंह के पास एक साथ पढ़ा करते थे। अतः नन्ददास और तुलसीदास की अवस्था में विशेष अन्तर नही प्रतीत होता। नन्ददास के स्थिर रूप से ब्रजवास करने के समय उनकी मानसिक अवस्था अवश्य स्थिर हो चुकी होगी। तभी तो वह गृह-त्याग करके कृष्णभक्ति में पूर्णतया मन लगा सके। इससे स्पष्ट होता है कि शरणागति और स्थिर रूप से ब्रजवास के समय में कुछ व्यवधान अवश्य है। यह बात विट्ठलनाथ के स्तुतिपरक पदों से भी सूचित होती है। विट्ठलनाथ के साथ पद्मावती की वन्दना वि० सं० १६२३ में उनकी ब्रज में स्थिति का संकेत देती है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि नन्ददास सूरदास के कहने पर गृहस्थी में लौटने के बाद प्रायः ६-७ वर्ष ब्रज से बाहर रहे। यही से उनके कविता-काल का आरम्भ स्वीकार किया जा सकता है। उनकी आरम्भिक रचनाओं—अनेकार्थ भाषा और नाममाला का समय वि० सं० १६२४—नागरी प्रचारिणी की खोज रिपोर्ट में भी स्वीकार किया गया है।

नन्ददास की मृत्यु की तिथि का अनुमान अकबर और बीरबल से उनकी भेंट और गुसाईं विट्ठलनाथ की जीवितावस्था में उनकी मृत्यु से लगाया जाता है। इतिहास के अनुसार सन् १५८२ से एक-दो वर्ष पूर्व अकबर में धार्मिक उदारता की भावना विशेष रूप से जागी थी। परिणामस्वरूप उसने हिन्दुओ के देवस्थानों पर मूर्ति-दर्शन और संत-समागम के लिए जाना आरम्भ किया था। ऐसे ही एक अवसर पर नन्ददास से उसकी भेंट बीरबल की उपस्थिति मे हुई थी। और इसी भेंट के समय नन्ददास की मृत्यु हुई।[1] स्पष्ट है कि इस घटना के आधार पर नन्ददास का गोलोकवास काल वि० सं० १६४० के लगभग अनुमानित होता है। इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती

---

२५२ वैष्णवन की वार्त्ता

है कि बीरबल की मृत्यु वि० सं० १६४३ में हुई[1] और गुसाईं विट्ठलनाथ का देहावसान-काल वि० सं० १६४२ है।[2] अतः वि० सं० १६४० के आगे-पीछे ही नन्ददास का मृत्यु-काल अनुमानित किया जा सकता है।

जन्मस्थान

नन्ददास का निवास-स्थान नाभादास-कृत भक्तमाल के अनुसार रामपुर ग्राम है। इसके अतिरिक्त पाटन की हस्तलिखित 'अष्टछाप वार्त्ता' में भी इन्हें रामपुर का वासी बताया गया है। सोरों से प्राप्त सामग्री भी इसी ओर संकेत करती है। कृष्णदास रचित 'वर्षफल' के अनुसार नन्ददास रामपुर निवासी थे और उन्होंने ही इसका नाम बदलकर श्यामपुर कर दिया था। सोरों के पास आज भी श्यामपुर नामक ग्राम की स्थिति है। किन्तु इन सभी उल्लेखों के आधार पर भी यह निश्चित कर सकना कठिन है कि रामपुर गाँव की वास्तविक स्थिति कहाँ स्वीकार की जाए। '२५२ वैष्णवन की वार्त्ता' नन्ददास को पूर्व देश का निवासी बताती है। किन्तु इसके आधार पर यह कह सकना कि रामपुर नामक गाँव मथुरा-गोकुल के पूर्व में स्थित है या भारत के पूर्वी प्रदेश का गाँव है—कठिन है। सोरों की सामग्री की पुष्टि अन्य किसी प्रकार से नहीं हो पाती। हाँ तुलसीदास से उनके भ्रातृभाव की बात सोरों-सामग्री और वैष्णवन की वार्त्ता—दोनों में ही उपलब्ध होती है। किन्तु विद्वानों ने '२५२ वैष्णवन की वार्त्ता' की प्रामाणिकता को सन्देह से परे नहीं माना है। अतः नन्ददास के जन्मस्थान का नाम रामपुर स्वीकार कर लेने पर भी यह बता सकना कि यह कहाँ स्थित है तथ्यों के अभाव में सम्भव नहीं है।

जाति-कुल

'भक्तमाल' के 'सुकुल' शब्द को लेकर नन्ददास की जाति का अनुमान लगाया जाता है। सुकुल शब्द से उच्चकुल अथवा शुक्ल आस्पदीय ब्राह्मण दोनों अर्थ लिए जा सकते हैं। वार्त्ता साहित्य में नन्ददास को 'सनोढिया'—सनाढ्य ब्राह्मण कहा गया है। 'मूल गुसाईं चरित' कार ने नन्ददास को कनौजिया—कान्यकुब्ज ब्राह्मण माना है और सम्भवतः इसी के आधार पर 'मिश्रबन्धु-विनोद' में भी इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण कहा गया। किन्तु बाद में 'मूलगुसाईं चरित' की प्रामाणिकता सिद्ध न होने पर उक्त ग्रन्थ के चतुर्थ संस्करण में उसे निकाल दिया गया। सोरों-सामग्री के अन्तर्गत कृष्णदास द्वारा रचित पुस्तिकाओं में नन्ददास को शुक्लवंशीय ब्राह्मण ही कहा गया है। हाँ मुरलीधर रचित 'रत्नावली चरित' मे उन्हें 'सनाढ्य' भी माना गया है। इन सभी तथ्यों से केवल नन्ददास के ब्राह्मणवंशीय होने की बात पुष्ट होती है। इसीलिए शिवसिंह सेंगर ने उपजाति के विवाद में न पड़कर उन्हें केवल ब्राह्मण कहा है।[3] सम्भवतः

---

१. 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया', भाग ४, पृष्ठ १३५
२. २५२ वैष्णवन की वार्त्ता
३. शिवसिंह सरोज, पृष्ठ ४४२

वे शुक्ल आस्पदीय ब्राह्मण थे—उनके कान्यकुब्ज होने की पुष्टि किसी प्रकार के स्रोत से नहीं होती। दूसरी ओर प्राणनाथ कवि ने भी जो वृन्दावनवासी और अधिकांश अष्टछापी कवियों के समकालीन कहे जाते हैं, नन्ददास को सनौढ़िया स्वीकार किया है।

नन्ददास के माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में कोई उल्लेख नहीं मिलता। 'चन्द्रहास अग्रज सुहृद'—नाभादास की इस उक्ति के आधार पर किसी सम्बन्धी का अनुमान लगाना सहज नहीं है। तुलसीदास का नन्ददास से भ्रातृ-भाव 'वार्त्ता साहित्य' और 'सोरों-सामग्री' दोनों में ही स्वीकार किया गया है। किन्तु नाभादास का इस विषय में सर्वथा मौन उक्त दोनों रचनाओं के प्रति सहज विश्वास उत्पन्न नहीं होने देता। नाभादास तुलसीदास से अपरिचित थे—ऐसा नहीं कहा जा सकता। और जब नन्ददास के सन्दर्भ में चन्द्रहास का नाम लिया जा सकता है तो तुलसीदास का क्यों नहीं—यह बात सभी विद्वानों का ध्यान आकर्षित करती है। सोरों-सामग्री बहुत परवर्ती है और उसमें भी नाभादास की सभी संकेतित बातों को यथारूप आत्मसात् किया गया है। किन्तु अन्य किसी भी स्रोत से इस सामग्री द्वारा निर्दिष्ट तथ्यों की पुष्टि नहीं होती। वैसे सोरों-सामग्री के अनुसार नन्ददास के पिता जीवाराम थे और ये तुलसीदास के पिता आत्माराम के छोटे भाई थे। नन्ददास की माता का नाम कहीं नहीं है। नन्ददास की पत्नी का नाम कमला था और चन्द्रहास नन्ददास के छोटे भाई थे। कृष्णदास नन्ददास के पुत्र माने गए हैं। इसके अतिरिक्त भी वंशावली में अनेक पूर्वजों की नामावली का उल्लेख हुआ है।[1] 'मूलगुसाईं चरित' में नन्ददास और तुलसीदास का रक्त सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया गया। वहाँ उन्हें गुरुभाई ही माना गया है। नाभादास द्वारा इस सम्बन्ध में कुछ न कहने का कारण यह माना जा सकता है कि भक्तमाल में नन्ददास का प्रतिष्ठित भक्तरूप ही प्रस्तुत किया गया है जिसके अनुसार वे विट्ठलनाथ के शिष्य थे। सम्भव है गुसाईंजी की शरणागति में पूर्व वे रामानन्दी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए हों। नन्ददास के संस्कृत और भाषा-ज्ञान से इस बात की भी सम्भावना स्वीकार की जा सकती है कि तुलसीदास और नन्ददास एक ही व्यक्ति से साथ-साथ पढ़े हों। अतः 'गुरुभाई' सम्बन्ध को केवल कल्पना नहीं कहा जा सकता।

शिक्षा

नन्ददास ने वल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र गुसाईं विट्ठलनाथ से दीक्षा ग्रहण की, यह बात सभी स्रोतों से पुष्ट होती है किन्तु उनके शिक्षा गुरु के सम्बन्ध में सोरों-सामग्री के अतिरिक्त कहीं उल्लेख नहीं मिलता। सोरों सामग्री में नृसिंह[2] और 'मूल गुसाईं चरित' में शेष सनातन[3] का शिक्षा-गुरु के रूप में उल्लेख किया गया है। तुलसीदास की शिक्षा भी इन्हीं दोनों पण्डितों के पास हुई। अतः इस आधार पर भी तुलसीदास और

---

१. इसका विवरण हम ऊपर दे चुके हैं।
२. दोऊ एकहि गुरु नृसिंह बुध अंतेवासी। (रत्नावली चरित)
३. जिन सेस सनातन तीर पढ़े।

नन्ददास में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है। किन्तु अन्य किसी भी स्रोत से इस तथ्य की पुष्टि न होने के कारण इसे प्रामाणिक तथ्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। पर, नन्ददास की रचनाओं से यह बात नितान्त स्पष्ट हो जाती है कि इनकी संस्कृत और भाषा की शिक्षा पर्याप्त थी। दोनों ही भाषाओं पर इनका पूर्ण अधिकार था। वस्तुत: उस समय सामान्य जनता से संस्कृत का ज्ञान दूर होता जा रहा था। इसीलिए नन्ददास को भागवत का भाषानुवाद प्रस्तुत करने की आवश्यकता पड़ी यद्यपि गुरु-आज्ञा और अपने विनम्र स्वभाव के कारण उन्होंने भाषा-नुवाद के बहुत-से भाग को नष्ट कर दिया। अत: उनकी संस्कृत अध्ययन और भाषा-सम्बन्धी शिक्षा की बात निश्चित रूप से स्वीकार की जा सकती है—पर यह शिक्षा उन्होंने कहाँ प्राप्त की, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता।

वार्त्ता साहित्य से यह बात विदित होती है कि नन्ददास तुलसीदास से विरक्त होकर काशी चले जाने के उपरान्त काशी आते-जाते रहते थे या वहीं रहते थे और उस समय तुलसीदास के समान उनके इष्ट राम ही थे। राम और हनुमान की स्तुति-परक उनके कुछ पद भी उपलब्ध होते हैं। काशी से ही द्वारका की यात्रा पर साथियों (संग) सहित वे मथुरा पहुँचे। सङ्ग छोड़कर एकाकी द्वारका-यात्रा में आगे बढ़ना उनके उत्साह का सूचक है। किन्तु यह उत्साह भक्ति-निष्ठ प्रतीत नहीं होता—यह तो नाच-तमाशे के समान घूमने-फिरने की इच्छा का सूचक है। तभी राह-भटक जाने के बाद एक गाँव में रूपासक्ति उनकी यात्रा-स्थगन का निमित्त बन गई। यदि भक्ति-जनित उत्साह उनके मन में होता तो शायद उनके जीवन का यह रूप सामने न आता। वार्त्ता-साहित्य में अन्यत्र उनके नाच-तमाशे के शौकीन होने का संकेत भी है।[1] पर इन तथ्यों की सत्यता के विवाद में पड़े बिना भी यह तो कहा जा सकता है कि इसी यात्रा वाली घटना के परिणामस्वरूप उनकी गुसाईंजी से भेंट हुई और उनका कृष्णभक्ति की ओर झुकाव हुआ। यद्यपि बाद में भी राम के प्रति किसी प्रकार का उपेक्षा-भाव उन्होंने प्रदर्शित नहीं किया।

'२५२ वैष्णवन की वार्त्ता' से यह बात स्पष्ट होती है कि रूपवती क्षत्राणी का पीछा करते हुए जब यमुना के पार जाने का उन्हें कोई साधन प्राप्त नहीं हुआ तो उन्होंने यमुना-स्तुति के पद गाये। इस प्रकार के पदों से नन्ददास की मन:स्थिति का परिचय हमें प्राप्त होता है। इन पदों मे उनकी लौकिक रूपासक्ति का संकेत बिलकुल नहीं—यद्यपि उसीके पीछे वे यहाँ तक आ पहुँचे थे। उन पदों मे उनका विनय भाव और निराशापूर्ण हृदय ही झलकता है। वस्तुस्थिति से इन पदों के भाव का विरोध आश्चर्य मे अवश्य डाल देता है और इसीसे प्रतीत होता है कि वार्त्ताकार ने सत्य को कुछ अंश तक छिपाने का प्रयत्न किया है। यदि यही बात वे गुसाईंजी से भेंट के बाद कहते तो उसमे अधिक स्वाभाविकता आ जाती। वैसे उनका कवि रूप यहीं पर प्रकट होता है। धीरे-धीरे जैसे लौकिक विषयों के प्रति उनका वैराग्य बढ़ा नन्ददास का मन

---

१. अष्टछाप, डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ६४

श्रीकृष्ण की लावण्यमयी मूर्ति के ध्यान में डूब चला और उन्हीं की प्रेम-लीलाएँ उनके चिन्तन और वर्णन का विषय बन गई। किन्तु इस परिवर्तन में गुसाई विट्ठलनाथजी का योगदान कम महत्त्व का नही है। स्वयं नन्ददास ने 'रहो सदा चरनन के आगे' कह-कर इस महत्त्व को स्वीकारा है।

नन्ददास की इस वैराग्य और शरणागति की कहानी में नन्ददास के गृहस्थ-जीवन का कोई परिचय हमे प्राप्त नही होता। सोरों-सामग्री उनके गृहस्थ-जीवन का निर्देश करती है। वार्त्ता साहित्य मे भी सूरदास द्वारा उन्हें मन की विरक्ति को दृढ करने के लिए अपने घर लौट जाने के परामर्श का संकेत है किन्तु इन अधूरे संकेतों से यह विदित नहीं होता कि वे विरक्त कब हुए। यदि तुलसीदास का ही उन्होंने अनु-करण किया तो सम्भवतः वे एक बार ब्रज से घर अपनी गृहस्थी में लौट आये और कुछ समय बाद पूर्णतः विरक्त होकर गोकुल चले गए। यदि वे वैसे ही तुलसीदास के पास चले जाया करते थे तो उन्होंने शरणागति के बाद सूरदास की सलाह पर गृहस्थी बसा ली होगी—यही कहा जा सकता है।

स्वभाव-चरित्र

'भक्तमाल' से नन्ददास के प्रेमी और कृष्णभक्त होने का ज्ञान होता है। किन्तु नाभादासजी ने उनके जीवन के एक पक्ष को ही भक्तमाल में स्पष्ट किया है। वस्तुतः उक्त विशेषताएँ नन्ददास के बहुत बाद के जीवन की हैं— सम्भवतः स्थिर रूप से गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथजी की सेवा में तल्लीन रहते हुए समय की हैं। पर उससे पूर्व नन्ददास के स्वभाव का परिचय इन पंक्तियों से हमें प्राप्त नही होता। वार्त्ता साहित्य में सर्व-प्रथम नन्ददास की स्वच्छन्द वृत्ति का परिचय मिलता है। काशी में रहते हुए हितैषी तुलसीदास के मना करने पर भी सङ्घ के साथ द्वारका जाने का निर्णय कर लेना उनकी इसी वृत्ति का परिचायक है। एक बार मन में जो बात बैठ गई उसे पूरा करने के लिए वे तुरत तत्पर हो जाते थे। सङ्घ के साथ भी वे मथुरा तक ही रहे और उसके बाद स्वयं अपने गन्तव्य की ओर बढ़ चले। इससे उनका दृढ़ निश्चयी होना भी ज्ञात होता है। किन्तु जब वे पथ-भ्रमित होकर कुरुक्षेत्र के पास के 'सीहनद' ग्राम में जा पहुँचते है तो उनके स्वभाव का दूसरा पक्ष—रूपसौन्दर्योपासक सामने आता है। एक क्षत्राणी के रूप में मुग्ध वे अपने गन्तव्य को भूल बैठते हैं और उसी गाँव में डेरा डाल लेते हैं। लोक-लाज, निन्दा आदि का भय भी उन्हें उस क्षत्राणी के दर्शन करने से रोक नही पाता। और जब वह परिवार गोकुल के लिए चल पड़ता है तो यह भी उसका पीछा करते हैं। यह उनके सौन्दर्य-प्रेमी, लौकिक विषयों में आसक्त हठवादी रूप को प्रकट करता है। किन्तु वार्त्ताकार ने इस रूपासक्ति में भी उन्हे सदाचार से भ्रष्ट होते हुए नहीं दिखाया। पर उनका उक्त व्यवहार भी सामाजिक मर्यादा के अनुरूप नहीं कहा जा सकता।

नन्ददास को अपने पाण्डित्य का जहाँ घमण्ड था वहाँ अपनी काव्य-प्रतिभा का विश्वास भी था। यमुना-स्तुति मे जहाँ उनका दैन्य रूप व्यक्त हुआ है वहाँ अनेकार्थ

भाषा, नाममाला आदि रचनाओं मे उनका पाण्डित्य उभरकर सामने आया है। तुलसी-दास के रामचरित के समान 'भाषा भागवत' की रचना इसी आत्मविश्वास का परिचायक है। सम्भवतः अपने इसी पाण्डित्याभिमान और लौकिक रसिक-वृत्ति के कारण नन्ददास को एक बार गोकुल छोड़कर गृहस्थ का आश्रय लेना पड़ा। कालान्तर में नन्ददास पूर्णतः विरक्त होकर गोकुल लौट आए और तभी वे अपने को नाभादास की उक्ति के योग्य सिद्ध कर सके।

विरक्त होकर गोकुल लौट आने के वाद उनका जीवन गोकुल और गोवर्द्धन पर्वत पर स्थित मन्दिरों की सेवा करते व्यतीत हुआ। वार्ता साहित्य के अनुसार एक वार तुलसीदास ने उन्हें रामभक्ति में लौट आने की सम्मति दी। पर इनका मन कृष्ण-भक्ति में निमज्जित हो चुका था। और वैसे भी उन्होंने साम्प्रदायिक भावना से अपने को दूर रखकर ही कृष्णभक्ति की है। इसीलिए राम और कृष्ण को उन्होंने एकरूप माना है।[1] तुलसीदास के प्रति वार्त्ताकार द्वारा किया गया संकीर्णता का यह आरोपण आश्चर्य में डालने वाला है। स्वयं तुलसीदास की रचनाओं में इस प्रकार की अनुदारता कहीं भी लक्षित नहीं होती। वार्ता साहित्य से नन्ददास की परम मित्र रूपमंजरी का भी ज्ञान होता है—इससे मिलने के लिए वे मानसी गङ्गा के तट पर गये थे। इस घटना की सत्यता के सम्बन्ध में हम ऊपर विचार कर चुके है। सम्भवतः इसी स्थान पर वीरवल और अकवर से नन्ददास की भेंट हुई और नन्ददास की मृत्यु का समय भी यही भेंट माना गया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नन्ददास में कार्य करने की लगन और दृढ़ता दोनों ही विद्यमान थी। इसीलिए लौकिक सौन्दर्य के प्रति उनके झुकाव में जितनी उत्कटता थी उतनी ही तीव्रता वाद में कृष्ण प्रेम में दिखाई देती है। उनके मन की चञ्चलता का स्थिर हो जाना भी इसीलिए सम्भव हो सका। किन्तु आलम्वन के वदल जाने पर भी सौन्दर्य भावना और रसिकता उनके स्वभाव का अङ्ग सदैव वनी रही। यही उनके स्वभाव और चरित्र की विशेषता है।

नन्ददास के जीवन परिचय के सम्बन्ध में ऊपर जो-कुछ कहा गया है,उसमें से कुछ सर्व-सम्मत है और वहुत कुछ अनुमान पर आधारित। यह सत्य है कि उनकी जन्मतिथि, जन्मस्थान, मृत्यु-संवत्, शिक्षा, वंश परम्परा—आदि कई ऐसी वातें है जिनके सम्वन्ध में निश्चित रूप से कुछ कह सकना सम्भव नही है। किन्तु नन्ददास की जीवन-सामग्री प्रस्तुत करने वाले सभी स्रोत उनके पाण्डित्य, कवित्व और रसिक स्वभाव के वारे में विल्कुल एकमत है। सवसे पहले नाभादासजी ने भक्तमाल में नन्ददास की इन विशेषताओं का परिचय दिया था। वाद की सभी जीवन-सम्वन्धी रचनाओं में इन विशेषताओं की पुष्टि हुई है। नन्ददास की रचनाओं से भी उनकी इन विशेषताओं की पुष्टि होती है। यही विशेपताएँ नन्ददास के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्ष स्वीकार किये जा सकते है। अपनी रचनाओं में वे विचारक, रसिक और कलाकार के रूप मे ही प्रमुख

---

१. नन्ददास के ये दोउ ठाकुर, दशरथ-सुत वावा नन्दकिशोर ॥ पदावली ३

रूप से हमारे सामने आते हैं। यद्यपि कोष-ग्रन्थों—अनेकार्थ भाषा और नाममाला में तथा रसमंजरी में उनका आचार्य रूप भी सामने आता है किन्तु वह बहुत गौण है। पाण्डित्य नन्ददास के अध्ययन और मनन का सूचक है और रसिक-वृत्ति उनके प्रेमी होने की। नन्ददास के व्यक्तित्व की इन्हीं विशेषताओं के आधार पर हम आगे उनके काव्य के सम्बन्ध मे विचार करेंगे।

नन्ददास की रचनाएँ

नन्ददास की जीवनी का परिचय प्राप्त करने के लिए जिस प्राचीन सामग्री की चर्चा पिछले अध्याय में की गई है उससे इनकी केवल दो रचनाओं का ज्ञान होता है—रासपंचाध्यायी और भाषा भागवत। नन्ददास द्वारा भागवत के भाषानुवाद की चर्चा वार्ताकार द्वारा हुई और उसकी पुष्टि सोरों-सामग्री तथा प्राणनाथ आदि द्वारा भी की गई। इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त नन्ददास की अन्य रचनाओं की सूचना देनेवाले पहले व्यक्ति गार्सां-द-तासी हैं। इन्होंने अपने इतिहास-ग्रन्थ—'इस्त्वार दे ला लितरात्यूर एंदुई ए एंदुस्तानी' में नन्ददास की निम्न चौदह रचनाओं का उल्लेख किया है—

१. अनेकार्थ मंजरी	२. नाममाला
३. दशमस्कंध	४. पंचाध्यायी
५. भँवरगीत	६. मानमंजरी
७. रासमंजरी	८. रसमंजरी
९. रूपमंजरी	१०. जोगलीला
११. रुक्मिणीमंगल	१२. सुदामाचरित
१३. प्रबोध चन्द्रोदय	१४. गोवर्धनलीला

तासी ने इन सभी रचनाओं को डाक्टर स्प्रैंजर के पुस्तकालय में स्वयं देखने की बात लिखी है। यह ५७६ पृष्ठों का संग्रह करीमुद्दीन द्वारा करवाया गया था। तासी द्वारा निर्दिष्ट इन रचनाओं में से 'नाममाला' और 'मानमंजरी' एक ही रचना के दो नाम हैं। इसी प्रकार रासमंजरी नाम का भी कोई ग्रन्थ नन्ददास का उपलब्ध नही होता। सम्भवतः रसमंजरी को ही भूल से रासमंजरी लिख दिया गया हो। इनमें से रासपंचाध्यायी, अनेकार्थ मंजरी और मानमंजरी के ही प्रकाशित संस्करणों का तासी ने उल्लेख किया है।[1]

शिवसिंह सेंगर ने अपने ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' में नन्ददास के जिन सात ग्रन्थों का उल्लेख किया है वे इस प्रकार हैं[2]—

१. नाममाला	२. अनेकार्थ

---

१ इस्त्वार दे ला लितरात्यूर एंदुई ए एंदुस्तानी, गार्सां-द-तासी, भाग २, पृष्ठ ४४५
२. पृष्ठ ४४५

३. पंचाध्यायी ४. रुक्मिणीमंगल
५. दशमस्कंध ६. दानलीला
७. मानलीला

तासी द्वारा उल्लिखित रचनाओं के अतिरिक्त यहाँ दो नई रचनाओं—दानलीला और मानलीला की सूचना दी गई है। शिवसिंह सरोज के ही आधार पर ग्रियर्सन[1] और बाबू राधाकृष्णदास[2] ने इन्हीं सात रचनाओं की चर्चा की है।

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट से भी नन्ददास की कई रचनाओं के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त होती है। यह खोज-कार्य सन् १६०० से आरम्भ हुआ और अब तक चल रहा है। इन खोज-रिपोर्टों से प्राप्त सूचना के आधार पर नन्ददास की रचनाएँ इस प्रकार है—

१. भागवत दशमस्कन्ध — सन् १६०१ ई० की वार्षिक रिपोर्ट में संख्या ११ और सन् १६०६-८ की त्रैवार्षिक रिपोर्ट संख्या २०० (बी) में इसका उल्लेख हुआ है। कहीं-कहीं दशमस्कन्ध नाम भी दिया गया है।

२. रासपंचाध्यायी — खोज विवरणों में इसका नाम पंचाध्यायी भी दिया गया है। इसका उल्लेख सन् १६०१ की वार्षिक रिपोर्ट संख्या-६६, सन् १६०६-८ त्रैवार्षिक रिपोर्ट संख्या-२०० (ए), सन् १६१७-१६ की त्रैवार्षिक रिपोर्ट संख्या-११६ (बी), सन् १६२२-२५ की रिपोर्ट (पंजाब) संख्या ७२ (बी), सन् १६३१ की रिपोर्ट (दिल्ली) संख्या ६१ (बी) मे हुआ है।

३. अनेकार्थ मंजरी — इसका उल्लेख 'अनेकार्थ', 'अनेकार्थ भाषा' और 'अनेकार्थ मंजरी'—इन तीनों नामों से खोज-विवरणों में हुआ है। रचना सम्बन्धी उल्लेख खोज रिपोर्ट सन् १६०२ संख्या ५८, सन् १६०३ संख्या १५३, सन् १६०६-११ संख्या २०८ (डी) सन् १६२०-२२ संख्या ११३ में हुआ है।

४. विरहमंजरी — इस रचना का उल्लेख सन् १६०६-११ संख्या २०८ (एफ) और सन् १६२२-२४ (पंजाब) संख्या ७२ (डी) की खोज-रिपोर्ट में हुआ है।

५. नाममाला — इस रचना का खोज-विवरणों में 'नाममाला', 'नाममंजरी', 'नामचिंतामणि माला' और 'मानमंजरी'—इन विभिन्न नामो से हुआ है। खोज रिपोर्ट सन् १६०६-११ संख्या २०८ (सी), सन् १६०६-८ संख्या २०० (सी), सन्

---

१. माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान
२. भक्तनामावली, परिशिष्ट, स० बा० राधाकृष्णदास

		१६१७-१६ संख्या ११६ (डी), सन् १६२०-२२ संख्या ११३ (ए) में इस रचना के सम्बन्ध में सूचना दी गई है।
६.	जोगलीला	सन् १६०६-८ की त्रैवार्षिक रिपोर्ट संख्या २०० (डी) में इस रचना सम्बन्धी सूचना प्राप्त होती है।
७.	स्यामसगाई	इसका उल्लेख सन् १६०६-८ संख्या २०० (ई) और सन् १६१७-१६ संख्या ११६ (सी) की खोज रिपोर्ट में हुआ है।
८.	नासिकेतुपुराणगद्य	सन् १६०६-११ संख्या २०८ (ए) की रिपोर्ट में इसका उल्लेख है।
६.	रसमंजरी	खोज रिपोर्ट सन् १६०६-११ संख्या २०८ से इसकी सूचना प्राप्त होती है।
१०.	रुक्मिणीमंगल	इस रचना की सूचना सन् १६१०-१२ संख्या १२० की खोज रिपोर्ट से प्राप्त होती है।
११.	भ्रमरगीत	सन् १६२०-२२ संख्या १२६ (सी) में इस रचना का उल्लेख है।
१२.	रूपमंजरी	खोज रिपोर्ट (पंजाब) १६२२-२४ संख्या ७२ (सी) से इसकी सूचना प्राप्त होती है।
१३.	फूलमंजरी	सन् १६२६-३१ संख्या २४४ (एच) की खोज रिपोर्ट।
१४.	रानी मांगो	सन् १६२६-३१ संख्या २४४ (आई) की खोज रिपोर्ट।
१५.	अध्यात्मपंचाध्यायी	सन् १६२२-२४ (पंजाब) संख्या ७२ की खोज रिपोर्ट।

उक्त रचनाओं के अतिरिक्त अप्रकाशित रिपोर्टों में 'कृष्णमंगल' नामक रचना का भी उल्लेख मिलता है। मिश्रबन्धु विनोद के नये संस्करण में नन्ददास रचित तीन नई रचनाओं—ज्ञानमंजरी, हितोपदेश, और विज्ञानार्थ प्रकाशिका (गद्य)—की सूची दी गई है। इनमें से अन्तिम गद्य-ग्रंथ को मिश्रबन्धुओं ने स्वयं छत्रपुर में देखा है पर अन्य दो रचनाओं के सम्बन्ध मे उन्होने कोई प्रकाश नही डाला। इसी प्रकार नन्ददास के द्वारा रची हुई कही जानेवाली 'रासलीला' की एक हस्तलिखित प्रति 'श्रीद्वारिकेश पुस्तकालय' कांकरोली में बताई जाती है। 'बांसुरीलीला' और 'अर्घ चन्द्रोदय' को भी नन्ददास की रचनाएँ कहा गया है।[1] नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रह में 'सिद्धान्त-पंचाध्यायी' नाम की एक रचना सुरक्षित है। इसे भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास के परिवर्द्धित संस्करण में नन्ददास की रचना लिखा है।[2] डॉ० दीनदयालु गुप्त ने पनिहारिन लीला को भी नन्ददास की रचना स्वीकार किया है।[3]

इस प्रकार गार्सां-द-तासी से लेकर आज तक नन्ददास की कई रचनाओं का

---

१. हिन्दी पुस्तक साहित्य, डा० माताप्रसाद गुप्त, पृष्ठ ४८६-६०
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १७५
३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ३६६

उल्लेख किया गया है। किन्तु उन सभी को नन्ददास की प्रामाणिक रचना स्वीकार नहीं किया जाता। उक्त रचनाओं में से केवल ये ग्यारह रचनाएँ (१) रासपंचाध्यायी, (२) रूपमंजरी, (३) रसमंजरी, (४) अनेकार्थ भाषा, (५) विरहमंजरी, (६) नाममाला, (७) श्यामसगाई, (८) भंवरगीत, (९) सिद्धान्तपंचाध्यायी, (१०) रुक्मिणी मंगल और (११) पदावली विद्वानों द्वारा नन्ददास की असंदिग्ध रचनाएँ स्वीकार की गई है। अतः यहाँ हम इनकी प्रमाणिकता सम्बन्धी तथ्यों को संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

१. रासपंचाध्यायी—सभी हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखकों और आलोचकों ने इस रचना को नन्ददास की कृति माना है। वैष्णव मन्दिरों में भी इसे नन्ददास रचित स्वीकार किया गया है। आज तक इसकी अनेक प्रतियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। कांकरौली और नाथद्वारा के पुस्तकालय के अतिरिक्त डॉ० दीनदयालु गुप्त ने रासपंचाध्यायी की ९ प्रतियाँ स्वर्गीय पण्डित मायाशंकर याज्ञिक, अलीगढ निवासी के संग्रहालय में देखी हैं, जिनमें से सबसे प्राचीन १७८० सम्वत् की है। वैसे भी राग सम्बन्धी रचनाएँ अष्टछाप के सभी कवियों ने की है। पंचाध्यायी के नाम से इसका उल्लेख वार्ता साहित्य में भी हुआ है। अत. विद्वानों ने रासपंचाध्यायी को नन्ददास की प्रामाणिक रचना स्वीकार किया है।

२. रूपमंजरी—शिवसिंह सेंगर, ग्रियर्सन और डॉ० रामकुमार वर्मा के अतिरिक्त नन्ददास की रचनाओं पर प्रकाश डालने वाले अन्य सभी लेखकों ने इस रचना का उल्लेख किया है। नन्ददास के नाम से पाँच मंजरियों की चर्चा की जाती है—विरहमंजरी, रसमंजरी, मानमंजरी, अनेकार्थ मंजरी और रूपमंजरी। ये पाँचों मंजरियाँ जगदीश्वर प्रेस, बम्बई से सं० १९४५ मे प्रकाशित भी हो चुकी हैं। पंचमंजरी की सम्वत् १८३५ वि० की एक हस्तलिखित प्रति बाबू ब्रजरत्नजी के पास भी सुरक्षित है। भाषा और भाव-साम्य के आधार पर इसे नन्ददास की रचना ही माना जायेगा।[1] ग्रंथ-रचना के अन्त में नन्ददास की छाप भी देखी जा सकती है।[2]

३. रसमंजरी—पंचमंजरी की दूसरी रचना रसमंजरी के आदि के दो छन्द और अन्त के तीन छन्दों में नन्ददास की छाप आती है।[3] शब्द और भवसाम्य की दृष्टि से भी यह रचना रूपमंजरी के बहुत निकट है। रूपमंजरी की एक उक्ति तो ज्यों की त्यों रसमंजरी की सभी प्रतियों में उपलब्ध होती है।[4] अतः ये दोनों रचनाएँ निर्विवाद रूप से एक ही कवि की सिद्ध होती है।

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ३२७
२. तिनकी इहलीला रसभरी। 'नन्ददास' निज हित कै करी। न० ग्र०, पृष्ठ १२५
३. रसमंजरि अनुसार के, 'नंद' सुमति अनुसार।
   बरजत बनिता-भेद जहँ, प्रेम सार विस्तार॥ दोहा २४
४. जो पारद कहुँ कर थिर करै। सो नवोढ बाला उर धरै।
   न० ग्र०, पृष्ठ १२४ और १२७

४. अनेकार्थ भाषा—इस रचना के नाम के सम्बन्ध में पर्याप्त भ्रान्ति है। अनेकार्थ माला और अनेकार्थ मजरी इसके अन्य नाम है। कुछ विद्वानो ने इन तीनो को स्वतंत्र ग्रंथ मान लिया है। यह भूल सम्भवतः तीनों प्रतियों के पाठ न मिलाने के कारण हुई है। नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज-रिपोर्ट इस भ्रम को फैलाने में पर्याप्त मात्रा में सहायक हुई है। इसी प्रकार का भ्रम अनेकार्थ भाषा और अनेकार्थ नाममाला के सम्बन्ध में भी है। खोज-रिपोर्ट में इन दोनो को एक ही ग्रथ मानकर एक की सूचना दी गई है। वस्तुतः मानमंजरी या नाममाला—सर्वथा स्वतंत्र रचना है। इस ग्रंथ की विभिन्न प्रतियों में विभिन्न दोहा संख्या है। कुछ प्रतियों में प्रक्षिप्तांश के भी संकेत हैं।[1] अतः यह निश्चय हो जाने पर भी कि यह नन्ददास की रचना है—यह सिद्ध नहीं हो पाता कि इसका कितना भाग प्रक्षिप्त है।

५. विरहमंजरी—पंचमंजरी में सग्रहीत यह एक अन्य छोटी-सी रचना है, जिसका उल्लेख नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज रिपोर्ट के आधार पर कई इतिहासकारों ने किया है। इसकी प्रकाशित और हस्तलिखित—दोनों प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। मायाशंकर याज्ञिक के संग्रहालय मे जो तीन प्रतियाँ हैं उनमें सबसे प्राचीन वि० सं० १७२५ की है। भाषा और भाव-साम्य के आधार पर इसे नन्ददास की प्रामाणिक कृति स्वीकार किया जा सकता है।[2]

६. नाममाला—अनेक नामों का उल्लेख होने के कारण इस रचना के बारे में अनेक होने की भूल हो जाती है। अनेकार्थ भाषा की भाँति इसके भी प्रामाणिक और प्रक्षिप्त अंश के निर्णय की आवश्यकता है।[3] वैसे प्रायः सभी विद्वानों ने इसे नन्ददास की कृति स्वीकार किया है।[4]

७. श्याम सगाई—वल्लभ-सम्प्रदायी 'वर्षोत्सव कीर्तन-संग्रह' में प्रकाशित इस रचना की सबसे प्राचीन प्रति विद्याविभाग-कांकरोली में सुरक्षित है। पं० मायाशंकर याज्ञिक के संग्रहालय मे इसकी हस्तलिखित चार प्रतियाँ विद्यमान है। इनमें तीन के अन्त मे नन्ददास की छाप है और एक में 'तारपाणि' का नाम दिया हुआ है। यद्यपि पाठान्तर चारों में ही बहुत है। मनोहर पुस्तकालय, मथुरा में 'श्याम सगाई' नाम की एक छोटी-सी पुस्तिका 'नारायण' कवि के नाम से भी छपी है। नन्ददास छाप वाली प्रति से तुलना करने पर दोनों में अधिक अंतर नहीं मिलता। अतः सन्देह के लिए पर्याप्त अवसर है। रोला-दोहा के सम्मिश्रण शैली वाली अनेक रचनाएँ कई और कवियों की भी उपलब्ध होती है। अतः शैली के आधार पर भी कोई निर्णय नही लिया जा सकता। किन्तु जिस

---

१. बीस ऊपरे एक सौ नन्ददास जू कीन।
   और दोहरा रामहरी, कीने जु नवीन॥
२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ३३२
३. दो सत पंसठ ऊपरे दोहा श्री नन्ददास।
   रामहरी बाकी किए, कोष धनंजय तास॥
४. द्रष्टव्य, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ३३३

प्रकार आरम्भ मे वन्दना का अभाव और अन्त में ग्रंथ माहात्म्य का वर्णन न करना नन्ददास के अन्य ग्रंथों में उपलब्ध होता है, उसी प्रकार श्याम सगाई में भी। वैसे भी प्राप्त अधिकांश प्रतियों में नन्ददास की ही छाप है। अतः यह रचना नन्ददास लिखित ही स्वीकार की गई है।[1]

८ भँवरगीत—भँवरगीत नन्ददास का ऐसा अन्य ग्रंथ है जिसके रचनाकार के बारे मे विद्वानों को सदेह है। प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों में नन्ददास के अतिरिक्त जनमुकुन्द की भी छाप मिलती है।[2] नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज-रिपोर्ट में भँवरगीत के रचयिता के रूप में नन्ददास या जनमुकुन्द दोनों का नाम मिलता है। कुछ विद्वानों ने इस समस्या के हल के लिए नन्ददास के उपमान जनमुकुन्द की कल्पना की है। इसी प्रकार मथुरा के पण्डित जवाहरलाल चतुर्वेदी ने नन्ददास के साथ कीर्तन के समय बैठने वाले एक गवैये का नाम जनमुकुन्द बताया है। किन्तु ये सभी कल्पनाएँ निराधार है। वैसे वैष्णव-मण्डली में प्रस्तुत भँवरगीत के जिन छन्दों का रास के समय प्रयोग होता है वे नन्ददास की ही रचना प्रसिद्ध हैं। और नन्ददास छाप वाली प्रतियाँ जनमुकुन्द छाप वाली प्रतियों से प्राचीन हैं। रासपंचाध्यायी से भाव-भाषा साम्य के आधार पर भी यह नन्ददास की ही रचना सिद्ध होती है।[3]

९. सिद्धान्तपंचाध्यायी—यह रचना अभी हाल ही में प्रकाश में लाई गई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे नागरी-प्रचारिणी-सभा के संग्रह में देखा है और इसे नन्ददास की ही रचना स्वीकार किया है। 'रासपंचाध्यायी' से इस रचना की अनेक उक्तियाँ भाषा और भाव की दृष्टि से मिलती है और दूसरे, सैद्धान्तिक दृष्टि से इस रचना में वल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रतिपादन है। इसी आधार पर विद्वानों ने इसे अष्टछाप वाले नन्ददास की रचना स्वीकार किया है।[4] ग्रंथ-रचना के अन्त में 'नन्ददास' की छाप भी प्राप्त हो जाती है।[5]

१०. रुक्मिणी मंगल—इस रचना को सभी इतिहासकारों ने नन्ददास की प्रामाणिक रचना माना है। 'छाप' के अतिरिक्त भाषा-शैली और भाव-व्यंजना की दृष्टि से यह नन्ददास की अन्य रचनाओं से पूर्ण साम्य रखती है। अत. इसे भी प्रामाणिक रचना ही माना जायेगा।[6]

११. पदावली—नन्ददास रचित कुछ स्फुट पद वल्लभ-सम्प्रदायी 'नित्य-कीर्तन', 'वर्षोत्सव कीर्तन', 'वसन्त धमार कीर्तन', 'राग रत्नाकर' तथा कृष्णानन्द व्यास

---

१. द्रष्टव्य, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ३४०
२. जनमुकुन्द पावन भयो, जो यह लीला गाइ, पाय रस प्रेम की
३. द्रष्टव्य, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ३४८
४. द्रष्टव्य, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ३४३
५. 'नंददास' सौं नन्द-सुवन जौ करुना कीजै।
तिन भक्तन की पदपंकज रस सों रुचि दीजै॥ दोहा १३८
६. द्रष्टव्य, अष्टछाप और वल्लभ, सम्प्रदाय, पृष्ठ ३४५

जी के 'राग-कल्पद्रुम' में बिखरे पड़े हैं। किन्तु यह निश्चित नहीं हो पाता कि नन्ददास ने कुल कितने पदों की रचना की है। वर्षोत्सव और कीर्तन-ग्रंथों के आधार पर पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी जी ने ७०० पदों का एक संग्रह तैयार किया है। इसी प्रकार का एक संग्रह पं० मायाशंकर याज्ञिक के पास भी है। इन दोनों को आधार मानकर पं० उमाशंकर शुक्ल ने नन्ददास के २४८ पद प्रकाशित किए हैं—यद्यपि इन सभी के पाठ से वे सन्तुष्ट नहीं हैं।[1] बाबू व्रजरत्नदास ने भी पद-संग्रह की इस कठिनाई को स्वीकार किया है।[2] उनके द्वारा प्रकाशित पदों की संख्या १६५ है। पद-संख्या निश्चित न हो सकने पर भी यह निश्चित है कि नन्ददास द्वारा पदावली की रचना हुई।

शेष रचनाओं में से ये सात रचनाएँ—प्रबोध चन्द्रोदय नाटक, मानलीला, विज्ञानार्थ प्रकाशिका, रास मंजरी, बांसुरीलीला, अर्थ चन्द्रोदय, ज्ञानमंजरी—अप्राप्य हैं।[3] नाममंजरी, मानमंजरी और नामचिन्तामणि वस्तुतः नाममाला के ही अन्य नाम हैं।[4] दानलीला, हितोपदेश और रासलीला किसी अप्रसिद्ध नन्ददास द्वारा रचित हैं।[5] जोगलीला सम्भवतः 'उदै' नामक कवि की रचना है।[6] पनिहारिन लीला का केवल नाम ही सुना जाता है।[7] रानी मंगो के सम्बन्ध में भी विद्वानों का विश्वास है कि वह नन्ददास की रचना न होकर किसी अन्य की रचना है।[8] इसी प्रकार फूलमंजरी पुरुषोत्तमदास की और नासिकेतु पुराण गद्य वृन्दावनवासी किसी स्वामी नन्ददास की रचना कही जाती है।[9] इनके अतिरिक्त केवल चार रचनाएँ शेष रहती हैं—भाषा दशम स्कन्ध, सुदामा चरित, गोवर्द्धन-लीला और प्रेम बारह खड़ी। इन रचनाओं की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विद्वान एक मत नहीं हैं। उक्त चार रचनाओं में से अन्तिम—प्रेम बारह खड़ी दोहों में लिखी एक गुजराती रचना है जिसे पं० वसन्तराम शास्त्री से प्राप्त कर महावीरप्रसाद गहलोत ने सन् १९४६ की हिन्दुस्तानी पत्रिका में नन्ददास की रचना कहकर प्रकाशित कराया था। सम्भवतः इसी आधार पर श्री प्रभुदयाल मीतल ने इसे नन्ददास की रचना स्वीकार कर लिया है।[10] वैसे डॉ० दीनदयाल गुप्त को खोज करने पर भी यह रचना किसी पुस्तकालय में प्राप्त नहीं हो सकी है। अतः इसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सन्देह होना स्वाभाविक है। डॉ० भवानीप्रसाद उप्रेती ने इस विषय पर अपने शोध प्रबन्ध में विस्तार से विचार किया है।[11]

---

१. नन्ददास, उमाशंकर शुक्ल, भूमिका
२. नन्ददास, बाबू व्रजरत्नदास, भूमिका, पृष्ठ ५३
३. नन्ददास, शुक्ल, भूमिका पृष्ठ ३९
४ वही, भूमिका, पृष्ठ २०
५-६. वही, भूमिका, पृष्ठ ४०
७. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ३६९
८. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ३६८
९ वही, पृष्ठ ३६० और पृष्ठ ३६६
१०. अष्टछाप परिचय, पृष्ठ ३१३
११. नन्ददास, पृष्ठ ७६-७८

भाषा दशमस्कन्ध, सुदामाचरित और गोवर्द्धनलीला —ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें नन्ददास का कवि रूप बहुत गौण है। इसके कई कारण हो सकते हैं। प्रमुख कारण यह है कि इन रचनाओं में कवि का उद्देश्य केवल भागवत का भाषानुवाद प्रस्तुत करना रहा है—स्वतंत्र रचना प्रस्तुत करना नहीं। फलतः कवि ने यथासम्भव विषय को भागवत के अनुरूप ही रखा है। इस कारण कहीं-कहीं उक्तियों का अक्षरशः अनुवाद मिलता है और साथ ही इससे भाषागत शिथिलता आई है। जहाँ-कहीं कवि ने अपनी बात कही है वहाँ उक्तियाँ आचार्य वल्लभ के सिद्धान्तों का अनुवाद हैं।

छिनक में करौ, भरौ संहरौ। ऊर्न नाभि लौं फिरि विस्तरौ ॥
तुम तें हम उपजत हैं ऐसें। अगिनि तें विस्फुलिंग गन जैसें ॥[1]

ऐसी और भी पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं। इनसे यही प्रतीत होता है कि भाषा दशमस्कन्ध की रचना उस समय हुई जब नन्ददास वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का अध्ययन कर रहे थे। अनेकार्थ भाषा और नाममाला के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। सिद्धान्तों की चर्चा सिद्धान्तपंचाध्यायी और भंवरगीत में भी है किन्तु वे अध्ययनकाल की नहीं वरन् मननकाल की रचनाएँ हैं। इन रचनाओं का सिद्धान्त स्पष्टीकरण कवि के मनन का परिणाम है। भंवरगीत में तो नन्ददास के व्यक्तित्व का यह पक्ष विशेष रूप से उभर कर आया है। जहाँ गोपियाँ नन्ददास की विचारधारा को प्रस्तुत करती हैं वहाँ उद्धव उसके स्पष्टीकरण के लिए अनेक शंकाओं को उठाते हैं। इसीलिए उद्धव अनेक प्रश्न करते हैं और समाधान के बाद उन्हें छोड़ देते हैं। स्पष्ट है कि भाषा दशमस्कन्ध कवि की आरम्भिक रचना है—हम तो उसे उनकी पहली रचना मानते हैं—जिसके सहारे वह कविता के क्षेत्र में उतरने का प्रयास कर रहा है। इसीलिए उसमें भाषागत शिथिलता, अस्थिरता और नीरसता प्राप्त होती है किन्तु फिर भी ऐसी अनेक उक्तियाँ हैं जिनमें कवि रूप का हमें आभास मिल जाता है। कुछ उक्तियाँ तो ऐसी हैं जो यहाँ अत्यधिक शिथिल शैली में प्रस्तुत की गई हैं और उन्हीं को कवि ने अपनी प्रौढ़ रचनाओं में सँवार कर रखा है। किन्तु केवल इसलिए कि उसमें वह प्रौढ़ता नहीं जो नन्ददास की अन्य रचनाओं में है, उसे नन्ददास की कृति ही न मानना समीचीन नहीं है। भाषा दशमस्कन्ध की अन्तरङ्ग परीक्षा करके उसे नन्ददास की प्रामाणिक रचना सिद्ध करना हमारा विषय नहीं है और इस विषय में डॉ० दीनदयालु गुप्त विस्तार से विचार कर भी चुके हैं।[2] किन्तु फिर भी डॉ० भवानीप्रसाद उप्रेती द्वारा इस सम्बन्ध में उठाई गई अनेक आपत्तियों पर विचार कर लेना विषय की स्पष्टता के लिए हम आवश्यक समझते हैं। डॉ० उप्रेती के अनुसार भाषा दशमस्कन्ध विवेच्य कवि नन्ददास की रचना नहीं है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं। उनमें से कुछ पर हम अपना मन्तव्य प्रस्तुत करना चाहेंगे।

डॉ० उप्रेती के अनुसार विषय और भाषा-शैली की दृष्टि से भाषा दशमस्कन्ध

---

१. नं० ग्र०, पृष्ठ १६७

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ २२६-२२७

रसमंजरी से पहले की कृति हो सकती है किन्तु अनेक तर्कों से उन्होने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वह बाद की कृति है। इन तर्कों में से केवल दो की ओर हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे। रूपमंजरी[1], विरहमंजरी[2] और दशमस्कन्ध में प्राकृतिक सुषमा सम्बन्धी यह उक्ति समान है—

कुसुम धूरि धूँधरी सुकुंज। गुंजत मंजु घोष अति पुंज।[3]

डॉ० उप्रेती के अनुसार रूपमंजरी और विरहमंजरी में यह पंक्ति वसन्त-वर्णन के प्रसङ्ग में कही गई है किन्तु दशमस्कन्ध मे वृन्दावन की शोभा का सामान्य चित्रण है। अतः दशमस्कन्ध की यह पंक्ति रूपमंजरी और विरहमंजरी से ली गई है।[4] विद्वान् लेखक ने उक्ति-साम्य की ओर अवश्य ध्यान दिया है किन्तु इसके पूर्वापर प्रसङ्ग को नहीं देखा है। नन्ददास ने इस पंक्ति से पहले स्पष्ट शब्दों में वृन्दावन में वसन्त का उल्लेख किया है।

वृन्दावन छवि कहत बनै न। भूलि रहैं जँह हरि के नैन॥
जामैं सब दिन बसत बसंत। प्रफुलित नाना कुसुम अनंत॥[5]

ठीक ऐसी ही उक्ति रासपंचाध्यायी में भी उपलब्ध होती है।[6] और फिर वृन्दावन की शोभा-वर्णन में कवि ने कहा है—

कुसुम धूरि धूँधरी पुंज छवि पुंजनि छाई।
गुंजत मंजु अलिंद बेनु जनु बजति सुहाई॥[7]

यदि दशमस्कन्ध की उक्ति नन्ददास की मौलिक नही है तो रासपंचाध्यायी की भी मौलिक कैसे मानी जा सकती है। किन्तु हमारे विचार से यह साम्य इस बात की पुष्टि करता है कि ये सभी रचनाएँ एक ही कवि की कृति है।

दूसरा प्रसङ्ग रुक्मिणी मङ्गल की गौरी-स्तुति का है। यहाँ रुक्मिणी गौरी प्रार्थना के समय जिस शब्दावली का प्रयोग करती है[8] वैसी ही भाषा दशमस्कन्ध में गोपियों की गौरी-प्रार्थना के अवसर पर प्रयुक्त हुई है।

अये गवरि! ईश्वरि सब लायक। महाभाइ वरदाइ सुभायक।[9]

इस उक्ति-साम्य पर टिप्पणी करते हुए डॉ० उप्रेती ने कहा है कि "उक्त

---

१. कुसुम धूरि धूँधरि दिसा इंदु उदै रस पीन।—रूपमंजरी, दोहा ४६५
२. कुसुम धूरि धूँधरी सुकुंजें। मधुकर निकर करत तँह गुंजें॥—न० ग्र०, पृष्ठ १४५
३. भाषा दशमस्कन्ध, नं० ग्र०, पृष्ठ २३६
४. नन्ददास, पृष्ठ ६७
५. न० ग्र०, पृष्ठ २३६
६. सब दिन रहत बसंत कृष्ण-अवलोकनि लोभा। रासपंचाध्यायी, १-२०
७. वही, १-६१
८. अहो देवि अम्बिके गौरि ईश्वर सब लायक।
   महा माय वरदाय सुसंकर तुमरे नायक।—रुक्मिणीमंगल, १०३
९. न० ग्र०, पृष्ठ २५८

समान उल्लेखों मे रुक्मिणीमंगल का उल्लेख ही स्वाभाविक और पूर्व का है; क्योंकि रुक्मिणी गौरी के मन्दिर मे जाकर विवाह के पूर्व की कुलरीति के अनुसार विधिवत् पूजा करती है, किन्तु दशमस्कन्ध में न ऐसी कोई रीति है और न ही कोई देवालय। अतः रुक्मिणीमगल का कथन स्वतंत्र कथन है और दशमस्कन्ध में उसीका अनुकरण है।"[1] हमारे विचार से उप्रेती जी का निष्कर्ष निष्पक्ष नही है। केवल कुलरीति के लिए ही गौरी-वन्दना स्वाभाविक है और अन्यथा गौरी-वन्दना अस्वाभाविक—यह कोई तर्क नही है। कात्यायनी-पूजा के समय गौरी-वन्दना श्रीमद्भागवत मे है और सूरसागर में है—पर आज तक उन्हे किसी ने अस्वाभाविक नही कहा। गौरी-वन्दना के समय समान शब्दावली का प्रयोग इस बात की पुष्टि करता है कि दोनों रचनाएँ एक ही कवि की है। आगे हम ऐसी अनेक उक्तियों की ओर निर्देश करेंगे जिनका प्रयोग समान सन्दर्भ, समान प्रसङ्ग और समान रूप से कवि द्वारा हुआ। ऐसा तो कोई अन्य कवि नन्ददास के हृदय में बैठकर ही कर सकता है—बाहर से नही।

इन तर्कों के आधार पर डा० उप्रेती ने दशमस्कन्ध को मंजरी-ग्रन्थ से बाद की रचना बताकर उसे नन्ददास की रचना नही माना है। पर उक्त विवेचन से यह सिद्ध है कि उक्त तर्क अपने आशय को पुष्ट नही कर पाते। बल्कि इनसे दशमस्कन्ध का नन्ददास की रचना होना पुष्ट होता है। डॉ० उप्रेती के अन्य तर्क इस प्रकार हैं[2]—

(१) "नन्ददास ने सभी रचनाएँ छोटी-छोटी लिखी हैं—अतः भाषा दशमस्कन्ध, जैसी लम्बी रचना नन्ददास की नही हो सकती।" इस सम्बन्ध में हम पहले भी कह आये है कि नन्ददास की अन्य रचनाएँ स्वतंत्र कृति है। भाषा दशमस्कन्ध अनुवाद के रूप मे लिखा गया है। अतः इसका लम्बा होना स्वाभाविक है।

(२) "नन्ददास ने प्रत्येक अध्याय मे मित्र का वार्तालाप दोहराया है जो अस्वाभाविक है।" किन्तु इसमे हमें यही कहना है कि प्रत्येक अध्याय एक स्वतंत्र खण्ड है—अतः कथा का आरम्भ यदि नये सिरे से होता है तो इसमें कोई अस्वाभाविकता नही। डॉ० उप्रेती को गिरिधर वन्दना में भी आपत्ति है, यद्यपि वे स्वयं स्वीकार कर चुके है कि नन्ददास ने गिरिधर और विट्ठलनाथ को एक ही माना है। भाषा दशमस्कन्ध क्योंकि आरम्भिक कृति है—अतः इसमें आरम्भिक पदों के समान विट्ठल को गिरिधर रूप में प्रस्तुत करना कवि की मनोदशा के अनुकूल ही कहा जायेगा।

(३) "रासपंचाध्यायी में कवि ने भाषा में रचना करने की बात कही है और ऐसा ही कथन दशमस्कन्ध में भी है। यदि दोनों रचनाएँ एक ही कवि की होती तो भाषा में रचना की बात नही दोहरायी जानी चाहिए थी।" यदि दोनों उक्तियों के सन्दर्भ पर ध्यान दिया जाय तो भाषा शब्द के प्रयोग का अन्तर स्पष्ट हो जायेगा। भाषा दशमस्कन्ध में 'सरल सुभाषा कीजै' कहा गया है किन्तु रासपंचाध्यायी मे 'कथा जथामति भाषा' का प्रयोग किया गया है। सरल भाषा का प्रयोग वस्तुतः संस्कृत से

---

१. नन्ददास, पृष्ठ ६७

२. वही, पृष्ठ ६८-७२

अनुवाद के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है और रासपंचाध्यायी केवल अनुवाद नही है। आधार ग्रहण करके भी उसे 'जयामति' प्रस्तुत किया गया है। अतः सन्दर्भ की भिन्नता में 'भाषा' शब्द की आवृत्ति अस्वाभाविक नही कही जा सकती।

(४) "भाषा दशमस्कन्ध का दृष्टिकोण विरहमंजरी आदि असन्दिग्ध रचनाओं से भिन्न है।" वस्तुतः हम यह पहले ही कह आए हैं कि नन्ददास की यह रचना उनके अध्ययन काल की रचना है। अतः इसके आधार पर दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे कुछ निर्णय कर लेना कवि के प्रति न्याय नहीं है। भाषा दशमस्कन्ध ही क्यों अनेकार्थ भाषा भी कवि के दृष्टिकोण के विपरीत है। और उसे कोष-ग्रन्थ कहकर छोड़ा नही जा सकता—क्योंकि नाममाला में कवि का रसपरक दृष्टिकोण अत्यधिक स्पष्ट है। दूसरी बात यह है कि भाषा दशमस्कन्ध में भागवत की सिद्धान्तपरक उक्तियों का अनुवाद अधिक है—अतः इस पर आधारित दृष्टिकोण सम्बन्धी निर्णय भ्रामक सिद्ध हो सकता है।

(५) 'आत्म-विज्ञापन' की बहुलता के दो कारण हैं—(क) अनेक अध्यायों में विभाजित होना और (ख) शैलीगत शिथिलता। यही बात उनके 'कि' आदि के संयोजक शब्दों के प्रयोग का कारण कही जा सकती है।

(६) 'शब्दों के प्रयोग' की बात अवश्य ही ध्यान आकर्षित करती है। किन्तु डॉ० उप्रेती द्वारा दिये गए अनेक शब्द संस्कृत-बहुला शैली के प्रयोग को सूचित करते है। फिर भी नन्ददास की इस आरम्भिक कृति में ऐसे शब्द मिल सकते हैं जिनका बाद में नन्ददास ने प्रयोग न किया हो।

(७) 'तत्सम शब्दों का प्रयोग' केवल अनुवाद के कारण ही हुआ है। जहाँ कवि ने 'जयामति कथा' कही है—वहाँ ऐसा स्वतः दूर हो गया है। वैसे तत्सम प्रधान भाषा का प्रयोग तो सिद्धान्तपंचाध्यायी में भी है।

डॉ० उप्रेती ने नन्ददास-सम्बन्धी भ्रान्तियों का निवारण करने के लिए वार्त्ता साहित्य के भी उद्धरण दिये है। इस सम्बन्ध में हम यह कहना चाहते है कि वार्त्ता-ग्रंथ को विद्वान् लेखक ने अपनी इच्छानुसार प्रामाणिक माना है और जहाँ उसकी बात लेखक के अनुकूल नहीं, वहाँ उसे अप्रमाणित घोषित कर दिया है। यह विरोध उचित नही कहा जा सकता। नाभादास के भाषा दशमस्कन्ध का उल्लेख न करने के सम्बन्ध में हमारा नम्र निवेदन यह है कि नाभादासजी ने नन्ददास की कीर्ति को सम्मुख लाने वाली विशेषताओं को स्पष्ट किया है। भाषा दशमस्कन्ध नन्ददास की एक साधारण रचना है। अतः उसकी ओर वे क्यो ध्यान आकर्षित करते। नन्ददास के कोष-ग्रंथों की ओर भी उन्होंने कोई संकेत नहीं किया। वार्त्ता-ग्रंथ विश्वसनीय नहीं है—यह हमारी भी धारणा है किन्तु हमारा यह विश्वास है कि वार्त्ता-ग्रन्थों में केवल घटनाओं और प्रसंगों को—सम्प्रदाय अथवा आचार्य के गौरव के लिए परिवर्तित किया गया है और नयी घटनाओं के आविष्कार का आधार वार्त्ताकार ने नन्ददास की रचनाओं मे ही ढूंढा है। रूपमंजरी के प्रसंग में डॉ० उप्रेती ने यह स्वयं स्वीकार किया है।[1] अतः

१. नन्ददास, पृष्ठ ९-१०

वार्त्ता ग्रंथ में दी गई घटनाओं को हमें ग्रहण करते समय सावधानी बरतनी है। उनकी नितान्त उपेक्षा भी उचित नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट है भाषा दशमस्कन्ध को नन्ददास की रचना न मानने के पक्ष में जो तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं उनमें अधिक सार नहीं है। जहाँ तक भाषागत शिथिलता का प्रश्न है वह केवल उन्हीं स्थलों पर है जहाँ कवि ने भागवत का बहुत अधिक अनुकरण किया है। अपनी अन्तःप्रेरणा से लिखे गए स्थलों की भाषा-शैली अधिक स्वस्थ है। इन स्थलों पर उनका कवित्व अत्यधिक स्पष्ट है। ऐसे स्थलों पर नन्ददास ने कुछ इस प्रकार के शब्दों और उक्तियों का प्रयोग किया है जो नितान्त उन्हीं के हैं। इनके प्रयोग का स्थान और सन्दर्भ वे स्वयं जानते हैं। ये स्थल प्रायः लीलाओं के वर्णन और सौन्दर्य-वर्णन के अवसर पर देखे जा सकते हैं। नीचे कुछ उदाहरण देकर हम अपने इस आशय को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

आनन्दातिरेक को सूचित करने के लिए कवि ने 'घुरि' शब्द का प्रयोग किया है। वात्सल्यातिरेक को सूचित करने वाली भाषा दशमस्कन्ध की यह उक्ति इसी प्रकार की है—

धाई घुरि गई जसुमति मैया। इत हँसि दौरि घुर्यौ बल भैया ॥[1]

कालिय-दमन के प्रसंग में कही गई यह उक्ति मातृ-हृदय और भाई के मन में उमड़नेवाले आनन्द की सूचक है। गाढ़ालिंगन इस शब्द से अभिप्रेत है। ठीक यही भाव इस शब्द के द्वारा रूपमंजरी में व्यक्त किया गया है।

ले सितकार सखिहि घुरि गई। सहचरि निरखि ससंकित भई ॥[2]

स्वप्न में कृष्ण से मिलकर रूपमंजरी को विशेष सुख मिलता है। और फिर प्रियतम के प्रेम-लीला आरम्भ करने पर 'घुरि' शब्द द्वारा व्यक्त किया आनन्दातिरेक की ही सूचक है। रूपमंजरी के एक अन्य स्थल पर इसी सन्दर्भ में 'घुरी' शब्द का प्रयोग किया गया है।[3]

अन्य शब्द 'उझकत' है। इस शब्द का प्रयोग कवि ने उत्सुकता की भावना व्यक्त करने के लिए किया है। दशमस्कन्ध में रास-लीला आरम्भ होने पर लक्ष्मी अपने प्रियतम का कौतुक देखने के लिए आई है। किन्तु अधिकार न होने पर उत्सुकतावश झाँक लेती है।

उझकत कौतुक अपने रवन कौ। अधिकार न जनु इतहि अवन को ॥[4]

ठीक ऐसे सन्दर्भ में इस शब्द का प्रयोग रासपंचाध्यायी में हुआ है। मंद-मंद चली आने वाली चाँदनी के साम्य में यह चित्र प्रस्तुत किया गया है।

---

१. न० ग्र०, पृष्ठ २४५

२. न० ग्र०, पृष्ठ ११०

३. हरिजस रस जिहि कवित नहिं, सुनै कवन फल ताहि।
सठ कठपूतरि संग घुरि, सोए को सुख आहि॥ दोहा, ३५

४. न० ग्र० पृष्ठ २७४

मंद मंद चलि चारुचन्द्रिका अस छवि पाई ।
उझकति है पिय रमा-रमन कौं मनु तकि आई ।।[1]

यहाँ सन्दर्भ भी समान है और पात्र भी । साथ ही चाँदनी का मानवीकरण प्रस्तुत किया गया है ।

'चुचात' शब्द का प्रयोग भी कवि का विशेष है । चूना-टपकना, रिसना—ये इस शब्द के सामान्य अर्थ हैं । कवि ने भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में अमूर्त भाव और ध्वनि के लिए किया है । अतः इस शब्द का प्रयोग लाक्षणिक माना जायेगा । श्रीकृष्ण के चरण-कमलों का वर्णन करते हुए भाषा दशमस्कन्ध में कहा गया है—

अरुन अरुन नव पल्लव प्रात । जनु हरि के अनुराग चुचात ।[2]

'रूपमंजरी' में इसी आशय को स्पष्ट करने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया है । रूपमंजरी अपनी सखी से श्रीकृष्ण-मिलन की बात करते हुए कहती है—

मुरली हाथ सुहाई माई । तिनिहि बजाई राग चुचाई ।[3]

श्रीकृष्ण की मुरली से राग रिस रहा है, प्रयोग की लाक्षणिकता दोनों ही स्थलों पर लक्षित होती है । शब्द का अर्थ दोनों स्थलो पर समान है ।

शब्द की समानता के अतिरिक्त समान सन्दर्भ में वाक्य की समानता भी प्राप्त होती है । शरत्कालीन चाँदनी का वर्णन करते हुए दशमस्कन्ध में कहा गया है—

कोमल किरन अरुनिमा नई । कुंजनि कुंजनि प्रसरित भई ।।[4]

किरन की कोमलता द्वारा स्पर्श और अरुनिमा द्वारा रंग की व्यंजना कवि ने इस पंक्ति में की है । रास के प्रसंग की इस पंक्ति को 'रासपंचाध्यायी में कवि ने दोहराया है—

कोमल किरन अरुनिमा वन में व्यापि रही अस ।
मनसिज खेल्यो फागु घुमड़ी घुरि रह्यौ गुलाल जस ।।[5]

ऊपर की पंक्ति में पूरे वाक्य की समानता दृष्टिगत होती है और अन्तिम पंक्ति में 'घुरि' शब्द रंग की प्रगाढ़ता की ओर निर्देश करता है ।

शब्द और वाक्य की इन समानताओं के अतिरिक्त अप्रस्तुत-योजना के प्रयोग में भी समता देखी जा सकती है । यहाँ भी प्रसंग और सन्दर्भ के अनुसार उक्तियों में समानता आई है । दशमस्कन्ध में श्रीकृष्ण-जन्म पर बधाई देने के लिए ब्रज-युवतियाँ हाथ पर कञ्चन-थाल लेकर यशोदा के घर जा रही है । उस समय कवि उत्प्रेक्षा करता है—

---

१. न० ग्र०, पृष्ठ ५
२. न० ग्र० पृष्ठ २३९
३. वही, पृष्ठ ११३
४. वही पृष्ठ २७४
५. रासपंचाध्यायी, १-४३

हाथनि थार सुलागत भले । कंजनि जनु कि चंद चढि चले ।[१]

इसी भाव की ऐसी अप्रस्तुत-योजना कवि ने पदावली के श्रीकृष्ण-जन्म और बधाई के पदों में दी है—

हाथनि कंचन थार रहो लसि, कँवलन चढि आये मानो ससि ।[२]

भाषा दशमस्कन्ध और रूपमंजरी की निम्न पंक्तियों में समान-सन्दर्भ से समान अप्रस्तुत-योजना देखी जा सकती है—

अति निदाघ जंह कछु सुधि नाहीं । दादुर दुर्राहि फनी-फन छाहीं ।।[३]

और—

अति निदाघ में अस सुधि नाहीं । दादुर रहत फनी-फन-छांही ।।[४]

भाषा दशमस्कन्ध, सिद्धान्त पंचाध्यायी तथा रास पंचाध्यायी में प्रेम की तीव्रता पर समान अप्रस्तुत-योजना—

जैसें उमगति सावन-सरिता । कौन पै रुकहि प्रेम-रस-भरिता[५]

और—

सुनि उमगीं अनुराग-भरी सावन-सरिता जस[६]

तथा—

सावन-सरित न रुकै करै जो जतन कोऊ अति[७]

भाषा दशमस्कन्ध और नाममाला मे वृन्दावन-सुषमा के वर्णन में तथा रुक्मिणी-मंगल में द्वारका के उपवन की शोभा-वर्णन में समान अप्रस्तुत-योजना—

रटत विहंगम रंगनि भरे । बात कहत जनु द्रुम रस ढरे ।[८]

तथा—

रटत विहंगम रंग भरे कोमल कंठ सुजात ।
तुव आगम आनंद जनु, करत परस्पर बात ।।[९]

और—

और विहंगम रंग भरे बोलत हिय हरहीं ।
मनु तरुवर रसभरे परस्पर बातें करहीं ।।[१०]

---

१. न० ग्र०, पृष्ठ २०४
२. न० ग्र० पदावली, २४
३. न० ग्र०, पृष्ठ २४६
४. वही, पृष्ठ १२३
५. वही पृष्ठ २६१
६. सिद्धान्तपञ्चाध्यायी, २६
७. रासपञ्चाध्यायी, १-५६
८. न० ग्र०, पृष्ठ २३९
९. नाममाला, २१८
१०. रुक्मिणीमंगल, ३२

रूपमंजरी में भी इसी अप्रस्तुत-योजना का प्रयोग गया किया है ।[1]

इस प्रकार की समान उक्तियां और भी उपलब्ध हो जाती हैं । इन उक्तियों से जहां यह स्पष्ट होता है कि उक्त सभी रचनाओं का कवि एक है वहां दशमस्कन्ध में नन्ददास की कवित्व शक्ति का परिचय भी प्राप्त होता है ।

सुदामाचरित और गोवर्द्धन लीला को हम कवि की स्वतन्त्र रचना नहीं मानते । वे केवल भाषा दशमस्कन्ध का अंश ही हैं । वैसे काव्य की दृष्टि से उनका विशेष महत्त्व नहीं है ।

इस प्रकार उक्त विवेचन के आधार पर हम निम्नलिखित रचनाओं को नन्ददास की प्रामाणिक रचनाएं कह सकते हैं—

(१) रासपंचाध्यायी (२) रूपमंजरी
(३) रसमंजरी (४) विरह मंजरी
(५) अनेकार्थ भाषा (६) नाममाला
(७) श्यामसगाई (८) भँवरगीत
(९) सिद्धान्त पंचाध्यायी (१०) रुक्मिणीमंगल
(११) पदावली और नाममंजरी (१२) भाषा दशमस्कन्ध

इन रचनाओं के अतिरिक्त सुदामाचरित और गोवर्द्धन लीला का भी उल्लेख किया जा सकता है किन्तु जैसा कि हम कह आये हैं कि ये स्वतंत्र रचनाएँ न होकर भाषा दशमस्कन्ध का भाग है । अतः इन्हें केवल सुविधा के लिए उससे अलग रखकर देखा जा सकता है । हमने भी कथा-सम्बन्धी परिचय मे ऐसा किया है । इन रचनाओं में से अनेकार्थ भाषा और नाममाला के क्रमशः अनेकार्थध्वनिमंजरी और नाममंजरी नाम भी मिलते हैं । इसी आधार पर विद्वानों ने पंचमंजरी की चर्चा की है । किन्तु जैसा डॉ० उप्रेती ने स्पष्ट किया है कि मंजरी केवल तीन है—रूपमंजरी, रस मंजरी और विरहमंजरी । अनेकार्थध्वनिमंजरी और नाममंजरी का वास्तविक नाम, अनेकार्थ भाषा और नाममाला ही प्रतीत होता है ।[2]

रचना-क्रम

नन्ददास ने अपनी किसी रचना मे समय के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं दिया । इसलिए उनकी रचनाओं का क्रम निश्चित करने का मात्र आधार रचनाओं की भाषा-शैली और विषय की परिपक्वता है । इसी आधार पर अनेक विद्वानों ने इस दिशा में प्रयत्न किये है । सबसे पहला प्रयत्न डॉ० दीनदयालु गुप्त का है । उनके अनुसार नन्ददास की रचनाओं का क्रम इस प्रकार है—

(१) रस मंजरी (२) अनेकार्थ मंजरी
(३) मान मंजरी (४) दशमस्कन्ध

---

१. रटहिं बिहंगम इमि मन हरें । जनु द्रुम अपमें बातें करें ॥—न० ग्र०, पृष्ठ १११
२. नन्ददास, पृष्ठ ८२

(५) श्यामसगाई (६) गोवर्धन लीला
(७) सुदामा चरित (८) विरह मंजरी
(९) रूप मंजरी (१०) रुक्मिणी मंगल
(११) रासपंचाध्यायी (१२) भँवरगीत, और
(१३) सिद्धान्त पंचाध्यायी

रस मंजरी को रचना-क्रम में प्रथम स्थान देते हुए डॉ० गुप्त ने कहा है कि रस मंजरी के आरम्भ में कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि प्रेम-तत्व जाने बिना संसार में व्यक्ति कुछ भी नहीं जान पाता। अतः उसने सबसे पहले रस मंजरी की ही रचना की होगी।[1] इस सम्बन्ध में हमारा विचार यह है कि नन्ददास की सभी रचनाओं में प्रेम-तत्व को स्पष्ट नहीं किया गया। आगे के अध्यायों मे यह बात बहुत स्पष्ट हो जायेगी। प्रेम-तत्व की व्यंजना का वह रूप जो रस मंजरी में संकेतित है अनेकार्थ भाषा मे उपलब्ध नही होता। इसके अतिरिक्त भाषा दशमस्कन्ध में भी प्रेम-तत्व की व्यंजना सीमित है। अत: इन रचनाओ को डॉ० गुप्त के तर्कानुसार भी रस मंजरी के बाद की रचना नहीं माना जा सकता। दूसरी ओर अनेकार्थ भाषा और भाषा-भागवत के अनेक स्थलों की भाषा और विषय मे उनके आरम्भिक रचना होने के संकेत प्राप्त होते हैं। अनेकार्थ भाषा का सामान्य भक्ति-निरूपण नन्ददास की रस-साधना की आरम्भिक अवस्था का सूचक है। अतः नन्ददास की रचनाओं का डॉ० दीनदयालु गुप्त द्वारा निर्धारित यह क्रम ग्राह्य प्रतीत नही होता। प्रो० कृष्णदेव[2] और डॉ० भवानीदत्त उप्रेती[3] ने भी इस क्रम को नही माना है।

प्रो० कृष्णदेव नन्ददास की सुदामा-चरित, दशमस्कन्ध, रसमंजरी, विरह मंजरी, रूपमंजरी आदि रचनाओं को संवत् १६३१ से १६३५ के लगभग की रचनाएँ मानते हैं। नन्ददास के प्रौढ़तम ग्रंथ श्याम सगाई, रुक्मिणी मंगल, रासपंचाध्यायी, भँवरगीत और सिद्धान्त पंचाध्यायी इसके बाद संवत् १६३५ से १६३९ तक के समय में लिखे गए होंगे।[4] डॉ० उप्रेती का एतद्विषयक विवेचन अधिक विस्तृत है। उन्होंने रचनाओं के विषय और भाषा-शैली के पूर्वापर क्रम को ध्यान में रखते हुए नन्ददास की रचनाओं का क्रम इस प्रकार दिया है[5]—

(१) अनेकार्थ भाषा (२) श्यामसगाई
(३) नाममाला (४) रसमंजरी
(५) रूपमंजरी (६) विरहमंजरी
(७) रुक्मिणीमंगल (८) रासपंचाध्यायी
(९) सिद्धान्त पंचाध्यायी, और (१०) भँवरगीत

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ३७६
२. अष्टछाप के कवि नन्ददास, पृष्ठ ५१
३. नन्ददास, पृष्ठ ८४
४. अष्टछाप के कवि नन्ददास, पृष्ठ ५२
५. नन्ददास, पृष्ठ ९७-९८

डॉ० उप्रेती का यह क्रम-निर्धारण विभिन्न रचनाओं की भाषा-शैली के गम्भीर अध्ययन का परिणाम है। अतः उनके क्रम को स्वीकार करने में हमें विशेष आपत्ति नहीं है। श्याम सगाई के सम्बन्ध में हमें यह निवेदन करना है कि इस कृति का अलंकार-विहीन होना उसके महत्त्व को कम नहीं करता। भाषा के प्रवाह और भाव की व्यंजना के सौष्ठव में यह रचना अन्य रचनाओं से किसी भी प्रकार हीन नहीं कही जा सकती। नन्ददास ने अपने समकालीन कवियों—विशेष रूप से तुलसीदास की भाषा-शैली का अनुसरण करने का प्रयत्न किया होगा। तुलसीदास के 'जानकी मंगल' और 'बरवै रामायण' की ठेठ भाषा ने यदि उनका ध्यान आकर्षित किया हो तो आश्चर्य नहीं। वैसे श्याम सगाई में स्वीकृत छन्द कवि की प्रौढ़तम कृति भँवरगीत में ही स्वीकार किया गया है। अतः केवल भाषा के ठेठ रूप को देखकर उसे कवि की आरम्भिक रचना मान लेना अधिक युक्तिसङ्गत नहीं है। यह ठीक है कि हम प्रो० कृष्णदेव के समान इसे कवि की प्रौढ़तम कृतियों में स्वीकार नहीं कर सकते किन्तु फिर भी 'रुक्मिणीमंगल' के समान इसे विकास-काल की रचना मानना हमें अधिक सङ्गत लगता है।

नन्ददास की दो रचनाओं—भाषा दशमस्कन्ध और पदावली का समय निर्धारित नहीं किया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने दोनों की रचना समय-समय पर बहुत लम्बी अवधि में की है। इसीलिए दोनों की भाषा-शैली में विभिन्न स्थलों पर अन्तर प्रतीत होता है। यह सत्य है कि दोनों का आरम्भ कवि ने कविता-लेखन के साथ ही किया। किन्तु भाषा दशमस्कन्ध भले ही समाप्त हो गई हो किन्तु पद-रचना जीवन पर्यन्त चलती रही। नन्ददास की शेष रचनाओं को चार कालों में विभाजित किया जा सकता है—(१) अध्ययन, (२) प्रयास, (३) विकास और (४) प्रौढ़ता। अध्ययन-काल की रचनाओं में कवित्व-शक्ति प्रायः नहीं है। अध्ययन के आधार पर उनमें कुछ सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण मात्र है। अनेकार्थ भाषा इसी काल की रचना मानी जा सकती है। प्रयासकाल में कवित्व-शक्ति का हमें परिचय प्राप्त होने लगता है। नाममाला इसी काल की रचना है। विकास काल में रसमंजरी, रूप मंजरी, विरह मंजरी, श्याम-सगाई और रुक्मिणीमंगल को लिया जा सकता है। शेष रासपंचाध्यायी, सिद्धान्तपंचाध्यायी और भँवरगीत—नन्ददास की प्रौढतम कृतियाँ हैं। नन्ददास का कविता-काल प्रायः १६२४ से लेकर १६४१ तक फैला हुआ है। पर किसी भी रचना की निश्चित तिथि देना सम्भव नहीं है।

रचनाओं का परिचय और आधार

नन्ददास की प्रामाणिक रचनाओं के प्रमुख रूप से दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—(१) पं० उमाशंकर शुक्ल का नन्ददास (दो भाग) और (२) बाबू ब्रजरत्नदास का 'नन्ददास-ग्रंथावली'। हमने अपने अध्ययन के लिए बाबू ब्रजरत्नदास की 'नन्ददास-ग्रंथावली' को ही स्वीकार किया है। इसका कोई विशेष कारण नहीं है—केवल सहज उपलब्धि है। नीचे परिचय में भी इस ग्रंथावली में दिये गए रचना-क्रम के अनुसार परिचय दे दिया है। उद्धरण 'नन्ददास ग्रंथावली' के दूसरे संस्करण में से प्रस्तुत किये गए हैं।

रासपंचाध्यायी

श्रीमद्भागवत के २६-३३—इन पांच अध्यायों में वर्णित रास-लीला पर आधारित यह रचना नन्ददास की श्रेष्ठ कृतियों में से है। भागवत की भाँति यह रचना पाँच अध्यायों में विभाजित है और कथा का रूप प्रायः उसीके समान है। किन्तु इतनी समानता होते हुए भी इस रचना को मूल कृति का अनुवाद नहीं कहा जा सकता। सामूहिक रूप से इस रचना को पढ़ने के बाद जो प्रभाव पाठक के मन पर पड़ता है वह मौलिक कृति का ही प्रभाव है। कथा-वर्णन में भाषा की मधुरता, लालित्य और प्रवाह में नन्ददास का निजी रूप इतना अधिक झलकता है कि रासपंचाध्यायी के एक स्वतन्त्र कृति होने के विषय में किसी को सन्देह नहीं रहता। जिस प्रकार कृष्ण-लीला सम्बन्धी अन्य रचनाओं का आधार भागवत ग्रन्थ है, उसी प्रकार रासपंचाध्यायी के सम्बन्ध में कहा जा सकता है।

प्रसङ्ग आरम्भ करने से पूर्व कवि ने भागवत के कथावाचक शुकदेव की स्तुति की है। वस्तुतः नन्ददास के शुकदेव परम ज्ञानी न होकर 'हरिलीला रस-मत्त' रसिक हैं। उनके स्वरूप में श्रीकृष्ण की भक्ति साकार हो उठी है। ऐसे रसिक प्रवर शुकदेव द्वारा गाई गई रहस्यपूर्ण रासपंचाध्यायी का वर्णन नन्ददास अपने एक परम मित्र की इच्छा को पूर्ण करने के लिए करते हैं। वृन्दावन की शोभा एवं महिमा-गान के बाद श्रीकृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन कवि ने किया है। कवि की दृष्टि से मनोरम शरद-ऋतु का सौन्दर्य कैसे ओझल हो सकता था। ऐसे उन्मादक वातावरण में श्रीकृष्ण की 'जोगमाया-सी' मुरली बज उठती है और इस प्रकार कवि गोपियों के आगमन तथा श्रीकृष्ण से मिलन की उनकी आतुरता को व्यक्त करने का अवसर पा सका है। अन्ततः गोपियों की इच्छा पूर्ण होती है और उन्हें श्रीकृष्ण से वन-विहार का अवसर मिलता है। उनकी इन प्रेम-लीलाओं के पावन रूप को देखकर मदन का गर्व चूर-चूर हो जाता है। किन्तु इस परम सौभाग्य से गोपियों के मन में जिस अभिमान का उदय हुआ, वह उनके श्रीकृष्ण-वियोग का कारण बना। इस वियोग का अन्त गोपियों में श्रीकृष्ण के प्रति दैन्य-प्रेरित प्रेम से होता है। श्रीकृष्ण के आविर्भाव के बाद गोपियों का प्रेमपूर्ण आचरण और तदुपरान्त महारास का वर्णन किया गया है। रास के समय की अवस्था का अत्यधिक मनोहारी वर्णन अन्तिम अध्याय में किया गया है। माहात्म्य-वर्णन करते समय कवि ने पाठक को श्रीकृष्ण और गोपियों के प्रेम-सम्बन्ध का अनुकरण करने से सावधान किया है क्योंकि समर्थ व्यक्ति को ही इस मार्ग में बढ़ना चाहिए।

'रासपंचाध्यायी' का मुख्य आधार श्रीमद्भागवत है। पर जैसा हम ऊपर स्पष्ट कर आए हैं कि भागवत से नन्ददास ने केवल कथा-प्रसङ्गों को लिया है। उनको प्रस्तुत करने में कवि पूर्णतया स्वतन्त्र है। प्रथम अध्याय के आरम्भ में शुकदेव-वर्णन, वृन्दावन-शोभा-वर्णन और शरद-रजनी-वर्णन भागवत में केवल संकेतित है। नन्ददास ने उन्हें अपनी रुचि के अनुकूल पाकर विस्तार से प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार मदन-मूर्छा-प्रसङ्ग कवि की मौलिक सूझ का परिचायक है। जिन प्रसङ्गों को यथावत् भागवत से ग्रहण किया गया है, वहाँ विषय के प्रतिपादन की रीति, भाषा-सौन्दर्य, कवि-कल्पना

से युक्त काव्योक्तियाँ—इन्हें मूल प्रसङ्गों से स्वतन्त्र रूप प्रदान करती है । बीच-बीच में कवि ने इस प्रकार की उक्तियाँ प्रस्तुत करके—

उज्जल रस कौ यह सुभाव बाँकी छवि छावै ।
बंक चहनि पुनि कहनि बंक अति रसहिं बढ़ावै ॥[1]

केवल विषय को सरस नहीं बनाया वरन् उसके साथ अपनी स्वतन्त्र विचार-धारा का परिचय भी दिया है । वन-विहार के समय वृन्दावन का सौन्दर्य-चित्रण नन्ददास की कवित्व-प्रतिभा का परिचायक है ।

दूसरे अध्याय में विषयगत कोई नवीनता दृष्टिगत नही होती । किन्तु विषय का प्रतिपादन कवि का अपना है । प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करके वर्णन को अत्यधिक सजीव बनाया गया है । इस दृष्टि से विस्तार को कुछ कम किया गया है । कवि की अनेक उक्तियाँ और उत्प्रेक्षाएँ वर्णन में नवीनता का संचार करती हैं । तीसरा अध्याय भागवत के 'गोपिकागीत' पर आधारित है । कवि ने मधुर और कान्त पदावली में उसी विषय को संक्षेप से प्रस्तुत किया है । चौथे अध्याय मे कवि की मौलिकता उत्प्रेक्षाओं तक सीमित है । पाँचवाँ अध्याय कवि की मौलिकता वर्णन-शैली, दृश्य-चित्रण और निजी विचारों के प्रस्तुतीकरण में दृष्टिगत होता है ।

२. सिद्धान्तपंचाध्यायी

सिद्धान्तपंचाध्यायी का सम्बन्ध भी रासलीला से है । यद्यपि रास-वर्णन की अपेक्षा सिद्धान्त-निरूपण एवं श्रीकृष्ण और गोपियों के स्वरूप स्पष्टीकरण पर अधिक बल है । इस रचना में नन्ददास को साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के स्पष्ट करने का पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ है । रासलीला को नन्ददास ने भागवत के अन्य टीकाकारों की भाँति काम-क्रीड़ा न मानकर काम-त्याग का साधन स्वीकार किया है । कवि की दृष्टि में श्रीकृष्ण परब्रह्म, आत्मानन्द, आत्माराम आदि सभी कुछ होते हुए भी रस-रूप है । उनकी रसवत्ता लीला द्वारा व्यक्त होती है और रास इसी को व्यक्त करने वाली लीला है । रास का प्रेरक तत्त्व प्रेम है और परिणाम है आनन्द की प्राप्ति । इस आनन्द की अवस्था में आत्मविस्मृति की दशा लक्षित होती है । श्रीकृष्ण की बाँसुरी सुनकर गोपियाँ रासमण्डल की ओर इसी अवस्था में खिंची चली आती है ।

रास का आनन्द-प्राप्ति में विशेष महत्त्व स्वीकार करते हुए नन्ददास ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि रासलीला सामान्य जन-सुलभ एवं अनुकरणीय नहीं है । श्रीकृष्ण के साथ रास मे प्रविष्ट होने का अधिकार विशिष्ट व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है । गोपियाँ भी जिस समय तक श्रीकृष्ण के समान रस रूप नही हो जाती तब तक रास सम्भव नहीं है । यही कारण है कि गोपियाँ विरह द्वारा अपने प्रेम को सन्तप्त करके इस योग्य बना लेती है—उस अवस्था में न पाप है और न पुण्य--सभी कुछ रसरूप है ।

---

१. रासपंचाध्यायी, १-७१

इस प्रकार सिद्धान्तपंचाध्यायी का महत्त्व नन्ददास के सिद्धान्त-पक्ष को समझने की दृष्टि से विशेष है। इष्ट और भक्त इन दोनों के सम्बन्ध में इस रचना से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। भक्त की साधना का आदर्श प्रस्तुत करने वाली गोपियाँ—उनका श्रीकृष्ण-प्रेम और भक्त के लिए अनुकरणीय साधना व प्रेम-मार्ग की चर्चा कवि ने विस्तार के साथ की है। वैसे वृन्दावन-सुषमा, मुरली-ध्वनि का प्रभाव और महिमा भी वर्णित है। और आनन्दावस्था में भक्त-भगवान की एकरूपता (चन्द्र-चांदनी की भांति) की ओर कवि ने सकेत किया है।

'सिद्धान्तपंचाध्यायी' वास्तव में नन्ददास के विचारों को प्रस्तुत करने वाली रचना है। यद्यपि इसका आधार रासपंचाध्यायी की कथा है किन्तु यहाँ कथा की अपेक्षा विचारों की प्रधानता है। कवि ने ब्रह्म, जीव, जगत् और माया के सम्बन्ध में अपने साम्प्रदायिक विचारों को अभिव्यक्त करने के साथ-साथ रास के आध्यात्मिक पक्ष और उसकी निर्दोपिता को स्पष्ट किया है।

जैसोइ कृष्ण अखण्ड-रूप चिद्रूप उदारा।
तैसोइ उज्जल रस अखण्ड तिन कर परिवारा॥[1]

रास की सम्पूर्ण कथा विचारों की इसी लपेट में आ गई है। स्पष्ट है कि सिद्धान्तपंचाध्यायी कवि की सर्वथा स्वतन्त्र कृति है जिसे कवि के विचारो को समझने का प्रमुख साधन स्वीकारा जा सकता है।

३. अनेकार्थभाषा

संस्कृत से अपरिचित मनुष्यों को भाषा के माध्यम से शब्दार्थ-ज्ञान करवाने के निमित्त लिखी गई यह रचना नन्ददास के भक्ति-भाव का भी परिचय देती है। नन्ददास ने पर्यायवाची शब्दों एवं अर्थ स्पष्ट करते हुए अपने इष्ट—श्रीकृष्ण की विभिन्न विशेषताओं और उनकी लीलाओं की ओर यथावसर संकेत किया है। यहां पर यद्यपि सिद्धान्त-निरूपण के लिए कोई विशेष स्थान नहीं है और न श्रीकृष्ण-लीलागान का ही अवसर है, किन्तु नन्ददास ने शब्द-विशेष के अनुसार अपने विचारों को व्यक्त करने का सफल प्रयत्न किया है। अतः विचारों का स्फुट रूप अथवा संकेत देखना हो तो यह रचना महत्त्वपूर्ण है। नाम-माहात्म्य, कथा-श्रवण, ध्येय विषय, तीर्थादि साधना-सम्बन्धी कई संकेत यहाँ-वहाँ बिखरे पड़े है। रुक्मिणी-हरण, गज-ग्राह-मोक्ष, कालिय-दमन आदि अनेक कृष्ण-कथाओं का उल्लेख भी मिल जाता है। अतः इस रचना का उद्देश्य केवल शब्द-ज्ञान अथवा अर्थ-ज्ञान की दृष्टि से नही है। शब्द के इस अर्थ परिचय से जहाँ नन्ददास के पाण्डित्य-ज्ञान का परिचय मिलता है, वहाँ उनके प्रस्तुतीकरण से इस बात का आभास मिलता है कि नन्ददास मे कृष्ण-भक्ति का रंग किस प्रकार चढ रहा था। उनकी दृष्टि मे सभी कुछ कृष्णमय होकर आता है। कुछ स्थल शास्त्र-ज्ञान के परिचायक भी हैं। ब्रह्मवाद का यह परिचय ऐसा ही है—

---

१. सिद्धान्तपंचाध्यायी, ९१

जिमि कंचन ते किंकिनी, कंकन कुण्डल नाम ।[1]

विचार-सम्बन्धी ये संकेत क्रमबद्ध तो नहीं है, पर स्फुट रूप मे महत्त्वपूर्ण हैं। ग्रन्थ का आरम्भ ही शुद्धाद्वैत-मतानुसार श्रीकृष्ण-स्वरूप की अभिव्यक्ति से हुआ है।

अनेकार्थ भाषा में कुल ११७ दोहे हैं जिसमें कवि ने ११३ शब्दों के अनेकार्थ दिये हैं। शब्दों को किसी अकारादि क्रम से नहीं लिया गया। डॉ० उप्रेती के अनुसार अनेकार्थ भाषा के आधार दो कोष-ग्रन्थ हैं—(१) अमरकोष और (२) अनेकार्थ समुच्चय।[2] कवि ने इन दोनों से शब्द और शब्दार्थ ग्रहण किये हैं। किन्तु इनका उपयोग अपनी प्रवृत्ति के अनुसार इन ग्रन्थों का अध्ययन करके इच्छानुसार किया है। सम्भव है अनेकार्थ भाषा की रचना मे अन्य कोष-ग्रन्थों की सहायता भी ली गई हो। किन्तु कवि ने समय और समाज की रुचि को पहचानते हुए शब्दों के प्रचलित अर्थ तक अपने-आपको सीमित नहीं रखा। उनके साथ अपनी बात भी व्यक्त की है :

सुमना कहिये मालती, सुमना मुदिता तीय।
सुमना रति होइ स्याम सों, करि ले लंपट जीय ॥[3]

यही कारण है कि मूलतः कोष-ग्रन्थ होते हुए भी अनेकार्थ भाषा मे नीरसता नही आने पाई है। यह सत्य है कि कवि की आरम्भिक कृति होने के कारण इसमे रस की वह पूर्णता नही है जो कवि की अन्य रचनाओं में है किन्तु यह रचना कवि की स्वतंत्र प्रवृत्ति की परिचायक है।

४. नाममाला

शब्द-कोष और कथा का जिस कलात्मक ढंग से नन्ददास ने इस रचना में मिश्रण किया है, वह अपूर्व है। वस्तुतः कवि ने इस ग्रन्थ के शब्द से 'डबल रोल' जैसा कार्य करवाया है। शब्दों की योजना यहाँ इस प्रकार की गई है कि ऊपर से देखने पर यही प्रतीत होता है कि कवि शब्दों का अर्थ-ज्ञान करवा रहा है। किन्तु दोहे की अन्तिम पक्ति किसी कथा की सूचना देती है। इस प्रकार राधा का मान, राधा की सखी का उसे मनाने के लिए कृष्ण-दूती रूप में बरसाने जाना, वहाँ वृषभानु गोप की सभा, भवन आदि के वर्णनोपरान्त सखी द्वारा राधा के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। तदुपरान्त प्रकट रूप में राधा को मान-छोड़ने की सलाह देना, दोनों का परस्पर वार्त्तालाप और अन्त में राधा को लेकर सखी का प्रतीक्षा करते हुए श्रीकृष्ण के पास आना—यही इस कथा की रूपरेखा है। इस कथा में प्रयुक्त शब्दों को विशेष क्रम से प्रस्तुत करना रचना की विशेषता है। अनेकार्थ भाषा की भाँति यहाँ सब कुछ स्फुट और शब्दाधीन नही है किन्तु यहाँ शब्द कथा के अधीन है। श्रीकृष्ण के भक्त द्वारा कही गई इस कथा में श्रीकृष्ण की महिमा का गान स्वाभाविक है। और उसके लिए कवि को राधा-सखी संवाद के

---

१. अनेकार्थ भाषा, २
२. नन्ददास, पृष्ठ १००
३. अनेकार्थ भाषा, दोहा १०१

समय अवसर भी प्राप्त हुआ है ।

काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से इस रचना का नन्ददास की कृतियों में विशेष स्थान है । कवि ने केवल राधा-सौन्दर्य वर्णन में अपनी उर्वरा कल्पना का प्रयोग नहीं किया है वरन् वृषभानु गोप के स्थान-वर्णन में और प्राकृतिक सौन्दर्य-वर्णन में भी उसका उचित प्रयोग किया है । इसीलिए मान-लीला का यह प्रसंग केवल कथा-वर्णन नहीं है, उसमें एक कलात्मक सजीवता है। सखी का वाक्चातुर्य, शिक्षा और उपालम्भ देने का ढंग वचन-वक्रता का सुन्दर उदाहरण है । स्पष्ट है कि कवि ने शब्दों को कथा में ऐसा जड़ दिया है कि वे कथा का एक अंश प्रतीत होते है । और इस प्रकार वे नन्ददास की भाषा-शक्ति और मनोरम कल्पना को कृष्णभक्ति मे भावित कर सुन्दर रूप में प्रस्तुत करते हैं ।कथा और कोष दोनों के समन्वय को देखकर ही विद्वानों ने रचना का नाम 'मानमंजरी नाममाला' रख दिया है ।

'नाममाला' के आरम्भ मे कवि ने अपने आधार ग्रंथ—अमरकोष—की ओर सकेत कर दिया है ।[1] अमरकोष के तीन काण्डों मे से केवल प्रथम दो का कवि ने अपनी स्वेच्छानुसार प्रयोग किया है ।[2] यहां भी शब्दो का क्रम निश्चित नही है । कुल २०७ शब्दों को २६० दोहो में प्रस्तुत किया गया है ।शब्दों का क्रम मानवती राधा की कथा के अनुरूप हुआ है । इसीलिए पहला शब्द मान है और क्योंकि कथा का पर्यवसान राध-कृष्ण मिलन में होना है, इस कारण 'जुगल' शब्द को अन्त में स्थान मिला है । काव्यरचना की दृष्टि से यहाँ कोष-ग्रन्थ सम्बन्धी बन्धन अत्यधिक शिथिल पड़ गए हैं । कही-कही तो पूरा दोहा ही कथा के निमित्त कह दिया गया है। केवल अर्थ किये जाने वाला शब्द अपनी सत्ता बनाए रखता है ।

ब्रह्मा—लै लै सत सब छबिन की, जित हुती जग मांझ ।
तोहि रची विधिना निपुन, बहुर्यो ह्वै गयो बांझ ॥[3]

अमरकोष के अतिरिक्त बहुत सम्भव है कि कवि ने सूर की मानलीला से भी प्रेरणा ली हो । किन्तु नाममाला की रचना स्वतंत्र ढंग से हुई है ।

५. रूपमंजरी

नन्ददास का यह एक छोटा-सा आख्यान काव्य है । माधुर्य भक्ति के परकीया भाव का समर्थन करने की दृष्टि से यह रचना लिखी गई है । इसमें निर्भयपुर की एक सुन्दरी राजकुमारी के किसी कुरूप नायक से विवाह और फिर श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम का वर्णन कवि ने प्रस्तुत किया है । डॉ० दीनदयालु गुप्त ने इस कथा को बिल्कुल काल्पनिक नही माना क्योंकि 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' में नन्ददास की जीवनी

---

१. गूंथनि नाना नाम को, अमरकोष के भाय ।
मानवती के मान पर, मिले अर्थ सब आय ॥ दोहा, ३

२. नन्ददास, डा० उप्रेती, पृष्ठ १०५-६

३. दोहा, ८६

में रूपमंजरी का उल्लेख मिलता है। दोनों का प्रेम भी वहाँ सकेतित है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी प्रसङ्ग विशेष को ध्यान में रखकर कवि ने उसे अपनी कल्पना से कथा का रूप दिया है।

विवाह योग्य राजकुमारी के उपयुक्त वर ढूंढने का कार्य एक ब्राह्मण को सौंपा जाता है जो लोभवश एक क्रूर एवं अयोग्य व्यक्ति से उसका विवाह करवा देता है। परिणामतः माता-पिता और रूपमंजरी की सखी इन्दुमति—सभी को असन्तोष होता है। इन्दुमति उसमें श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम जगाने का प्रयत्न करती है। उपपति प्रेम—विशेषतः श्रीकृष्ण के प्रति उसकी दृष्टि में किसी प्रकार भी हेय नही है। अतः वह प्रत्यक्ष रूप में रूपमंजरी से कुछ न कहकर श्रीकृष्ण से उसे स्वीकार कर लेने की प्रार्थना करती है। भक्त कवि के अनुसार उसकी प्रार्थना स्वीकार हुई और रूपमंजरी को स्वप्न में उन्होंने अंगीकार कर लिया। और इस प्रकार श्रीकृष्ण के प्रति उसके मन का अनुराग बढ़ने लगा।

अनुराग की तीव्रता के साथ कवि ने रूपमंजरी के विरह का वर्णन किया है और इसी सन्दर्भ में षड्ऋतु का कवित्वपूर्ण वर्णन प्रस्तुत किया गया है। अनुराग के चरम सीमा पर पहुँच जाने पर संयोग शृंगार का वर्णन है जिसमें संभुक्ता नायिका के रूप में रूपमंजरी का चित्र प्रस्तुत किया गया है। कुछ स्थलों पर हाव-भाव का भी परिचय रूपमंजरी के माध्यम से दिया गया है।

इस रचना में कवि को मधुर भाव की भक्ति का प्रतिपादन करने का विशेष अवसर प्राप्त हुआ है। श्रीकृष्ण का रूप-सौन्दर्य, राजकुमारी की आसक्ति का कारण है। किन्तु इन्दुमति के द्वारा श्रीकृष्ण के वास्तविक स्वरूप को कई स्थलों पर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। उनके प्रति प्रेम की आवश्यकता और उसकी दुर्लभता —दोनो ओर रचना में सङ्केत है। वस्तुतः प्रेम-प्रसङ्ग का विस्तार ही इस रचना में उपलब्ध होता है। इस प्रकार सिद्धान्त और प्रेम-भाव—दोनों का अपूर्व संयोग इस काव्य में प्रस्तुत किया गया है। सिद्धान्त पक्ष में कवि ने श्रीकृष्ण-स्वरूप, प्रेम की महत्ता, उपपति रस और प्रेम-परिपाक के लिए विरह-तीव्रता की ओर पाठक का ध्यान काव्य की रसात्मक पद्धति से आकर्षित किया है। शृंगार के वियोग पक्ष की महत्ता स्वीकार करते हुए भी संयोग के वर्णनों की उपेक्षा नही है। अवसरानुकूल कवि ने हाव-भाव-हेला और रति का विकास-क्रम स्पष्ट सूचित किया है।

रूपमंजरी की रचना हमारे विचार से कवि द्वारा अपनी रसोपासना स्पष्ट करने के आशय से की गई है। कथा के लिए सम्भव है किसी प्रकार का संकेत उसने कहीं से लिया हो किन्तु उसका उपयोग कवि ने किस रूप मे किया है, यह बात स्पष्ट नही होती। स्वयं कवि की उक्ति है—

अब हौं बरनि सुनाऊँ ताही। जो कछु मो उर-अंतर आही ॥[1]

स्पष्ट है कि रूपमंजरी कवि के निजी हृदय की अभिव्यक्ति है। वस्तुतः सम्पूर्ण

---

१. न० ग्र०, पृष्ठ १०४

काव्य में केवल सौन्दर्य और प्रेम के संयोग तथा वियोग की व्यंजना की गई है। सौन्दर्य केवल प्रेम में सहायक होकर आया है। प्रधानता प्रेम-व्यंजना की है। रूपमंजरी की यह उक्ति इस बात की पोषक है—

तातें रूप अनूप रस चोरी हौं मेरी आलि।
आज तनक सुधि परन दै सबै कहौंगी कालि॥[1]

वैसे भी साधना-सम्बन्धी अनेक बातों का कथन इसी आशय को स्पष्ट करता है कि रूपमंजरी की रचना कवि ने अपनी उपासना-विशेष को स्पष्ट करने के आशय से की है। इस बात को हम प्रथम अध्याय में भी स्पष्ट कर आये हैं।[2] अतः रूपमंजरी को हम रस-साधनापरक कवि की स्वतन्त्र रचना मानते हैं।

६. रसमंजरी

नन्ददास का यह ग्रंथ नायिका-भेद सम्बन्धी है। इसके आधार पर कवि का रीतिशास्त्र ज्ञान स्पष्ट होता है। पर उनके आचार्य रूप की कल्पना नहीं की जा सकती। कारण यह है कि कवि ने भानुदत्त की 'रसमंजरी' के अनुसार ग्रंथ-रचना की बात स्वयं कह दी है। वैसे भी रचना परिचयात्मक है। भक्त-कवि का इस प्रकार नायिका भेद का विस्तार से वर्णन कुछ विचित्र लगता है किन्तु कवि ने स्वयं इस सम्बन्ध मे स्पष्टीकरण रचना के आरम्भ मे प्रस्तुत कर दिया है। श्रीकृष्ण रसरूप हैं। संसार में रस या प्रेम जो कुछ है श्रीकृष्ण के कारण से है—अतः रस सम्बन्धी चर्चा करने में कैसा संकोच। और फिर रस का मूल आधार तो नायक एवं नायिका है। अतः प्रेम-रहस्य जानने के लिये जिस प्रकार हाव-भाव-हेला आदि का ज्ञान आवश्यक है उसी प्रकार रस के सम्बन्ध में नायक नायिका का ज्ञान भी आवश्यक है। किन्तु इस निरूपण में विस्तार नायिका भेद का है, नायक-भेद के कुछ ही भेद दिये गए हैं। इस विषय का वर्णन करने में यद्यपि आधार-ग्रंथ रसमंजरी है फिर भी कवि ने नायिका-परिचय देते समय स्थान-स्थान पर सुन्दर उक्तियाँ कही हैं जो उसकी कवित्व-शक्ति की परिचायक हैं। वैसे काव्य-शास्त्र की अपेक्षा रस-परक उदाहरणों की दृष्टि से रचना का महत्त्व अधिक है। भानु-दत्त की 'रसमंजरी' से तुलना करने पर भी यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने अपनी इच्छानुकूल नायिका-भेद का विस्तार और संकोच किया है। लक्षण और उदाहरण देने के लिए अलग-अलग छन्दों की रचना भी नहीं की है। लक्षण और उदाहरण एक साथ प्रस्तुत किये गए हैं। इससे स्पष्ट है कि उनका उद्देश्य केवल परिचय देना था, नायिका-भेद पर ग्रंथ रचना नहीं; क्योंकि रस-साधना में प्रेम-तत्व का यह परिचय सहायक हो सकता है। अतः नन्ददास की यह रचना प्रेम-तत्व और रीतिशास्त्र का समन्वय प्रस्तुत करने वाली स्वतन्त्र रचना ही मानी जायेगी।

---

१. रूपमंजरी, दोहा २४५
२. देखिए पृष्ठ-संख्या २१-२२

७. विरहमंजरी

प्रेम के वियोग-पक्ष का विस्तार दिखाने के लिए कवि नन्ददास ने विरहमंजरी की रचना की है। यद्यपि कवि ने रचना के अन्त में यह बात स्पष्ट कर दी है कि श्रीकृष्ण के प्रेम में तल्लीन भक्त जिसका प्रत्येक क्षण श्रीकृष्ण के साथ व्यतीत होता है उसके लिये स्थूल लौकिक विरह जैसी अनुभूति अधिक संगत नहीं कही जा सकती। वहाँ नित्य-मिलन में कभी-कभी वियोग की भावना-सी हो जाती है। पर जब यह भाव मन में उभर आता है कि श्रीकृष्ण मेरे साथ हैं तो विरह भाव दूर हो जाता है। स्पष्ट है कि नन्ददास ने विरह की भावात्मक स्थिति ही स्वीकार की है।

यद्यपि विरहमंजरी को भी कवि ने एक कथा रूप देने का प्रयत्न किया है किन्तु यहाँ कथा का सूत्र बड़ा कच्चा है। केवल व्रजगोपियों के मन में श्रीकृष्ण-वियोग जनित अनुभूति दिखाने के लिए यह रचना प्रस्तुत की गई है। यदि इस विरह-काव्य को रूप-मंजरी का भाग बनाकर कवि सम्बद्ध कर देता तो सम्भवतः काव्य का अधिक निखरा हुआ एवं व्यवस्थित रूप प्रस्तुत हो सकता। कवि ने इस काव्य में विरह के चार भेदों—प्रत्यक्ष, पलकान्तर, वनान्तर और देशान्तर—का उल्लेख किया है। किन्तु ये विरह-भेद सामान्य नहीं केवल व्रज तक सीमित हैं। अतः इनका काव्यशास्त्रीय महत्त्व तो स्थिर नहीं किया जा सकता, केवल कृष्ण भक्ति-सम्प्रदाय की निधि इन्हें माना जा सकता है। इन चारों प्रकार के विरह को कवि ने उदाहरण देकर स्पष्ट किया है और ये उदाहरण श्रीकृष्ण सम्बन्धी हैं। इससे भी विरह के प्रस्तुत रूप की परिमितता स्पष्ट होती है। वैसे यह कवि की एक मौलिक रचना है जिसे केवल रस-साधना-परक प्रेम को स्पष्ट करने के लिए कवि ने प्रस्तुत किया है।

देशान्तर विरह के प्रसङ्ग में नन्ददास ने बारहमासा-वर्णन लेकर इस विशिष्ट विरह-वर्णन-पद्धति पर अपना अधिकार सिद्ध किया है। इन बारह महीनों के प्राकृतिक उद्दीपक वातावरण में गोपियों की मानसिक अवस्था चित्रित करने का प्रयत्न कवि ने किया है। चन्द्रमा को दूत रूप में कृष्ण के पास भेजते समय संदेश-सूचक अनेक उक्तियाँ काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से अत्यधिक सजीव हैं।[1]

८. भ्रमरगीत (भँवरगीत)

भँवरगीत की कथा उद्धव-गोपी संवाद के रूप में प्रसिद्ध कथा है किन्तु भागवत के इस प्रसङ्ग का आधार लेकर भँवरगीत लिखने की परम्परा हिन्दी-काव्य मे आज तक चल रही है। भँवरगीत नन्ददास की श्रेष्ठ रचनाओं में से है। इसमें कवि ने अपने ढंग से प्रसङ्ग का निर्वाह किया है।

भँवरगीत का आरम्भ बड़े नाटकीय ढंग से हुआ है। उद्धव और गोपी दोनों पात्रों का परिचय कराते हुए कवि ने कहा है कि उद्धव उपदेशक है और गोपी सभी

---

१. जलचर ज्यों जलभीर मैं, जानत नाहिन पीर।
   बिछुरि परैं जब नीर तैं, सच सचु जाने नीर ॥ दोहा, ३०

गुणों की आगरी है—ये गुण श्रीकृष्ण-प्रेम के अनुकूल है। सूरदास की गोपियों की भांति ये केवल भाव-प्रवण नही—व्रजनागरी भी हैं। यही कारण है कि नन्ददास की गोपियों के मर्म-स्पर्श का ढंग सीधी-साधी उक्तियाँ नहीं वरन् वचन-वक्रता है। और इस दृष्टि से गोपियों का नागरी होना अत्यधिक सार्थक है। इस परिचय में कवि की सहानुभूति निश्चित रूप से गोपियों के साथ रही है। इसीलिए उद्धव को केवल उपदेश सुनाने वाला बताकर उसने छुट्टी कर दी है। दूसरे छन्द में उद्धव के व्रज आगमन का लक्ष्य थोड़ा और स्पष्ट किया है। उपदेश में जिस नीरसता का आभास मिलता है, उसे 'श्याम-संदेस' बताकर सरस बनाने का प्रयत्न उद्धव करते हैं। मधुपुरी जाने की जो जल्दी उन्हे प्रतीत होती है उससे स्पष्ट है कि उनका हृदय वहाँ के वातावरण के अनुकूल नही है। उपदेशक का पूर्वाग्रह युक्त होना उपयुक्त भी है। अन्त का 'व्रजनागरी' सम्बोधन सार्थक है—इस रूप में कि उद्धव का उपदेश समझने के लिए 'नागरी' होना नितान्त आवश्यक है। स्पष्ट है कि उद्धव-गोपी-संवाद बहुत कुछ बुद्धि व्यापार है। स्याम-संदेश के कारण गोपियों की जो अवस्था हुई वह सर्वथा प्रेम के अनुकूल है, किन्तु उसे वर्ण्य विषय न बनाकर क्रिया-व्यंजित बनाया जाता तो कहीं अधिक प्रभावपूर्ण बन सकता था। पर कवि उनकी इस प्रेमावस्था को इतना अधिक तूल न देकर विषयान्तर नहीं करना चाहता।

कुशल-प्रश्न के उपरान्त कवि ने विभिन्न सात्विकी भावों द्वारा प्रेमाधिक्य सूचित करते हुए गोपियों की मूर्छा का उल्लेख किया है। और गोपियों की इस अवस्था में प्रबोधन के साथ उद्धव का उपदेश आरम्भ होता है। मूछित पड़ी गोपियों को ज्ञान-चर्चा द्वारा सान्त्वना देने का प्रयत्न उद्धव के उपदेशक रूप को और स्थिर कर देता है। उपदेश का आरम्भ ज्ञान-चर्चा से होता है—

वे तुम तें नहीं दूरि ज्ञान की आँखिन देखो।

यही ज्ञान ब्रह्मानुभूति का मूल आधार है। इस प्रकार दो बातों से उपदेश का आरम्भ होता है—(१) सम्पूर्ण सृष्टि का आधार ब्रह्म है और ब्रह्म की अनुभूति ज्ञान द्वारा होती है। अर्थात् साध्य है ब्रह्म—जो विश्व मे सर्वत्र व्याप्त है और उसे प्राप्त करने का साधन है—ज्ञान। इन्हीं दो बातों को चर्चा का विषय बनाकर पक्ष-विपक्ष की बहुत-सी बाते उद्धव-गोपी संवाद का विषय है। गोपियों को उद्धव द्वारा प्रतिपादित न तो ब्रह्म रूप स्वीकार्य है और न ही ज्ञान का मार्ग। एक ही पक्ति इस बात को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है—

हमरे सुन्दर स्याम प्रेम को मारग सूधो।

श्रीकृष्ण के रूप स्मरण से मूर्छित गोपियों पर उद्धव के वचनों ने वादी की ललकार का कार्य किया और वे उत्तर देने के लिए कटिबद्ध हो गईं। गोपियों ने उद्धव की दोनों बातों को अस्वीकार करते हुए श्रीकृष्ण के उस रूप को प्रस्तुत किया जो सगुण है, साकार है। इस पर उद्धव ब्रह्म के निर्गुण और निराकार रूप का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु गोपियों के व्यावहारिक तर्क के सम्मुख उद्धव को यह स्वीकार करना पड़ता है कि श्रीकृष्ण का रूप ब्रह्म से भिन्न नहीं है। फिर भी उन्होने परब्रह्म रूप को सच्चा और

कृष्ण रूप को केवल लीला-निमित्त स्वीकार किया गया अवतारी रूप एवं क्षणिक माना है। साथ ही ब्रह्म-विषयक विवाद से वे साधना की ओर बढ़ते हैं तथा योग-साधना का पक्ष पुष्ट करते हैं। स्पष्ट है कि गोपियों को श्रीकृष्ण के स्वरूप-स्थापन में सफलता मिलती है पर वे साधना के क्षेत्र में भी आगे बढ़ती है और योग की धूलि के समान निस्सारता तथा प्रेम की अमृत के समान अत्यन्त आवश्यकता की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए धूलि रमाने वालों का उपहास करती है। योगसाधना के धूलि वाले पक्ष को लेकर व्यर्थ के तर्कों के बाद कर्मयोग की चर्चा चलती है। उद्धव कर्म की सराहना करते हैं किन्तु गोपियो का तर्क है कर्म की उपादेयता श्रीकृष्ण की प्राप्ति में है और श्रीकृष्ण जिनको प्राप्त हो गए हैं उनके लिए कर्म केवल बन्धन है चाहे वह सोने की बेड़ी हो अथवा लोहे की। स्पष्ट है कि गोपियों का यह तर्क भक्त्याचार्यों का शास्त्र-सम्मत तर्क है अतः गोपियों की स्थिति केवल भावुक की स्थिति नही रह जाती। यहाँ स्पष्ट ही गोपियों के माध्यम से बल्लभ-सम्प्रदाय के विचार प्रस्तुत किये जा रहे है। कर्मयोग को उद्धव ने योग-साधना का ही रूप माना है। इसीलिए निष्काम कर्म करने अथवा समाधि लगाने में वह कोई अन्तर नहीं मानते। स्पष्ट है कि नन्ददास के उद्धव योग-साधना के अधिक सूक्ष्म रूप में जाने को तैयार नही है। साधना से विषय एक बार फिर ब्रह्म के सगुणत्व पर आता है और गुण-चर्चा पर तर्क-वितर्क आरम्भ होता है। इसके बाद फिर से कर्म की चर्चा, प्रेम-पक्ष की विशिष्टता, कर्म का परिणाम ही भक्ति है—अतः कर्म की उपादेयता, आत्मा के निष्कर्मत्व आदि की चर्चा एक बार फिर हमें गुण-चर्चा की ओर ले जाती है और यहाँ विषय पर एकदम पूर्ण विराम लग जाता है। गोपियो का अन्तिम तर्क है—प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। प्रेम की इस कथित प्रत्यक्षता को गोपियों के बाद के प्रलाप से जीवन मिलता है। इस प्रेमालाप मे दैन्य, विनय उपालम्भ, निवेदन, आक्रोश, व्यंग्य, भर्त्सना तथा प्रेमातिशय्य सभी कुछ है। उद्धव जो तर्क से परास्त नहीं हुए, वे प्रेम-तीव्रता के आगे हार जाते हैं—

देखत इनको प्रेम नेम ऊधो को भाज्यौ।

और फिर सही रूप मे भ्रमरगीत का प्रसङ्ग आरम्भ होता है जिसमें वचन-वक्रता, अर्थ-सौरस्य, हृदय-स्पर्शिता का उत्कृष्ट रूप हमारे सामने आता है। सम्पूर्ण छन्द के बाद जो दस शब्दों की टेक दी गई है वह इतनी सटीक है कि हृदय पर अमिट प्रभाव छोड़ती जाती है। इस टेक के सामने उद्धव के पिछले सभी तर्क बह जाते है। स्वयं उद्धव मन्त्र-मुग्ध है। यहाँ पाण्डित्य की पराजय है—प्रेम के आतिशय्य और हृदय की तीव्र-भावना से। प्रत्येक उक्ति मानो बहुत ही सजग कलाकार की रचना प्रतीत होती है। वर्णन का इतना सजीव और हृदय-स्पर्शी रूप नन्ददास ने शायद ही अपने किसी काव्य में प्रस्तुत किया हो—'फाटि हिय-दृग-चल्यो'। वास्तव में ही नन्ददास ने हृदय से साक्षात्कार कराने का सफल प्रयत्न किया है। उसके बाद का विषय तो गोपियों की विजय का डंका है जिसमें से चोट के अनुसार गोपियो की प्रशसा के सूचक विभिन्न स्वर निकलते हैं—

ये सब प्रेमासक्त होइ रहीं लाज कुल लोपि।

श्रीकृष्ण से मिलन के उपरान्त उद्धव-कृष्ण वार्तालाप और दोनों की दशा के चित्रण में इस 'प्रेम-रस-पुजनी' लीला का उचित उपसंहार हुआ है।

भ्रमरगीत के प्रसंग को भागवत से लिया गया है। किन्तु विषय का विवेचन कवि का सर्वथा मौलिक है। नन्ददास से पूर्व सूरदास आदि ने इसी विषय को लेकर भ्रमरगीत लिखे हैं किन्तु नन्ददास ने उनसे प्रेरणा ही ली है, अन्य कुछ नहीं। भ्रमरगीत में नन्ददास का विचार-व्याख्याता और प्रेमी रूप व्यक्त हुआ है। सूरदास के भ्रमरगीत में केवल प्रेमी रूप सामने आता है। प्रेम की व्यंजना भी बहुत ही सरल और सीधे-सादे ढंग से प्रस्तुत की गई है किन्तु नन्ददास मे यह प्रेम-व्यंजना उपालम्भपूर्ण वक्रता द्वारा व्यक्त हुई। अतः नन्ददास का भ्रमरगीत अपने ढंग की अलग रचना है। उन्होंने भागवत और सूर से प्रेरणा लेकर उसे स्वतन्त्र रूप से विकसित किया है।

९. गोवरधन लीला

कृष्ण-लीला-गान और कृष्ण-चरित्र की अलौकिकता स्पष्ट करने के निमित्त लिखी गई यह रचना भागवत का अनुवाद है। इन्द्रपूजा के दिन श्रीकृष्ण बाल-कौतूहल-वश उत्सव का कारण पूछते हैं और यह ज्ञात होने पर कि इन्द्र जल-वर्षा कर अन्न उपजाने में सहायक होता है, इसीलिए उसकी पूजा की तैयारी हो रही है—श्रीकृष्ण पूजा का विरोध करते हुए गोवर्द्धन-पूजा का समर्थन करते हैं। उसके बाद घोर वर्षा और श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्द्धन उठाकर व्रजवासियों की रक्षा का वर्णन है। भाव-चित्रण अत्यधिक न्यून है। हाँ, उत्सव का अच्छा चित्र प्रस्तुत किया गया है। काव्यत्व की दृष्टि से सर्वथा गौण यह कृति नन्ददास की मौलिक सूझ-बूझ का परिचय नहीं देती।

१०. स्याम-सगाई

भँवरगीत की टेक वाली शैली में राधा का स्वकीयात्व प्रतिपादित करने के लिए लिखी गई यह २८ छन्दों की संक्षिप्त रचना है। यद्यपि भँवरगीत-सी प्रौढ़ता—भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से इसमें नहीं मिलती, किन्तु लीला-वर्णन के निमित्त लिखी गई इस रचना का अपना स्वाभाविक सौन्दर्य है। स्थान-स्थान पर मानसिक भावों की व्यंजना और भाव-विशेष के कारण शारीरिक विकार का अच्छा चित्रण है। सम्पूर्ण रचना में हँसी-विनोद का वातावरण बना हुआ है।

कथा संक्षिप्त है। राधा के सौन्दर्य से प्रभावित यशोदा राधा की माता के पास स्याम की सगाई का संदेश भेजती है, पर प्रतिकूल उत्तर पाकर उसे निराशा होती है। कृष्ण उसकी निराशा का कारण जान राधा को अपने रूप और मुरली-मोहिनी से बस में कर लेते हैं। मिलन के लिए विकल राधा की सखियाँ एक उपाय सोचती हैं। राधा को काले साँप ने डस लिया है, यह कहकर वे उसकी माता को कृष्ण-गारुड़ी को बुलाने के लिए प्रेरित करती है। विह्वल माता अच्छी हो जाने पर राधा को स्याम के हाथ सौंपने को भी तैयार हो जाती है। और इस प्रकार स्याम-सगाई सम्पन्न होती है। विचार-गाम्भीर्य से शून्य इस विनोदपूर्ण रचना में सर्वत्र माधुर्य का समावेश हुआ है।

नाग से इसे जाने की बात सूरदास की राधा द्वारा भी कहलाई गई है किन्तु इस छोटे से प्रसङ्ग को लेकर उसे सम्बद्ध कथा के रूप में प्रस्तुत करना नन्ददास की मौलिक प्रतिभा का परिचायक है।

११. रुक्मिणीमंगल

भागवत के रुक्मिणी-हरण प्रसङ्ग पर आधारित इस रचना में कथा और भाव-व्यंजना का उचित समन्वय लक्षित होता है। भाई द्वारा शिशुपाल से अपने विवाह के दृढ़तापूर्वक समर्थन की बात सुनते ही श्रीकृष्ण मे आसक्त रुक्मिणी मलिन एवं चिन्तित वदन चित्रित की गई है। उस चिन्ता-जनित अवस्था का कवि ने विशेष विस्तार किया है। कहीं सात्त्विकी भावों का चित्रण है तो कहीं विरह-जन्य शारीरिक विकृति का। विवाह के मांगलिक वाद्य सुनकर तो उसकी अवस्था अत्यधिक दीन हो जाती है। यहाँ कवि ने मानसिक द्वन्द्व का भी चित्रण किया है। एक ओर लोकलाज है, दूसरी ओर चिन्ता है, इसके साथ ही श्रीकृष्ण के प्रति दृढ़ प्रेम है। यहाँ कवि ने श्रीकृष्ण के अलौकिक रूप की ओर संकेत किया है। सब सोच-समझकर रुक्मिणी पत्र द्वारा श्रीकृष्ण को अपनी प्रेमजनित निष्ठा से सूचित करती है। पत्र लेकर जब ब्राह्मण द्वारका पहुँचता है तो वहाँ के सौन्दर्य और वैभव का चित्र प्रस्तुत किया गया है। श्रीकृष्ण 'पाती' पढ़-कर प्रभावित होते है और तुरत कुण्डिनपुर पहुँच जाते है। अवसरानुकूल श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के सौन्दर्य-वर्णन के उपरान्त रुक्मिणी-हरण वर्णित है। और यही युद्धोचित उत्साह का सफल चित्रण कवि द्वारा हुआ है। प्रसङ्ग के माहात्म्य वर्णन के साथ रचना समाप्त हो जाती है।

रुक्मिणी-हरण की कथा भागवत के ५२ से ५४ वें अध्याय मे वर्णित है। रुक्मिणीमंगल में भागवत में वर्णित कथा के प्रायः सभी मुख्य-स्थल ग्रहण किये गए है। कुछ को अनावश्यक समझकर छोड़ भी दिया गया है। रुक्मिणी के भाई के वध के लिए प्रस्तुत श्रीकृष्ण का भयभीत रुक्मिणी द्वारा विरोध ऐसा प्रसङ्ग है। कुछ प्रसङ्ग कवि ने स्वयं जोड़े हैं—संदेश का पाती द्वारा भेजा जाना। कहने का तात्पर्य यह है कि नन्ददास ने कथा के अनुकूल परिशोधन एवं परिवर्तन भागवत की कथा मे किया है। कवि ने सौन्दर्य और भाव-चित्रण के प्रसङ्गों मे विस्तार किया है। स्पष्ट है कि कथा को अधिक कवित्वपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है। रुक्मिणी की मनोदशा के चित्रण में कवि को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। *अन्तर्द्वन्द्व के अतिरिक्त उत्सुकता, भय, चिन्ता और* हर्ष से उद्वेलित रुक्मिणी का यह चित्र अत्यधिक मार्मिक है—

> निकसि प्रान तब तन तें, द्विज के वचननि आये।
> तबहिं कह्यो हरि आये, मनु फिर बहुर्यों पाये॥[1]

सारांश यह कि नन्ददास ने भागवत से कथा लेकर उसे अत्यधिक सरस और भावपूर्ण बनाने के लिए अपनी कवि प्रतिभा से नया रूप देने का प्रयत्न किया है। यही कवि की मौलिकता है।

---

१. रुक्मिणीमंगल, ८१

१२. सुदामाचरित

सुदामाचरित के रूप में नन्ददास ने एक अकिंचन भक्त की गाथा कही है। यद्यपि सुदामा की भक्ति का आधार सख्य-प्रीति है जैसाकि लेखक ने स्वयं स्पष्ट किया है—

सखा आपुने श्री जदुनाथा। गुरुकुल पढ़े एक ही साथा।

किन्तु फिर भी उसमें दैन्य का अभाव है ऐसा नहीं कहा जा सकता। आरम्भ में ही सुदामा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए नन्ददास ने इस ओर संकेत किया है—

परम अकिंचन कछु नहिं चहैं। जथालाभ संतोषित रहैं।
दीन कृष्ण-चरननि रति सरसै। इहि संसार बयार न परसै॥

विरक्ति का भी उसमें अभाव नहीं है किन्तु फिर भी संसार यात्रा चलाने के लिए कुछ तो चाहिए। अतः पत्नी-प्रेरित सुदामा धन की इच्छा से द्वारकाधीश के पास जाते है। यही संक्षिप्त कहानी का आधार है। कहानी कहते हुए भी भक्ति-तत्त्व-प्रतिपादन कवि ने एक क्षण के लिए नहीं भुलाया। वैभवशाली श्रीकृष्ण के सम्मुख जाने में सुदामा का संकोच स्वाभाविक है। पर सुदामा की पत्नी का यह कथन उसे प्रोत्साहित करता है—

रीझत कछू देर नहिं आनै। केवल प्रीत रीत पहचानै।

प्रीति के अतिरिक्त सांसारिक विरक्ति की ओर भी कवि ने ध्यान दिया है। इसी कारण धन-मद की निन्दा करते हुए सुदामा भगवदनुग्रह पर विशेष बल देते है—

राखि लयो अपुनों कर जान्यो। परम अनुग्रह इतनों हम मान्यो।

अनुग्रह की यह बात पुष्टिमार्गीय भक्ति के सर्वथा अनुकूल है और फिर अन्त मे जब सुदामा की समृद्धि की बात आती है तो श्रीकृष्ण की दया और भक्ति भावना को ही उसका कारण स्वीकार किया जाता है। भक्ति-प्रतिपादन के अतिरिक्त द्वारकापुरी-वैभव का चित्रण और रुक्मिणी-प्रेम की चर्चा भी यहाँ की गई है। यह रचना भागवत पर मुख्यतः आधारित है, कवि की प्रतिभा का विशेष प्रदर्शन यहाँ लक्षित नही होता।

१३. भाषा दशमस्कन्ध

भागवत दशमस्कन्ध के प्रथम उनतीस अध्यायों का यह हिन्दी रूपान्तर है। यद्यपि कथा का आधार भागवत है और वह भी अध्याय-क्रम से किन्तु कहीं-कहीं यह भाषानुवाद न होकर भावानुवाद कहा जा सकता है। वस्तुतः इस रचना में कवि ने भागवत की दो टीकाओं—श्रीधर रचित भावार्थदीपिका' और आचार्य वल्लभ की 'सुबोधिनी' से पर्याप्त सहायता ली है। किन्तु लीला-वर्णन के प्रसंगों में कवि की काव्य-प्रतिभा के दर्शन हो जाते हैं। वैसे सम्पूर्ण रचना में कथा-तत्त्व की प्रधानता है। इस रचना में श्रीकृष्ण-जन्म से लेकर रासलीला के आरम्भ तक के सभी प्रसंगों की भागवत के आधार पर चर्चा की गई है। श्रीकृष्ण के जन्म के समय स्तुति के रूप में उनकी अलौकिकता, भक्ति की महिमा आदि विषयों की चर्चा है। पूतना-प्रसंग, तृणावर्त्त प्रसंग आदि बाल-लीला के वे प्रसंग है—जिनमें श्रीकृष्ण की अलौकिकता स्थापित की गई है।

स्पष्ट है कि लीला-वर्णन के इन प्रसंगों में सिद्धान्त-पक्ष को भी स्थान-स्थान पर प्रस्तुत किया गया है। श्रीकृष्ण के स्वरूप-स्पष्टीकरण में सम्प्रदाय-विशेष के सिद्धान्तों को सदैव ध्यान में रखा गया है।

तुम परमेश्वर सब के नाथ। विस्व समस्त तिहारे हाथ।
छिनक में करौ, भरौ संहरौ, ऊर्ननाभि लौं फिरि विस्तर्‌यो॥
तुम तें हम सब उपजत ऐसें। अगिनि तें विस्फुलिंग गन जैसें॥[1]

उक्त पंक्तियां अणुभाष्य के जगत् विषयक सिद्धान्त का अनुवादमात्र प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार प्रेमाभक्ति के प्रतिपादन में भी उन्होंने भागवत से इतर साम्प्रदायिक विचारों पर विशेष बल दिया है। फिर भी यह बात निश्चित है कि सिद्धान्त-निरूपण की अपेक्षा नन्ददास ब्रज और ब्रज-लीलाओं के वर्णन में विशेष स्वस्थ प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार के वर्णनों में स्वाभाविकता और सरसता दृष्टिगत होती है। शैली में कहीं-कहीं रामचरित-मानस की उपदेशात्मक शैली का प्रभाव लक्षित होता है। तात्पर्य यह कि भाषा दशमस्कन्ध कवि की ऐसी कृति है जिसमें नन्ददास ने कुछ ही स्थलों को छोड़कर शेष में अनुवाद प्रस्तुत किया है।

१४. नन्ददास की पदावली

विषय-वैविध्य और शैली-वैविध्य की दृष्टि से पदावली का महत्त्व है। लेखक के निजी विचार, गुरु-स्तुति, मांगलिक उत्सव, बाल-लीलाओं का वर्णन और किशोर-लीलाएँ—यही स्थूल रूप से पदावली का विषय है। शैली में वर्णनात्मक, कथा-प्रधान, गेयात्मक—सभी शैलियों का प्रयोग नन्ददास ने किया है। निजी विचारों में कुछ का सम्बन्ध निश्चित रूप से सम्प्रदाय के सामान्य विचारो से है और कुछ अन्य उनके नितान्त निजी विचार कहे जा सकते हैं। राम और कृष्ण का जो समन्वित इष्ट रूप नन्ददास ने अपनी पदावली में प्रस्तुत किया है—उससे उनके जीवन के बारे में यह बात निश्चित रूप में ज्ञात होती है कि उनका उस प्रदेश-विशेष से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा जहां रामभक्ति का विशेष प्रसार था। इन्ही संकेतों के आधार पर उनका तुलसीदास से सम्बन्ध स्वीकार किया जा सकता है।

नन्ददास के ये दोउ ठाकुर,
दशरथ सुत बाबा नन्दकिशोर।[2]

यह सत्य है कि राम अथवा सीता की स्तुति में उन्होने दो-तीन छन्दो से अधिक नहीं लिखा, किन्तु ये पद इष्टदेव के सम्बन्ध में उनकी धारणा को बहुत स्पष्ट करते है। कहा जाता है कि तुलसीदास ने उन्हें रामभक्ति के लिए बार-बार प्रेरित किया किन्तु अपनी मानसिक दशा के अनुकूल उन्होने लीला-पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की भक्ति में मन रमाया, किन्तु राम की अवहेलना वे नहीं कर सके।

---

१. न० ग्र०, पृष्ठ १९७
२. वही, पदावली ३

विट्ठलनाथ स्तुति में व्यक्त भावों से नन्ददास की श्रद्धा, निष्ठा, गुरुभक्ति आदि व्यक्त होती है। यह बात सत्य है कि नन्ददास का जो कुछ भी मान आज भक्त-समाज में है उसका श्रेय गुसाईं विट्ठलनाथ को ही है। अतः उनकी स्तुति में इस प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति सर्वथा स्वाभाविक है—

प्रात समैं श्री वल्लभसुत को उठतहि रसना लीजै नाम।
आनंदकारी मंगलकारी, अशुभहरन जन पूरन काम ॥[1]

कुछ पदों मे वल्लभ-स्तुति करते हुए नन्ददास ने रसिक भक्ति-पद्धति की चर्चा की है, जिससे यह ज्ञात होता है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ के समय से वल्लभ सम्प्रदाय में इस प्रकार के भाव की भक्ति का विशेष प्रसार हुआ। निम्न पंक्तियाँ पाठक का ध्यान इस दिशा में विशेष रूप से आकर्षित करती हैं—

पुष्टि मरजाद भजन, रस, सेवा, निज-जन पोषन भरन।
'नन्ददास' प्रभु प्रगट रूप धरि श्री विट्ठल गिरिधरन ॥[2]

नन्ददास ने बाल-लीला सम्बन्धी पदों का विस्तार अधिक नहीं किया है। यद्यपि कुछ बाल-लीलाओं का वर्णन अथवा बाल-सौन्दर्य का वर्णन उपलब्ध हो जाता है किन्तु बच्चों के भाव-क्षेत्र का वह विस्तार जो सूरदास में है, नन्ददास मे नहीं है। नन्ददास का मन प्रेम-लीलाओं के वर्णन मे अधिक रमा है। यह सत्य है कि एक ही पक्ष को लेकर उसके विविध रूपों को अत्यधिक सूक्ष्मता और तन्मयता से यहाँ नहीं देखा गया किन्तु फिर भी सभी प्रमुख लीलाओं में से किसी को छोड़ा नही गया है। इन लीलाओं के वर्णन में नन्ददास का ध्यान केवल संयोग पक्ष की ओर रहा है—प्रवासजनित वियोग-पक्ष तो प्रायः छूट गया है। पदावली में नन्ददास का मन प्रेम की संयोगात्मक लीलाओं की ओर विशेष रूप से रहा है। शायद उनकी रसिक-वृत्ति ने इन्हीं लीलाओं का आश्रय लेकर अपने को भगवतोन्मुख कर लिया। नन्ददास के ऐसे पद उनकी प्रेमाभक्ति के परिचायक है—

केलिकला कमनीय किसोर, उभय रस-पुंजन कुंजन नेरें।
हास, विनोद, कियों बलि आली, कितो सुख होतु है हरि हेरें।
बेली के फूल प्रिया लै पिय पैं, डारे की उपमा यौं होत मन मेरें।
'नन्ददास' मनो सांझ समै, बग-माल तमाल को जात बसेरें ॥[3]

पदावली पर समकालीन कवियों में सूरदास, तुलसीदास और रसखान की शैली का प्रभाव लक्षित होता है। सूरदास के नन्ददास पर प्रभाव की ओर डॉ० मनमोहन गौतम ने अपने शोध-प्रबन्ध 'सूर की काव्य-कला' में विचार व्यक्त किये है।[4] तुलसीदास की गीतावली मे बाल-वर्णन के इस पद का प्रभाव—

१. न० ग्र०, पदावली ११
२. वही, पदावली ८
३. न० ग्र०, पदावली ७६
४. सूर की काव्य-कला, पृष्ठ २४०-४६

छोटी छोटी गोड़ियां, अंगुरियां छबीली छोटी,
नख-जोति मोती मानो कमल-दलनि पर।
ललित आंगन खेलें, ठुमुक-ठुमुक चलें,
झुंझुनु झुंझुनु पांय पेंजनी मृदु मुखर ॥[1]

नन्ददास के इस पद में लक्षित किया जा सकता है—

छोटो सो कन्हैया, मुख मुरली मधुर छोटी,
छोटे-छोटे ग्वाल-वाल, छोटी पाग सिर (न) की।[2]

वैसे सूरसागर में इसी प्रकार की शब्दावली और भावयुक्त पद प्राप्त होता है। रसखान के प्रसिद्ध सवैया—'मानुष हौं तो वही रसखान वसौं व्रज गोकुल गांव के ग्वारन' का भाव नन्ददास की व्रज-महिमा-सम्बन्धी इस सवैये में देखा जा सकता है—

जो गिरि रुचे तो बसो श्री गोवर्द्धन, गाम रुचे तो बसो नंद गाम।
नगर रुचे तो बसो श्री मधुपुरी, सोभा सागर अति अभिराम॥
सरिता रुचे तो बसो श्री जमुन तट, सकल मनोरथ पूरण काम।
'नंददास' कानन रुचे तो, बसो भूमि वृन्दावन धाम॥[3]

वैसे शैली की दृष्टि से यह नन्ददास की आरम्भिक रचना प्रतीत होती है और रसखान का कविता-काल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वि० सं० १६४० के बाद माना है।[4] अतः सम्भव है यह भाव मूलतः नन्ददास का हो जिसे रसखान ने ग्रहण किया हो। वैसे समकालीन कवियों में शैलीगत आदान-प्रदान स्वाभाविक है। इस आदान-प्रदान के अतिरिक्त नन्ददास की पद रचना मे अभिव्यक्तिगत मौलिकता सर्वत्र लक्षित होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नन्ददास की रचनाओं के आधार ग्रंथ है—भागवत, अमरकोप, अनेकार्थ समुच्चय और भानुदत्त रचित रस मंजरी। इनके अतिरिक्त सूरदास, तुलसीदास आदि से कवि ने प्रेरणा ग्रहण की है। किन्तु अन्य कृष्ण-भक्त कवियों के समान नन्ददास का मूल-स्रोत भागवत रहा है। श्रीमद्भागवत का भी दशमस्कन्ध उनका विशेप आधार रहा है। क्योकि कृष्ण-चरित्र का लोलात्मक रूप इसी में स्पष्ट हुआ है। नन्ददास ने उक्त सभी ग्रंथों से सामग्री ग्रहण की है किन्तु उन्हे अपनी रुचि के अनुसार स्वतंत्र रूप से प्रस्तुत किया है। अतः आवश्यक का ग्रहण और अनावश्यक का त्याग सर्वत्र-लक्षित होता है। साथ ही अपनी कवित्व-शक्ति से उन्होंने रचना को सरस बनाने का प्रयत्न सर्वत्र किया है। इसलिए नन्ददास की प्रायः सभी रचनाएँ स्वतंत्र कही जा सकती है। उनकी रचनाओं में विषय और शैलीगत नवीनता के अति-

---

१. गीतावली, बालकाण्ड, पद ३३
२. न० ग्र०, पदावली ३३
३. न० ग्र०, पदावली २२
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १६२

रिगत एक विशेष दृष्टिकोण लक्षित होता है जो सभी रचनाओं को एक सूत्र में बाँध देता है और यह दृष्टिकोण उनकी रस-साधना से सम्बद्ध है। इसलिए, चाहे कोष ग्रंथ हो अथवा काव्यशास्त्र सम्बन्धी रीति-रचना—सभी की रसात्मकता निस्संदिग्ध है।

नन्ददास की रचनाओं के उक्त परिचय से उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पक्ष स्पष्ट हो जाते हैं। नन्ददास ने एक जिज्ञासु-अध्ययनशील व्यक्ति के रूप में कविता-लेखन आरम्भ किया। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में सामान्य कृष्ण-भक्ति और सम्प्रदाय-सम्बन्धी विचारों का आभास मिलता है। धीरे-धीरे उनका साधना-विषयक दृष्टिकोण स्पष्ट होने लगा, उनके विचार स्थिर होने लगे और उनकी कवित्वशक्ति का विकास हुआ। परिणामतः उनके व्यक्तित्व के विचारक, रसिक और कलाकार पक्ष उभरने लगे। अपने अध्ययन काल में नन्ददास ने साम्प्रदायिक सिद्धान्त-ग्रंथों का पारायण करते हुए यह अनुभव किया कि अनेक संस्कृत-शब्दों के अर्थ को जानना विषय को सुगम बनाने के लिए आवश्यक है। अतः उन्होंने कुछ कोष-ग्रंथ भी देने। 'अनेकार्थ भाषा' और 'नाम-माला'—इसी का परिणाम है। किन्तु इन रचनाओं को प्रस्तुत करते हुए भी उनका दृष्टिकोण भक्तिपरक और लीलापरक बना रहा। यही बात रसमंजरी के सम्बन्ध में कही जा सकती है। प्रेमतत्व-व्यंजना में सहायक होने के कारण उन्होंने नायक-नायिका भेद का संक्षिप्त परिचय कराया है। परन्तु रचना के आरम्भ में अपने रसविषयक दृष्टि-कोण को स्पष्ट करते हुए कवि का यह कथन—

रूप प्रेम आनंद रस, जो कुछ जग में आहि।
सो सब गिरिधर देव को, निधरक बरनौं ताहि॥[1]

यह व्यक्त करता है कि नायक-नायिका भेद-सम्बन्धी रचनाएँ उसकी रस-साधना के स्वरूप को स्पष्ट करने के साधन मात्र हैं। अतः कोष ग्रंथ और रस मंजरी में व्यक्त नन्ददास का आचार्य रूप अत्यधिक गौण है। वहाँ भी उनका रसिक रूप सामने आता है। तात्पर्य यह कि नन्ददास के काव्य में उनके व्यक्तित्व के तीन रूप प्रधान हैं—विचारक, रसिक और कलाकार तथा आचार्य रूप अप्रधान है। प्रस्तुत ग्रंथ का उद्देश्य इसीलिए नन्ददास के उक्त रूपों का परिचय कराना है। आचार्य रूप पर भी हमने अलग से विचार किया है किन्तु हमारा मुख्य विवेच्य नन्ददास के व्यक्तित्व के प्रधान रूप ही है।

नन्ददास की रस-साधना एकान्तिक है। सिद्धान्तपंचाध्यायी मे उन्होने इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है।[2] यही कारण है कि उनकी रचनाओं मे तत्कालीन समाज का चित्र प्रायः नही है। उनकी सभी रचनाएँ केवल साधना का प्रेम-पक्ष स्पष्ट

---

१. रसमंजरी, दोहा ७

२. सकल शास्त्र सिद्धान्त परम एकान्त महा रस।
जाकै रंचक सुनत गुनत श्रीकृष्ण होत बस॥ दोहा, १३६

करती हैं। किन्तु फिर भी यत्र-तत्र सामाजिक उत्सव[1], शृंगार-प्रसाधन[2], नट-विट[3], ठग[4], ब्राह्मण का सम्मान[5] आदि के संकेत उनकी रचनाओं में उपलब्ध हो जाते है जिनसे नन्ददास के देखे हुए समाज का कुछ रूप सामने आता है। पर ये संकेत अनायास ही उनकी रचनाओं में आ गए हैं। वैसे नन्ददास का काव्य-रचना-सम्बन्धी उद्देश्य रस-साधना के स्वरूप को ही स्पष्ट करना है। अतः नन्ददास की रचनाओ के अध्ययन में इस उद्देश्य को सम्मुख रखना नितान्त आवश्यक है। अन्यथा नन्ददास के प्रति हम उचित न्याय नहीं कर सकेंगे।

---

१. पदावली में श्रीकृष्ण-जन्म और श्रीकृष्ण-राधा विवाह का प्रसंग है। इसके अतिरिक्त नामकरण संस्कार और दहेज देने की प्रथा का उल्लेख श्रीमद्भागवत में क्रमशः श्रीकृष्ण-जन्म और देवकी विवाह पर देखा जा सकता है। सगाई पर तो श्यामसगाई की रचना ही हुई है।
२. रूपमंजरी और रुक्मिणीमंगल में
३. दृष्टि-बन्ध कै दुरैं बहुरि प्रगटै नटविट ज्यों। रासपंचाध्यायी, ४-२
४. सुधि-बुधि सब मुरली हरी प्रेम-ठगौरी लाइ ।। भ्रमरगीत, ८
५. रुक्मिणीमंगल में

विचारक

विचारक शब्द से सामान्यतः जो अर्थ ग्रहण किया जाता है, नन्ददास उस अर्थ में विचारक नहीं थे। किन्तु नन्ददास ने वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का समुचित अध्ययन और मनन किया था। इसके अतिरिक्त कुछ विचार उन्हें संस्कारों से भी प्राप्त हुए थे। इन सभी विचारों को उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है किन्तु केवल व्याख्याता के रूप में। मौलिक विचारों का प्रतिपादन उनका लक्ष्य नहीं था। वे भक्त, कवि, प्रेमी—सभी कुछ हो सकते है पर सिद्धान्त प्रतिपादक, आचार्य नहीं। इसीलिए उनकी रचनाओं में विचारों के रूप में जो कुछ मिलता है वह दूसरों से गृहीत हैं—हाँ यह सत्य है कि इन सभी विचारों को उन्होंने अपना बनाकर प्रस्तुत किया है। और इन्ही विचारों से परिचित कराना हमारा प्रस्तुत अध्याय का लक्ष्य है। अत. 'विचारक' शब्द उनकी रचनाओं में प्रस्तुत होने वाले विचारों का ही द्योतक है।

नन्ददास के विचारों का मुख्य स्रोत जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्त है। ये सिद्धान्त शुद्धाद्वैत और पुष्टि-भक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। शुद्धाद्वैत वल्लभ सम्प्रदाय के दार्शनिक विचारों का आधार है और पुष्टिभक्ति एवं पुष्टि मार्ग भक्ति-सम्बन्धी विचारों का। इसलिए इनका संक्षिप्त परिचय नन्ददास के विचारों को समझने के लिए आवश्यक है। यहाँ हम पहले शुद्धाद्वैत और फिर पुष्टिभक्ति तथा तदनुसार नन्ददास के तत्सम्बन्धी विचारों पर क्रमशः प्रकाश डालेंगे।

शुद्धाद्वैत

आचार्य वल्लभ की विचारधारा को सैद्धान्तिक दृष्टि से शुद्धाद्वैत, ब्रह्मवाद और अविकृत परिणामवाद—इन विभिन्न नामो से अभिहित किया जाता है। आचार्य के विचार से यह समस्त सृष्टि अपने मूल रूप मे शुद्ध है क्योंकि शुद्ध ब्रह्म ही इसका कारण है। अतः माया-सम्बन्ध से रहित शुद्ध ब्रह्म का कार्य रूप जगत् किसी प्रकार मायिक नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि जगत् का कारण और कार्य माया-शबलित ब्रह्म नहीं है। अतः ब्रह्म और जगत् में परस्पर अद्वैत का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध माया से रहित शुद्ध है। इस दृष्टि से आचार्य का सिद्धान्त शुद्धाद्वैत कहा गया है।[1] दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा

---

१. माया सम्बन्धरहित शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धब्रह्म न मायिकम्॥ शुद्धाद्वैत मार्त्तण्ड, गिरिधरप्रणीत

जा सकता है कि जगत् में जो कुछ है वह सब ब्रह्मरूप है । जीव और जगत् दोनों ब्रह्म रूप होने के कारण सत्य हैं । यही ब्रह्मवाद है।[1] अविकृत परिणामवाद इस सिद्धान्त को इसलिए कहा जाता है कि जगत् ब्रह्म का परिणाम होते हुए भी अविकारी एवं शुद्ध है इस प्रकार की अविकृत भावावस्था संसार के अन्य किसी पदार्थ मे उपलब्ध नही होती। इस विकृति के कारण ही परिणाम और कारण एक नही हो सकते । जैसे दूध और दही। किन्तु ब्रह्म और जगत् एवं जीव के बारे मे यह स्थिति नहीं है । इसलिए जीव, जगत् और ब्रह्म को शुद्ध मानने के कारण वल्लभ के इस सिद्धान्त को अविकृत परिणामवाद नाम दिया गया है ।

वल्लभाचार्य ने अपने सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए वेद, उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भागवत के सैद्धान्तिक पक्ष का आश्रय लिया है । तत्वदीप निबन्ध में एक स्थान पर उन्होंने 'प्रस्थान-चतुष्टय' की चर्चा करते हुए उक्त ग्रन्थों की ओर स्पष्ट निर्देश किया है ।[2] इस दृष्टि से आचार्य वल्लभ ने स्वयं अनेक ग्रन्थों की रचना की है । इनमें से कुछ भाष्य है और कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं । इनमें से ब्रह्मसूत्र पर अणु-भाष्य, सुबोधिनी (भागवत की टीका), षोडश ग्रन्थ तथा तत्वदीप निबन्ध अधिक प्रसिद्ध हैं । इन ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का विस्तार दिखाना यहाँ अभीष्ट नहीं है, फिर भी नन्ददास के विचारों की पृष्ठभूमि के रूप में हम यहाँ उनका परिचय दे रहे हैं।

ब्रह्म

ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप, व्यापक, अव्यय, सर्वशक्तिमान, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ और गुणों से वर्जित है ।[3] वह सत्य आदि सहस्रों गुणों से युक्त है और अनेक प्रकार से सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदों से रहित है । स्पष्ट है कि सम्पूर्ण सृष्टि का मूल कारण होते हुए वह सजातीय चेतन सृष्टि, विजातीय जड सृष्टि और स्वगत अन्तर्यामी रूप सृष्टि से अभिन्न है ।[4] वह सम्पूर्ण सृष्टि का एकमात्र आधार होते हुए भी सब प्रापञ्चिक पदार्थों से सर्वथा भिन्न एवं विलक्षण है ।[5] वह जगत् का समवायी (उपादान)

---

१. आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा ।
इतिश्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथा मतिः ।
अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम् ।। १७९,१८० त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण

२. वेदा : श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि ।
समाधि भाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ।। वही ७, ९

३. सच्चिदानन्दरूप तु ब्रह्म व्यापकमव्ययम् ।
सर्वशक्तिस्वतन्त्रंच सर्वज्ञं गुणवर्जितम् ।। त० दी० नि० शास्त्रार्थ प्रकरण

४. सजातीय विजातीय स्वागत द्वैत वर्जितम् ।
सत्यादि गुणसाहस्रैर्युक्तमोत्पत्तिकैः सदा ।। वही, शास्त्रार्थ प्रकरण

५. सर्वाधारं वश्यमायमानंदकार मुत्तमम् ।
प्रापंचिक पदार्थानां सर्वेषां तद्विलक्षणम् ।। वही, शास्त्रार्थ प्रकरण

श्रौर निमित्त कारण है। श्रौर इच्छानुसार अपनी ही सृष्टि में कभी-कभी वह रमण करता है।[1]

वह सगुण भी है, निर्गुण भी है। उसमें सब प्रकार के परस्पर विरोधी गुण दृष्टिगत होते हैं।[2] इसकी व्याख्या करते हुए तत्वदीप निबन्ध में कहा गया है कि ब्रह्म सृष्टिकर्त्ता होते हुए भी सगुण नहीं है। फिर भी वह सगुण इसलिए कहा गया है कि जड़-चेतन, जो ब्रह्म का अंश है—सगुण है। इस पर भी ब्रह्म अप्राकृत गुणों से युक्त होने के कारण निर्दोष है। वह स्वतन्त्र है श्रौर जड़ शरीर के गुणों से रहित है।[3] ब्रह्म में आविर्भाव श्रौर तिरोभाव की शक्ति है। इसी शक्ति से वह अनेक से एक श्रौर एक से अनेक रूप धारण करता है।[4] इस सम्पूर्ण सृष्टि का आविर्भाव ब्रह्म से होता है श्रौर ब्रह्म में ही उसका तिरोभाव होता है।[5] वह भक्तों की इच्छा के अनुरूप स्वयं नाना प्रकार के वेष धारण करते हैं किन्तु इस प्रकार अपने को विभिन्न रूपों में प्रकट करके भी वह शुद्ध रहते है।[6] नाना प्रकार के कार्यों को करते हुए वह उनके फल रूप बन्धन में आबद्ध नहीं होते।[7] वह स्वयं आनन्दमय है श्रौर उन्हीं की कृपा से जीव को आनन्द की प्राप्ति होती है। भगवान् के सद्रूप से जगत्, चिद्रूप से जीव श्रौर वे स्वयं आनन्दरूप से स्थित रहते हैं[8]। वह ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य श्रौर तेज—इन छः गुणों से युक्त हैं।[9] वह कालादि भय के निवारक तथा भक्तों को मोक्ष देनेवाले हैं।

लीला के निमित्त भगवान् ने कई अवतार धारण किये है। इन अवतारों में से गोकुल में प्रकट हुए श्रीकृष्ण पूर्णावतार है श्रौर शेष सभी अंशावतार हैं। यही कृष्ण भक्तों के सेव्य है। ये अन्तर्यामी रूप से जीव के हृदय में सदा विद्यमान रहते हैं।[10] उनके अवतार का उद्देश्य भक्तों का दुःख निवारण तथा निज लीलाओं का विस्तार है—जिन्हें श्रवण कर तथा गाकर भक्त संसार-बन्धन से मुक्ति पाते है।[11]

---

१. जगतः समवायि स्यात् तदेव च निमित्तकम्।
कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रपंचेऽपि क्वचित्सुखम् ॥ वही, शास्त्रार्थ प्रकरण
२. भगवति सर्वे विरुद्ध धर्मा दृश्यन्ते वेदान्तसूत्र, ३-२-११ पर अणुभाष्य
३. निर्दोषपूर्ण गुण विग्रह आत्मतंत्रो, निश्चेतनात्मकशरीर गुणैश्च हीनः।...
त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण
४. आविर्भावतिरोभावैर्मोहनं बहुरूपतः। वही, शास्त्रार्थ प्रकरण
५. आविर्भावतिरोभावौ पदार्थानां यतस्ततः। वही
६. तत्वदीपनिबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण, ७७
७. भगवानेव संसारे स्थितो न बद्धचते। भागवत, १०-३-१ पर सुबोधिनी
८. जगद्रूपी भगवान सद्रूपः, चिद्रूपाः जीवात्मनः, आनन्दरूपः स्वयं तेषां फलरूपः।
भागवत, १०-३-१७ पर सुबोधिनी
९. वस्तुतस्तु भगवान षड्गुणसम्पन्नः। भागवत, १०-३-४६ पर विट्ठलनाथ की टिप्पणी
१०. १५, सिद्धान्तमुक्तावली : षोडश ग्रंथ (वल्लभाचार्य)
११. वेदान्तसूत्र, ४-१-१४ पर अणुभाष्य

ब्रह्म के सम्बन्ध में आचार्य वल्लभ के जिन विचारो को ऊपर व्यक्त किया गया है उनसे स्पष्ट है कि अन्य भक्त्याचार्यो के समान वल्लभाचार्य ने भी ब्रह्म के स्वरूप-स्पष्टीकरण में शंकराचार्य के मायावाद के निरास का विशेष ध्यान रखा है। ब्रह्म के शुद्ध एवं अविकृत रूप प्रतिपादन के साथ-साथ उसके सगुणत्व और लीला रूप पर भी विशेष बल दिया गया है।

जीव—आचार्य वल्लभ के अनुसार भगवान् का चिदंश जीव है। जीव की सृष्टि भगवत् सेवा के निमित्त हुई है। जीव वास्तव में ब्रह्म से भिन्न नही है, वे सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म से उसी प्रकार उद्भूत हुए हैं जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिंग।[1] किन्तु भगवान् के अंश होने पर भी जीवों मे हीरा, माणिक्य आदि पाषाणो की भांति उच्चता और निम्नता पाई जाती है।[2]

जीव और ब्रह्म में भेद ऐश्वर्य, आनन्दादि गुणों के तिरोभाव के कारण है। ऐश्वर्य के तिरोभाव के कारण जीव भोगों की इच्छा करता है और उन्ही की प्राप्ति के लिए नानाविध कर्म करता है। इन कर्मों के अनुसार उसे सुख और दुःख की प्राप्ति होती है।[3] अतः जीव को केवल ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानकर मिथ्या मानना असंगत है।[4] जीवभाव को प्राप्त होने से उसका आनन्दांश तिरोहित हो गया है, नष्ट नही हुआ।[5] अपने पुरुषार्थ से तथा भगवत्कृपा से जीव को आनन्द की अनुभूति हो सकती है—और अनुभव योग्यता ही आनन्दांश का आविर्भाव है।[6]

वल्लभाचार्य के अनुसार जीव तीन प्रकार के है—प्रवाहमार्गी, मर्यादामार्गी और पुष्टिमार्गी। नित्य संसारी सुखों में लिप्त जीव प्रवाहमार्गी है, वेद विधि के अनुकूल कर्म में लगे हुए जीव मर्यादामार्गी है और केवल भगवत्-सेवा मे तल्लीन रहने वाले जीव पुष्टिमार्गी कहलाते है। इन्हें ही भक्त कहा गया है। प्रवाहमार्गी जीव भगवान् की आसुरी जीव-सृष्टि है। इनके दो भेद हैं—दुर्ज्ञ और अज्ञ।[7] दुर्ज्ञ जीवों का कभी उद्धार नही होता और अज्ञ जीव भगवान् के हाथों से मृत्युग्रस्त होने पर मुक्ति लाभ करते है। मर्यादामार्गी और पुष्टिमार्गी जीव भगवान् की दैवी जीव सृष्टि है। मर्यादामार्गी जीवों को शास्त्रानुकूल कर्म करने से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है और तदनन्तर मोक्ष लाभ

---

१. विस्फुलिंगा इवाग्नेर्हि जड़जीवाः विनिर्गताः।
संदशेन जड़ापूर्वं चिदंशेनेतरे परं ॥ २-३-४३ वेदान्तसूत्र पर अणुभाष्य

२. वेदान्तसूत्र, २-१-२३ पर अणुभाष्य

३. जीवानां कर्मानुरोधेन सुखदुःखे प्रयच्छतीति। वे० सू० २-१-३४ पर अणुभाष्य

४. न तु सर्वथा प्रतिबिम्ब मिथ्यात्वं। २-३-५० पर अणुभाष्य

५. तेनाविर्भाव तिरोभाव श्रुत्यभिमतां, नाशोत्पत्तिप्रतीतिभ्रांतेति। विद्वन्मण्डन, पृष्ठ ३६

६. अनुभवविषययोग्यता आविर्भावः तद्विषयत्वायोग्यता तिरोभावः। विट्ठलनाथ कृत विद्वन्मण्डन, पृष्ठ ४४

७. जीवास्ते ह्यसुराः सर्वे प्रवृत्ति चेति वर्णिताः।
ते च द्विधाप्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञ दुर्ज्ञ विभेदतः ॥ पुष्टि प्रवाह मर्यादाभेद, २४

होता है। भगवान् अपनी इच्छानुसार इन जीवों को मायुज्य से निकालकर अपनी लीला में लेते हैं। तब ये जीव भी पुष्टि-सृष्टि की कोटि में आ जाते हैं।[1] पुष्टिमार्गी जीवों का आविर्भाव भगवान् का लीला-रूप विशेष कार्य सिद्ध करने के लिए होता है। इस कोटि के जीव केवल भगवान् के अनुग्रह पर निर्भर रहते हैं।

जगत्—ब्रह्म के सदंश से जगत् की सृष्टि हुई है। जगत् अनेक रूपात्मक है किन्तु ये सभी रूप ब्रह्म के सदंश से ही उद्भूत हैं। इसीलिए जगत् ब्रह्मरूप है—ब्रह्म से भिन्न नहीं। वह मायारहित एवं शुद्ध है। ब्रह्म से पृथक् जगत् आकाश पुष्प की भाँति मिथ्या है।[2] जगत् से भिन्न संसार जीव के निजी विकारों की सृष्टि है।[3] दूसरे शब्दों में, संसार का उपादान कारण अविद्या माया और निमित्त कारण अविद्या माया से प्रच्छन्न जीव है। इसीलिए मोक्ष दशा में संसार अदृश्य हो जाता है, पर जगत् उसी समय विलीन होता है जब भगवान् केवल अपने में क्रीड़ा करने के निमित्त समस्त सृष्टि को अपने में समेट लेते हैं।[4]

माया—आचार्य वल्लभ के अनुसार माया के दो रूप हैं—विद्या और अविद्या।[5] इन्हीं दो रूपों के द्वारा भगवान् संसार का प्रसार करते हैं। यह माया भगवान् के अधीन है किन्तु जीव माया के अधीन है। उक्त दोनों माया-रूपों में से अविद्या माया जीव के संसार में बन्धन का कारण है और विद्या माया संसार से मोक्ष का। वस्तुतः अविद्या माया से प्रेरित होकर ही जीव अपनी कल्पना से संसार की सृष्टि करता है। और फिर उसी में अज्ञानवश आसक्त हो बंध जाता है।

यह अविद्या माया संसार में जीव का बंधन कराने के निमित्त दो रूपों में अज्ञान का प्रसार करती है—सत्य ज्ञान के आच्छादन द्वारा[6] और असत्य ज्ञान की प्रतीति द्वारा। जीव-जगत्-ब्रह्म वस्तुतः एक हैं किन्तु इनमें भिन्नत्व का भाव अविद्याजनित अहंकार के कारण ही होता है। इसी प्रकार सांसारिक राग-द्वेष का सम्पूर्ण प्रसार असत्य ज्ञान की प्रतीति के द्वारा होता है। और यही भाव जीव के भ्रम एवं सांसारिक चक्र का मूल कारण है। अविद्या माया के प्रसार को दिखाने के लिए तत्वदीप-निबन्ध में पाँच प्रकार के अज्ञान के रूप में इसके अन्य भेदों की भी चर्चा की गई है।[7] पहला अज्ञान

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डॉ० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ४२५

२. ख पुष्पादिसमत्वाद्धि मिथ्याभूतं जगद्यतः। दशमस्कन्ध, वेदस्तुति, २४ पर सुबोधिनी

३. प्रपंचो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाभवत्।
तच्छक्त्याविद्यया त्वस्य जीवसंसार उच्यते॥ त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, २६

४. वेदान्तसूत्र, १-१-११ पर अणुभाष्य

५. विद्याविद्ये हरेः शक्ति माययैव विनिर्मिते।
ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता॥ त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, ३४

६. आनन्दांश तिरोधानात्तत्तद्वत्तेन भासते।
माया जवनिकाच्छन्नं नान्यथा प्रतिबिम्बते॥ त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, ६१

७. पंचपर्वात्वविद्येयं यद्बद्धो याति संसृतिम्।
विद्यया विद्यानाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति॥ वही, शास्त्रार्थ प्रकरण, ३६

या अध्यास अन्तःकरण का है, दूसरा प्राणाध्यास का, तीसरा इन्द्रियाध्यास, चौथा देहाध्यास और पाँचवाँ अज्ञान स्वरूप का है। इसीलिए अविद्या को पचपर्वा कहा गया है। इस अविद्या के नाश से ही जीव संसार दुःख से छूट पाता है। अतः जीव को इस माया-प्रसार से अपने को दूर रखना चाहिए जिसका सबसे सरल उपाय भगवदनुग्रह द्वारा प्राप्त भगवद्भक्ति है। भगवद्भक्ति से विद्या की प्राप्ति होती है और तभी अविद्या का नाश और जीव की मुक्ति सम्भव है।[1]

मोक्ष—अहंता, ममता आदि के नाश से जब जीव स्वार्थमुक्त हो जाता है तब उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष की अवस्था मे भगवत्कृपा से जीव की संसारासक्ति छूटकर उसकी इन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं। तदनन्तर उसे आनन्द की प्राप्ति होती है जिसके फलस्वरूप वह सदा के लिए दुःख-मुक्त हो जाता है। वास्तव में आचार्य वल्लभ के मत में मुक्ति-फल भक्ति-रस का अनुभव है।[2] इसलिए मुक्त जीव अमृत शरीर प्राप्त कर पुष्टि-लीला में प्रवेश करता है और भगवान् की लीलाओं का रसास्वादन करता है। इसी कारण मुक्ति की अवस्था में भी जीव और ब्रह्म का ऐक्य नही होता—अन्यथा रसास्वादन सम्भव नहीं है।[3] इस बात को लक्ष्य में रखकर पुष्टिमार्गी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य इन चार मुक्ति अवस्थाओं के अतिरिक्त एक और सायुज्य अनुरूपा मुक्ति की अवस्था स्वीकार करते हैं और यही इस सम्प्रदाय में सर्वश्रेष्ठ मुक्ति मानी गई है। यह मुक्ति पूर्ण-पुरुषोत्तम की लीला मे प्रविष्ट होकर उस लीला का आनन्द लाभ करना है। जीवन्-मुक्त अवस्था में भी जीव भजनानन्द में मग्न रहता है और फिर प्रभु-कृपा के सहारे वह भगवान् की लीला का अनुभव करता है। इसी को स्वरूपानन्द भी कहा गया है।[4]

तत्वदीप निबन्ध में पुष्टि-सेवा के तीन फल स्वीकार किये गए है—(१) रसरूप पुरुषोत्तम के स्वरूपानन्द की शक्ति प्राप्त कर उसकी लीला मे प्रविष्ट होना, (२) भगवान् यदि चाहें तो मुक्तजीव को अपने स्वरूप का अङ्ग भी बना लेते है—यथा, आभूषण इत्यादि तथा (३) प्राकृत देहेन्द्रियादि से रहित हो अप्राकृत शरीर से वैकुण्ठादि भगवान् के लोकों में आनन्द भोग की अवस्था पाना।[5] इन सभी प्रकार की अवस्थाओं में श्रीकृष्ण की कृपा द्वारा आनन्द की प्राप्ति पर विशेष बल है। फिर भी वैकुण्ठ की अपेक्षा गोकुल में होने वाली लीला में प्रवेश पा आनन्द लाभ करना श्रेष्ठ माना गया है। वैकुण्ठ की अपेक्षा गोलोक तथा गोकुल का अधिक महत्त्व स्वीकार करने का कारण यही है।[6]

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डॉ० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ४५७
२. मुक्तेः फलं भक्तिरसानुभव एव। वेदान्तसूत्र, ३-४-४१ पर अणुभाष्य
३. वेदान्तसूत्र, ४-२-१ पर अणुभाष्य
४. वेदान्तसूत्र, ४-१-१२ पर अणुभाष्य
५. त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, ५४
६. प्रकृतिकालाद्यतीते वैकुण्ठादप्युत्कृष्टे श्रीगोकुल एवं सन्तीति शेषः।
वेदान्तसूत्र, ४-२-१५ पर अणुभाष्य

श्री वल्लभाचार्य ने क्रम मुक्ति और सद्यःमुक्ति की भी चर्चा की है। इनमें से क्रममुक्ति ज्ञान-मार्गियों की होती है। कर्म, उपासना और ज्ञानादि साधनों से जीव विभिन्न लोकों में होता हुआ अन्ततः ज्योतिर्मय ब्रह्म को प्राप्त होता है। किन्तु सद्यःमुक्ति भगवान् की कृपा से बिना कर्मों का फल भोगे हो जाती है। भक्त के विरह-दुःख से द्रवित हो भगवान् उसे आनन्द-विग्रह दे अपनी नित्य-लीला में ले लेते हैं।[1] गोस्वामी हरिरायजी ने भी मुक्ति के इन दोनों प्रकारों को क्रमशः जीवकृति से साध्य-मुक्ति और प्रभुकृति से साध्य मुक्ति कहकर पुकारा है।[2] स्पष्ट है कि वैधी भक्ति से क्रम-मुक्ति प्राप्त होती है और पुष्टि-भक्ति सद्योमुक्ति की प्रापक है।

रास—ऊपर वल्लभ-सम्प्रदाय में लीला के महत्त्व की चर्चा की गई है। वस्तुत विभिन्न प्रकार की लीलाओं में रसास्वाद की दृष्टि से 'रास' का महत्त्व इस सम्प्रदाय में अत्यधिक है। इसका कारण यह है कि 'रास' लीला में व्यक्ति आनन्द में इतना विभोर हो जाता है कि अन्य सब कुछ भूल जाता है।[3] व्युत्पत्यर्थ की दृष्टि से रस-समूह को रास कहा गया है—'रसानां समूहः रासः।' यह रस आनन्द का पर्यायवाची है—इस- लिए आनन्दरूप भगवान् के लिए 'रसो-वै-स.' शब्द का प्रयोग किया जाता है। लीला द्वारा प्राप्त आनन्द विषयानन्द और काव्यानन्द से भिन्न है। उसे ब्रह्मानन्द के समकक्ष कहा जा सकता है। किन्तु ब्रह्मानन्द ज्ञानादि साधनों से भी प्राप्य है—इसलिए वल्लभाचार्य ने लीला द्वारा प्राप्त आनन्द को ब्रह्मानन्द न कहकर भजनानन्द कहा है और उसे ब्रह्मानन्द की अपेक्षा श्रेष्ठ माना है।[4] इस प्रकार रास भजनानन्द को प्राप्त कराने वाला है।

रासलीला की पूर्णता शरद्कालीन पूर्णिमा की रात्रि में स्वीकार की गई है। इस समय प्रकृति का वैभव पूर्ण होता है। ऐसे मादक वातावरण में रस-प्रादुर्भाव के प्रयोजन से कृष्ण और उनकी भक्त गोपिकाओं की रास लीला—सामूहिक नृत्य का आयोजन किया जाता है। इसलिए बहुत-सी नर्तकियों सहित विशेष नृत्य को भी रास

---

१. वेदान्तसूत्र, ४-१-१६ पर अणुभाष्य

२. जीवनां कृष्णसम्बन्धो भक्ति मार्गे विमोचनम्।
स द्वेधा जीवविहितो भगवद्विहितस्तथा ॥
जीवस्य कृष्णसम्बन्धे मार्गनिष्ठतया क्रमात्।
प्रवेशः परमानन्दे तद्धि सायुज्यशब्दितम् ॥
कृष्णप्रवेशाद्या मुक्तिः सा सद्योमुक्तिरुच्यते।
न तत्र भक्त सहितः कश्चिद्धे साधनक्रमः ॥
श्रीहरिराय वाङ्मुक्तावली, भाग १, पृष्ठ २८-२९

३. सर्वेषामेव गुणभावात् रसप्राधान्यात् रासोत्सव एव सम्यक् प्रवृत्त उत्सवो नाम मनसः सर्वविस्मारक आह्लादः। भागवत, १०-३३-३ पर सुबोधिनी

४. ब्रह्मानन्दात्समुद्धृत्य भजनानन्दयोजने।
लीला या युज्यते सम्यक् सा तुर्ये विनिरूप्यते। भागवत, १०-२९-१ पर सुबोधिनी

नाम दिया गया है।[1] इसके अतिरिक्त एकान्त आनन्दसूचक 'रहस' से भी रास शब्द का संसर्ग है। परन्तु अपने सभी सम्भव अर्थों में रास आनन्द का ही द्योतक है।

भक्तजनों ने रास के तीन रूप माने है—(१) नित्य रास, (२) अवतरित रास या नैमित्तिक रास और (३) अनुकरणात्मक रास। अनुकरणात्मक रास दो प्रकार का है—भावात्मक या मानसिक और देहात्मक। भगवान की नित्य-लीला के अन्तर्गत होने वाली रासलीला नित्य रास है। श्रीकृष्णावतार मे 'अवतरित रास' स्वीकार की गई है। अनुकरणात्मक रास का सम्बन्ध भक्तों से है। केवल मानसिक ध्यान द्वारा भावात्मक रास की सृष्टि होती है और भक्त-मण्डली शारीरिक नृत्य आदि के द्वारा जो रासलीला का अनुकरण करती है वह दैहिक रास है। रास अपने इन विभिन्न रूपों में आनन्द प्रसारिणी है। किन्तु फिर भी भक्तों के लिए अनुकरणात्मक रास का विशेष महत्त्व है।[2]

गोपी—रास के स्वरूप से स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध मधुर भाव की उपासना से है। इसीलिए गोपी-कृष्ण के सामूहिक नृत्य को ऊपर रास नाम दिया गया है। आचार्य वल्लभ के अनुसार मधुर भाव की उपासना का अधिकार केवल गोपियों को था। इस कारण प्रस्तुत सम्प्रदाय की रागात्मिका भक्ति के लिए गोपियाँ आदर्श स्वीकार की गई हैं। वल्लभाचार्य ने भक्ति की दृष्टि से तीन प्रकार की गोपियाँ मानी है—ब्रजाङ्गना, गोपी और गोपाङ्गना। यद्यपि इन तीनों की भक्ति को प्रेम-तीव्रता के आधार पर उन्होंने पुष्टि-भक्ति कहा है किन्तु इन तीनों में क्रमशः उच्च, उच्चतर और उच्चतम का भेद स्वीकार किया गया है।[3] प्रथम प्रकार की गोपी अर्थात् ब्रजाङ्गना श्रीकृष्ण को बाल रूप मे देखती है और शेष दोनों प्रकार की गोपियाँ श्रीकृष्ण का भजन पतिभाव से करती हैं। तात्पर्य यह है कि उक्त तीन प्रकार की गोपियों में से केवल गोपाङ्गना और गोपी की भक्ति में मधुर भाव की भक्ति स्वीकार की गई है। इन्हीं को आचार्य वल्लभ ने सुबोधिनी में क्रमशः अन्यपूर्वा तथा अनन्यपूर्वा नाम दिया है और मधुर भाव की उपासना की मात्र अधिकारिणी माना है।[4]

अन्यपूर्वा वे गोपियाँ है जिनका विवाह श्रीकृष्ण से इतर किसी अन्य गोप से हो चुका है, किन्तु वे कृष्ण के रूप, गुण आदि से उनके प्रति इतनी आसक्त हो चुकी है कि लोक-मर्यादा का उल्लंघन करके भी उनसे रमण की अभिलाषा रखती है। दूसरी ओर अनन्यपूर्वा अभी कुमारिकाएँ है और पूर्वराग के कारण श्रीकृष्ण को पतिरूप में प्राप्त

---

१. बहुनर्तकीयुक्तो नृत्यविशेषः रासः रसस्याभिव्यक्तियंस्यादिति रसप्रादुर्भावार्थमेव।
भागवत, १०-३३-२ पर सुबोधिनी

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डॉ० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ४९८

३. गोपाङ्गनाओं की भक्ति पुष्टि-पुष्टि, गोपियों की पुष्टि-मर्यादा, और ब्रजाङ्गनाओं की पुष्टि-प्रवाह मानी गई है।
बृहत्स्तोत्र सरित्सागर, भगवत्पीठिका, पृष्ठ १३७

४. ताश्च द्विविधाः अनन्यपूर्वाः अन्यपूर्वाश्च। भागवत, १-२१-१ पर सुबोधिनी

करने के लिए व्रत, उपवास आदि का अनुष्ठान करती हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि परकीया तथा स्वकीया—दोनों भावों की माधुर्य भक्ति गोपियों में स्वीकार की गई है।[1] और इन भावों में से गोपाङ्गनाओं एवं अन्यपूर्वा गोपियों का परकीया भाव श्रेष्ठ है।

वल्लभ भक्तों के लिए गोपिकाएँ रसात्मकता (आनन्द के आविर्भाव की स्थिति) सिद्ध कराने वाली शक्तियों की भी प्रतीक हैं। श्रीकृष्ण का रस-रूप बिना रसात्मक शक्तियों के अपूर्ण है। कृष्ण धर्मी हैं और गोपिकाएँ उनका धर्म हैं। इस दृष्टि से दोनों अभिन्न हैं। राधा रसात्मक सिद्धि की प्रतीक मानी गई है। कृष्ण से इनका सम्बन्ध चन्द्र और चाँदनी का है। गोपियाँ उस चाँदनी का प्रसार करने वाली किरणें हैं।[2] कृष्ण-लीला को अन्योक्ति के रूप में स्वीकार करने वाले विद्वान् श्रीकृष्ण को परमात्मा और गोपियों को आत्मा का प्रतीक मानते हैं।

वल्लभ सम्प्रदाय में गोपियों के अनुकरण पर श्रीकृष्ण-लीला में प्रवेश पाने वालों के लिए 'गोपी भाव' की स्वीकृति आवश्यक मानी गई है। स्वयं आचार्य वल्लभ ने 'गोपीभाव' का कहीं उल्लेख तो नहीं किया किन्तु रासप्रकरण में उन्होंने रास-रस की अधिकारिणी केवल स्त्रियों को माना है और कहा है कि स्त्री-भाव द्वारा ही पुरुष इस रस का आस्वादन कर सकते हैं।[3] यह संकेत सम्प्रदाय में 'गोपीभाव' की स्वीकृति के लिए पर्याप्त है। सम्प्रदाय में इस प्रकार के भाव की भक्ति करने वाले भक्तों को 'तामस' भक्त की संज्ञा दी गई है।

पुष्टिमार्ग

मोक्ष-साधन के रूप में वल्लभाचार्य ने भक्ति की चर्चा की है। उनके अनुसार सुख चाहने वाले जीवों को हरिसेवा करनी चाहिए। और हरिसेवा ही भक्ति है। इससे भिन्न ज्ञान-मार्ग भ्रान्तिमूलक है। उससे केवल चित्त की शुद्धि होती है।[4] भक्ति के विभिन्न भेदों में आचार्य ने पुष्टिभक्ति को विशेष स्थान दिया है। इसीलिए साधना की दृष्टि से इस सम्प्रदाय को पुष्टिमार्ग कहा जाता है।

पुष्टि से अभिप्राय पोषण से है। और पोषण भगवदनुग्रह से ही सम्भव है।

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डॉ० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ५०७

२. वही, पृष्ठ ५०६

३. ततो हि भजनानन्दः स्त्रीषु सम्यग्विधार्यते।
तद्द्वारा पुरुषाणां च भविष्यति च नान्यथा॥
स्त्रिय एव हि तं पातुं शक्तास्तासु ततः पुमान्।
अतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमे ह्यहर्निशम्॥

भागवत, १०-२६-१ पर सुबोधिनी

४. ज्ञानमार्गो भ्रान्तिमूलस्ततः कृष्णं भजेद् बुधः।
प्रवर्तकं ज्ञानकाण्डं चित्तशुद्ध्यै यतो भवेद्॥

दशमस्कंध, वेदस्तुति ११ पर सुबोधिनी

अतः वल्लभाचार्य के अनुसार 'पुष्टि-मार्ग' भगवान् के अनुग्रह से साध्य है।[1] इसी आशय की पुष्टि उन्होंने अपने तत्वदीप-निबन्ध[2] और षोडश ग्रंथ[3] में की है। स्पष्ट है कि आचार्य ने भगवत्-कृपा को भक्त का सबसे बड़ा नियामक स्वीकार किया है--यही मोक्ष-साधक है। इस भाव के स्पष्टीकरण में हरिराय रचित 'पुष्टि मार्ग लक्षणानि' विशेष सहायक सिद्ध होता है। यहाँ लेखक ने कहा है कि 'जिस मार्ग मे लौकिक तथा अलौकिक, सकाम अथवा निष्काम सब साधनों का अभाव ही श्रीकृष्ण के स्वरूप-प्राप्ति में साधन है, उसे पुष्टिमार्ग कहते हैं। और जिस मार्ग में सर्वसिद्धियो का हेतु भगवान् का अनुग्रह ही है, जहाँ देह के अनेक सम्बन्ध साधनरूप बनकर भगवान् की इच्छा के बल पर फल-रूप सम्बन्ध बनते हैं, जिस मार्ग में भगवद्-विरह अवस्था में भगवान् की लीला के अनुभवमात्र से संयोगावस्था का सुख अनुभूत होता है, और जिस मार्ग में सर्व भावों मे लौकिक विषय का त्याग है और उन भावों के सहित देहादि का भगवान् को समर्पण है, वह पुष्टिमार्ग कहलाता है।'[4] गो० हरिरायजी ने पुष्टिमार्ग के स्वरूप को बहुत ही स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। भगवदनुग्रह को साधना का मूल आधार मानकर श्रीकृष्ण के प्रति पूर्ण-इच्छाओं का, शरीर का तथा अन्य किसी भी प्रकार के फल का समर्पण और भगवान् के वियोग में अपने को सन्तप्त करने में ही संयोग सुख की अनुभूति पुष्टिमार्ग का सार है। अतः पुष्टिमार्ग को 'खाओ, पीओ और पुष्ट रहो' के विलास-भाव युक्त सिद्धान्त का मार्ग कहना समीचीन नही है। स्वयं वल्लभाचार्य ने ही लौकिक विषयो के त्याग[5] और इन्द्रियदमन पर बल दिया

---

१. पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः। वेदान्तसूत्र ४-४-६ पर अणुभाष्य
२. तस्मात्सर्वं परित्यज्य दृढ़ विश्वासतो हरिम्।
   भजेत श्रवणादिभ्यो यद्विघातो विमुच्यते॥ शास्त्रार्थ प्रकरण, ५३
३. अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः। षोडश ग्रन्थ, पृष्ठ ३१
४. सर्वसाधनराहित्यं फलाप्तौ यत्र साधनम्।
   फलं वा साधनं यत्र पुष्टिमार्ग सकथ्यते॥
   अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी।
   न यत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥
   सम्बन्धः साधनं यत्र फलं सम्बन्ध एवहि।
   सोऽपि कृष्णेच्छया जातः पुष्टिमार्ग सकथ्यते॥
   यत्र वा सुखसम्बन्धो वियोगे संगमादपि।
   सर्वलीलानुभवतः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥
   समस्त विषयत्यागः सर्वभावेन यत्र वै।
   समर्पणं च देहादेः पुष्टिमार्गः स कथ्यते॥
   हरिराय वाङ्मुक्तावली, भाग १, पुष्ठ ११६-३१
५. विषयाक्रान्तदेहानां नावेशः सर्वथा हरेः।
   संन्यास निर्णय, षोडश ग्रन्थ, श्लोक ६

है।[१] उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जब तक कामादिक दोष नष्ट नहीं होते तब तक भक्ति उत्पन्न नहीं होती।[२]

वल्लभाचार्य ने भक्ति की परिभाषा करते हुए कहा है—'भगवान् के प्रति माहात्म्य ज्ञान रखते हुए जो सुदृढ़ और सबसे अधिक स्नेह हो वही भक्ति है।'[३] स्पष्ट है कि आचार्य के अनुसार भक्ति की दो आवश्यकताएँ हैं—(१) भगवान् के प्रति सुदृढ़ और सर्वाधिक स्नेह और (२) भगवान् के प्रति माहात्म्यज्ञान। आचार्य ने भक्ति के सन्दर्भ में उक्त दोनों आवश्यकताओं में से सुदृढ़ एवं उत्कट स्नेह वाले पक्ष पर विशेष बल दिया है। और इस प्रकार के उत्कट प्रेम को भगवदनुग्रह से साध्य माना है। यद्यपि उन्होंने भक्ति की प्राप्ति के लिए सब कुछ त्याग कर दृढ़ विश्वास के साथ श्रवण, कीर्तन आदि साधनों का महत्त्व स्वीकार किया है[४] किन्तु उनकी दृष्टि में भगवान् का अनुग्रह भक्त के सम्पूर्ण कार्यों का नियामक है। आचार्य द्वारा प्रतिपादित पुष्टिमार्ग में इसीलिए भगवदनुग्रह पर विशेष बल दिया गया है।

आचार्यजी ने साधनावस्था की दृष्टि से जीवों को तीन वर्गों में विभाजित किया है—(१) प्रवाहमार्गी, (२) मर्यादामार्गी और (३) पुष्टिमार्गी। प्रवाहमार्गी जीव सांसारिक विषयों में बहुधा लिप्त है—परम्परा-वश जो धर्म-कार्य हो जाय उसी में ही सन्तुष्ट है। इससे अधिक कोई प्रयत्न इनके द्वारा नहीं होता। दूसरी ओर मर्यादामार्गी जीव शास्त्रीय विधि-विधानों के अनुकूल कार्य करते हैं। इनमें प्रेम की अपेक्षा शास्त्रीय विधि-विधान पर विशेष बल है। इनसे भिन्न पुष्टिमार्गी जीव प्रेम पर निर्भर रहते है और यह प्रेम भगवदनुग्रह-प्राप्य माना गया है। स्पष्ट है कि भक्ति की दृष्टि से पुष्टिमार्गी जीव सर्वोत्कृष्ट हैं किन्तु कभी-कभी यही जीव रास्ता भटककर मिश्र पुष्टि-जीवों की कोटि में आ सकते है। साधना के द्वारा सिद्ध हो जाने वाले जीव के लिए आचार्य ने 'शुद्ध-पुष्ट-भक्त' शब्द का प्रयोग किया है—किन्तु यह लोकातीत सिद्ध वर्ग है—साधक वर्ग नही।

उक्त जीव-कोटियों के आधार पर भक्ति के भी आचार्य ने तीन भेद माने हैं—प्रवाह-पुष्ट भक्ति, मर्यादा-पुष्ट भक्ति और पुष्टि-पुष्ट भक्ति। किन्तु आचार्य ने संसार-प्रवाह, वैदिक और लौकिक मर्यादा एवं शास्त्रीय विधि-विधान त्याग कर भगवत्प्रेम में

---

१. स्वयमिन्द्रिय कार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत्।
अशूरेणाऽपि कर्त्तव्यं स्वस्यासामर्थ्यभावनात्॥

षोडश ग्रंथ, विवेक धैर्याश्रय, पृष्ठ ८

२. कामादिनां शिथिलत्वे भक्तिर्नोत्पत्स्यते। सुबोधिनी

३. माहात्म्य ज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा।

त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, ४६

४. साधनादि प्रकारेण नवधा भक्तिमार्गतः।
प्रमपूर्त्या स्फुरद्धर्माः स्पन्दमानाः प्रकीर्तिताः॥ षोडश-ग्रन्थ, जलभेद १०

अग्रसर होने को सच्ची भक्ति स्वीकार किया है। स्पष्ट है कि आचार्य ने शास्त्रीय विधि-विधानों को केवल साधना की तैयारी स्वीकार किया है—साधना नहीं। उनके अनुसार साधना वहीं से आरम्भ होती है जहाँ प्रेम की प्रेरणा प्राप्त कर जीव भगवान् की लीलाओं का ध्यान करते हुए उनका भजन करता है। किन्तु यह अवस्था आवागमन के चक्र में डालने वाले प्रवाहमार्ग और वैदिक मोक्ष की प्राप्ति करवाने वाले मर्यादा मार्ग से ऊपर उठकर पुष्टिमार्ग मे ही सम्भव है।

वल्लभाचार्य ने शास्त्रीय विधि-विधानों को अनेक प्रकार के फलों का साधक स्वीकार किया है। किन्तु पुष्टिमार्ग में किसी प्रकार के फल की आवश्यकता स्वीकार नहीं की गई। यहाँ तो पूर्ण आत्मसमपण है।[1] भगवान के प्रति प्रेम की प्राप्ति इनका मात्र प्राप्तव्य है। इस कारण पुष्टि भक्ति में शास्त्रीय विधि-विधान किसी प्रकार सहायक सिद्ध नहीं होते। स्पष्ट है कि आचार्य ने सभी प्रकार से भक्ति के प्रेम-पक्ष पर वल दिया है क्योंकि उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि भागवत की प्रेमलक्षणा भक्ति समय और जनता की मानसिक अवस्था को देखते हुए श्रेय का मात्र साधन है। इसीलिए उन्होंने जन-मात्र—द्विज-शूद्र, स्त्री-पुरुष सभी के लिए पुष्टिमार्ग श्रेष्ठ माना है।

प्रेम पर इतना वल देते हुए आचार्य ने वैराग्य या विरक्ति-पक्ष की उपेक्षा नही की है। अपने विवेक-धैर्याश्रय ग्रंथ में इस विषय पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि भक्त को संसार के विषयों का काया से, वचन से तथा मन से त्याग करना आवश्यक है।[2] विषयों से आक्रान्त देह में भगवान् का वास नहीं होता। यदि सांसारिक विषय न छूटते हों तो उन विषयों को ही ईश्वर में लगाना चाहिए।[3] विषयों के त्याग और प्रेम की पूर्णता के लिए आचार्य ने नवधा भक्ति का पालन करने का आदेश दिया है।[4] उनके विचार में प्रभु-कृपा से प्राप्त होने वाले फल के पहले साधन-दशा में ईश्वर के गुण, नामादि का श्रवण, कीर्तन आदि ही आनन्द देने वाला होता है। इसलिए लौकिक, वैदिक साधनों को छोड़कर सर्वदा भगवान् के गुणों का कीर्तन करना चहिए। किन्तु इस प्रकार की भक्ति की सिद्धि आत्म-निवेदन में ही सम्भव है। प्रेम के क्षेत्र में त्याग का महत्त्व स्वीकार करते हुए उन्होंने गृहस्थाश्रम के त्याग का कहीं उल्लेख नही किया। इसके विपरीत उनका कहना है कि गृहस्थाश्रम में रहकर ही श्रवण-कीर्तनादि साधनों से भगवद्भक्ति करने से भगवान् के प्रति स्नेह, आसक्ति और व्यसन बढता है।[5] प्रेम

---

१. सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव। षोडश-ग्रन्थ, अन्तःकरण प्रबोध, ८

२. स्वयमिन्द्रिय कार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत्। श्लोक ८

३. संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय चै।
कृष्णस्य सर्व वस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत॥ निरोध-लक्षण, १२

४. जीवाः स्वभावतो दुष्टाः दोषाभावाय सर्वदा।
श्रवणादि तत. प्रेम्णा सर्वं कार्यं हि सिद्ध्यति॥ बालबोध, १६

५. व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा।
ततः प्रेम तथाऽऽसक्तिर्व्यसनं च सदा भवेत्॥ भक्तिवर्द्धिनी, ३

की दृष्टि से आचार्य ने भक्त की तीन कोटि—उच्च, मध्य और हीन स्वीकार की हैं। भगवान् को सर्वस्व मानकर उन्हीं के प्रेम में मग्न हो भक्ति में लगा हुआ भक्त उत्तम कोटि का भक्त है। भक्ति-भावना में लीन और भगवान् सब कुछ हैं, इस ज्ञान से युक्त होने पर भी जिसमें प्रेम का अभाव है, वह मध्यम कोटि का भक्त है और जो ईश्वर के माहात्म्य-ज्ञान तथा प्रेम से शून्य है, पर श्रवणादि, साधन में रत है, इस प्रकार का भक्त हीन भक्त है।[1]

उच्च कोटि के भक्तों में आचार्य ने प्रेम-तीव्रता की दृष्टि से प्रेम-विकास-क्रम की चार अवस्थाएं स्वीकार की हैं—स्नेह, आसक्ति, व्यसन और परमानन्द। इन्हीं को प्रेम की चार भूमिकाएँ कहा जा सकता है। प्रेम आरम्भिक अवस्था है, आसक्ति में इष्ट के प्रति मन का रुझान व्यंजित है। व्यसन मे दूसरे भावों के कारण यदि एक क्षण भी व्यवधान आता है तो वह भाव असहनीय हो जाता है और परमानन्द की अवस्था में तो प्रेम आनन्द में पर्यवसित हो जाता है। वहां तो व्यक्ति का मन सदैव प्रेम-मग्न हो आनन्द की अनुभूति करता है। यही भक्ति की चरम अवस्था है—प्रेम-मार्ग का गन्तव्य है और प्रेम के विकास-क्रम की अन्तिम सीढ़ी है। इस अवस्था में पहुँचकर जीव मुक्ति का तिरस्कार कर भगवान् की नित्य-सेवा में बना रहता है। उसकी प्रत्येक क्रिया प्रेममय होने के कारण भगवान् की ही सेवा है।[2]

प्रेम-तीव्रता के विकास-क्रम की अन्तिम सीढ़ी चिर आनन्दमय अथवा संयोगमय है। किन्तु इसकी अनुभूति से पूर्व व्यसन की अवस्था मे विरहानुभूति की परम आवश्यकता है। विरह की तीव्रता प्रेम की उत्कटता का परिचायक है। वल्लभाचार्य के अनुसार प्रेम के उत्कर्ष में भगवान् के बिछुड़ने का ज्ञान और उनसे मिलने की तीव्र अभिलाषा एवं तज्जन्य आकुलता परम आवश्यक है। इस प्रकार के विरह की स्वयं अनुभूति करने की अभिलाषा व्यक्त करते हुए उन्होंने 'निरोध लक्षण' ग्रन्थ में कहा है—'मेरे हृदय में भी यशोदादि के समान विरह की प्रबल वेदना उत्पन्न हो जाय।'[3] इसीलिए वल्लभ मत में प्रेमभक्ति की पुष्टि के लिए विरह-भाव एवं भगवद्-मिलन की आकुलता का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है।

पुष्टिभक्ति का यह भजन पक्ष है। किन्तु इस मार्ग में सेवा-पक्ष—अर्थात् आचरण पक्ष पर उतना ही बल दिया गया है जितना कि भजन पक्ष पर।

---

१. एवं सर्व ततः सर्वं स इति ज्ञानयोगतः।
यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिरुत्तमः॥
प्रेमाभावे मध्यमः स्याज्ज्ञानाभावे तथादिमः॥
उभयोरप्यभावे तु पापनाशस्ततो भवेत्॥
त० दी० नि०, शास्त्रार्थ प्रकरण, १०५-१०६

२. सूरदास और भगवद्भक्ति : डॉ० मुंशीराम शर्मा

३. यच्च दुःखं यशोदाया नंदादीनां च गोकुले।
भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषण साधनम्॥ निरोध लक्षण, १

वल्लभाचार्य ने भगवान की सेवा तीन प्रकार की मानी है—तन से, चित्त से और मन से। स्वयं अपने शरीर का भगवान के चरणों में समर्पण कर उन्हीं की सेवा में लगे रहना तनुजा सेवा है। स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि सम्पूर्ण वैभव को भगवान के चरणों में समर्पित कर देना वित्तजा सेवा है। किन्तु इन सबसे श्रेष्ठ सेवा मानसिक सेवा है। सिद्धान्त-मुक्तावली में आचार्य वल्लभ ने इसी आशय को व्यक्त करते हुए कहा है—'सब दुःखों को दूर करने वाले कृष्ण 'की मानसी सेवा ही करनी चाहिए। यह सेवा पक्ष है।'[1] इस सेवा-भाव में रत भक्त अन्य सभी स्थानों से मन का निरोध करके उसे भगवान के चरणों में लगाता है—यही उनकी साधना का सर्वश्रेष्ठ रूप है। बाद में आचार्य के इस मत का सम्प्रदाय में सीमित अर्थ ग्रहण करके सेवा-भाव को केवल तनुजा और वित्तजा सेवा तक सीमित कर दिया गया और भगवान का स्थान गुरु ने ग्रहण कर लिया। परिणामतः भोगवादी वृत्ति की प्रधानता इस सम्प्रदाय में प्रबल हो उठी। इसीलिए यह सेवा-पद्धति आलोचना का विषय बनी। किन्तु इस सबसे पुष्टि-भक्ति के स्वरूप में किसी प्रकार के दोष को देखना समीचीन नहीं होगा। वहाँ प्रेम-पक्ष की प्रधानता है और वह भी विरक्ति-शून्य नहीं है। प्रेम-तीव्रता के साथ मानसिक संयम पर वहाँ विशेष बल है। सेवा-भाव में मानसिक पक्ष को श्रेष्ठ स्वीकारा गया है। अतः आचार्य की भक्ति-भावना सर्वथा स्पृहणीय है। वल्लभाचार्य द्वारा निरूपित इस भक्ति-भावना में गुसाईं विट्ठलनाथ के समय शृङ्गार भाव की प्रधानता के कारण माधुर्य भक्ति का प्रचलन हो चला। वैसे आचार्य वल्लभ ने गोपियों की मधुरा भक्ति को आदर्श माना था पर भक्ति के अन्य साधनों पर भी बल दिया था। गुसाईं विट्ठलनाथ ने इसी प्रेम-तीव्रता को लेकर माधुर्यभक्ति का प्रसार किया।

नन्ददास की विचारधारा

नन्ददास की विचारधारा पूर्णतया वल्लभ-सम्प्रदाय की विचारधारा से प्रभावित है। यद्यपि नन्ददास केवल भक्त और कवि है, दार्शनिक या विचारक नही हैं; किन्तु उनकी रचनाओं में ऐसी पंक्तियों को ढूंढ लेना कठिन नही है जिनमें आचार्य वल्लभ के विचारों की झलक एवं प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। नन्ददास ने कही भी शुद्धाद्वैत, ब्रह्मवाद या अविकृत परिणामवाद का उल्लेख नहीं किया किन्तु वे इनके भाव से परिचित थे। उन्होने इसी सिद्धान्त को अङ्गीकार किया था। अपने 'नाममाला' नामक ग्रन्थ में कवि ने सम्प्रदाय के इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहा है कि संसार में जो कुछ है वह ब्रह्ममय है—जो कुछ भी भेद है, वह नाम, रूप और गुण, की भिन्नता के कारण है—अन्यथा तत्वगत भिन्नता कही नही है।[2] स्पष्ट है कि अद्वैतवाद और

---

१. नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम्।
 कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता॥ सिद्धान्तमुक्तावली, १

२. नाम रूप गुन भेद के, सोइ प्रगट सब ठौर।
 वा बिन तत्व न और कछु, कहै सु अति बड़ बौर॥ नाममाला, दोहा ४

ब्रह्मवाद दोनों को एक साथ ही यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार का अद्वैतभाव उनकी एक अन्य रचना 'अनेकार्थ भाषा' के दूसरे दोहे में मिलता है।[1] यहाँ उन्होंने 'कंचन तें किंकिनी, कंकन, कुंडल नाम'—कहकर अविकृत परिणामवाद का संकेत किया है। क्योंकि कंचन—इन विभिन्न आभूषणों में रूपायित होकर भी अविकृत रहता है और समयानुसार अपने मूल रूप को फिर प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार शुकदेव, गोपी आदि आदर्श भक्तों के लिए शुद्ध शब्द का प्रयोग शुद्धाद्वैत की ओर संकेत करता है।[2] सारांश यह कि नन्ददास ने आचार्य वल्लभ द्वारा प्रतिपादित वैचारिक दृष्टिकोण को यथातथ्य रूप में स्वीकार किया और अपनी रचनाओं में उसका समर्थन किया।

श्रीकृष्ण—नन्ददास की रचनाओं में ब्रह्म-स्वरूप के सम्बन्ध में व्यक्त विचारों में साम्प्रदायिक प्रभाव लक्षित होता है। श्रीकृष्ण को उन्होंने परब्रह्म के रूप में स्वीकार किया है। इस भाव की अभिव्यक्ति नन्ददास के अनेक दोहों में उपलब्ध होती है। जहाँ कहीं उन्होंने श्रीकृष्ण के स्वरूप को स्पष्ट किया है, वहाँ इस बात की ओर अवश्य संकेत किया है कि वे ब्रह्मरूप हैं। रासपंचाध्यायी[3], श्रीकृष्ण सिद्धान्तपंचाध्यायी[4], अनेकार्थमंजरी[5], नाममाला[6], रुक्मिणीमंगल[7]—इन सभी रचनाओं में श्रीकृष्ण के ब्रह्म-रूप की ओर संकेत किया गया है। फिर भी उन्होंने श्रीकृष्ण के रसात्मक रूप को इष्ट के रूप में स्वीकारा है।[8] और इसी रूप का विस्तार से वर्णन अपने काव्य में किया है।

---

१. एकै वस्तु अनेक ह्वै, जगमगात जगधाम।
जिमि कंचन ते किंकिनी, कंकन, कुंडलनाम॥ अनेकार्थमंजरी, दोहा, २

२. शुद्ध जोति-मय रूप पांच भौतिक तें न्यारी।
तिनहि कहा कोउ गहै जोति सी जगत उज्यारी॥
रासपंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, दोहा, ५७

३. मोहन अद्भुत रूप कहि न आवति छवि ताकी।
अखिल अंड व्यापी जु ब्रह्म आभा है जाकी॥
रासपंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, दोहा, ३४

४. परमधरम परब्रह्म ज्ञान विज्ञान प्रकासी।
ते क्यों कहिए जीव-सदृश प्रति शिखर निवासी॥ सिद्धान्तपंचाध्यायी, १६

५. जो प्रभु जोति जगत मय, कारन करन अभेव।
विघन-हरन सब सुभकरन, नमो नमो ता देव॥ दोहा, १

६. तन्नमामि पद परमगुरु, कृष्ण कमल-दल-नैन।
जग-कारन करुनायतन गोकुल जाको ऐन॥ दोहा, १

७. ब्रह्म, रुद्र, अमरेन्द्र वृन्द की भीर भुलावै।
भीतर जान सु-पावै जिहि हरि देव बुलावै॥ छन्द, ४३

८. नमो नमो आनंद घन सुन्दर नंदकुमार।
रसमय रसकारन रसिक जग जाके आधार॥ रसमंजरी, १

श्रीकृष्ण के स्वरूप को स्पष्ट करने वाली सर्वप्रमुख रचना सिद्धान्तपंचाध्यायी है। इसके अनुसार श्रीकृष्ण के रूप, गुण और कर्म अपार हैं—उनका निवास परम धाम है।[1] वेद, पुराण, स्मृति, इतिहास आदि शास्त्र इन्ही के उच्छ्वास मात्र है।[2] संसार की सृष्टि, पालन और संहार करने वाली माया के ये अधिपति है।[3] श्रीकृष्ण षट् गुण सम्पन्न और अवतारी हैं। नारायण, परमात्मा आदि इन्हीं के अन्य नाम है। सम्पूर्ण सृष्टि के आधार यही हैं।[4] काल, कर्म और अणिमादि सिद्धियाँ जिसके आधीन हैं और जो सर्वान्तर्यामी हैं[5]—इस प्रकार के श्रीकृष्ण सच्चिदानन्द घन हैं। वे नित्य, आत्मानन्द, अखंड और उदार है।[6] घट-घट में व्याप्त श्रीकृष्ण एकरस है और केवल शुद्ध और सच्चे प्रेम द्वारा उन्हे प्राप्त किया जा सकता है।[7] इसीलिए आत्माराम होते हुए भी वे प्रेम के फलस्वरूप भक्तों की इच्छा के अनुरूप रमण करते हैं।[8] रासपंचाध्यायी में श्रीकृष्ण को सम्पूर्ण सृष्टि का प्रकाशक कहा गया है।[9] वे धर्मी हैं और नित्यकिशोर है।[10] श्रीकृष्ण सभी देवताओं के इष्ट है—उनके चरणों की वन्दना सभी को प्रिय है।[11] उनका वैभव अपार है—कोटि-कोटि कल्पतरु और कामधेनु उनके चरणों में लुठित होते है।[12] अनेकार्थ भाषा में श्रीकृष्ण को सृष्टि का उपादान और निमित्त कारण माना गया है।[13]

---

१. जै जै जै श्रीकृष्ण रूप गुन कर्म अपारा।
परम धाम जग धाम परम अभिराज उदारा ॥ सिद्धान्तपंचाध्यायी, १
२. आगम निगम पुराण स्मृती-गन जे इतिहासा।
अवर सकल विद्या विनोद जिहि प्रभुक उसासा॥ वही, २
३. विश्व-प्रभव-प्रतिपाल-प्रलय कारक आरसु-वस। वही, ५
४. षट्गुन अस अवतार धरन नारायन जोई।
सबकौ आश्रय अवधिभूत नंदनंदन सोई॥ सिद्धान्तपंचाध्यायी, ७
५. कर्म काल अनिमादि योगमाया के स्वामी। वही, १७
६. सब घट अंतरजामी स्वामी परम एक रस।
नित्य, आतमानंद, अखंड स्वरूप, उदारा॥ वही, ८८-८६
७. केवल प्रेम सुगम्य अगम्य अवर परकारा। सि० प०, ८६
८. जदपि आत्माराम रमन भए नवल नेह बस॥ वही, ६२
६. जब दिनमनि श्रीकृष्ण दृगनि तें दूरि भए दुरि।
पसरि पर्यो अँधियार सकल संसार घुमड़ि घुरि॥ दोहा, १३
१०. धरमी नित्य किसोर कान्ह मोहत सबको मन। रा० प०, दोहा, १-३६
११. सखि इह कृष्ण-चरन-रज अज शंकर सिर धारैं।
रमा-रमन पुनि धारैं अपने दोष निवारैं॥ सि० प०, दोहा, ८३
१२. कोटि कलपतरु लसत बसत पद पंकज छाँही।
कामधेनु पुनि कोटि कोटि विलुठत रज माँही॥ रा० प०, ५२
१३. जो प्रभु जोति जगतमय कारन करन अभेव। दोहा १

वे अजन्मा है[1] और सम्पूर्ण संसार से भिन्न है।[2] वह अनन्त रूप होते हुए भी एक है।[3] वह सर्वव्यापक श्रीकृष्ण गोकुल गाँव में अवतरित होकर लीला का विस्तार करते हैं।[4] भ्रमरगीत में उन्होंने श्रीकृष्ण के निर्गुण रूप की अपेक्षा सगुण रूप को महत्त्व दिया है।[5] इसीलिए वे ब्रह्म और उसके ज्योतिर्मय रूप को स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं हैं।[6] उद्धव ने श्रीकृष्ण को ज्ञान-गम्य कहा था किन्तु नन्ददास की गोपियाँ उसे प्रेम द्वारा प्राप्य बताती है। किसी प्रकार का बन्धन उन्हें नहीं बाँधता—क्योंकि वे स्वयं पाप और पुण्य के करनहार है।[7]

श्रीकृष्ण के रसरूप पर भी नन्ददास ने अनेक दृष्टियों से प्रकाश डाला है। वे प्रेम से अत्यधिक निकट है।[8] वे परम रसिक, रसमय, रसकारण और संसार मे अनुभूत सभी रसो के मात्र आधार हैं।[9] प्रेम की तीव्रता के कारण ही वे गोपियों के अधीन हैं इस प्रकार श्रीकृष्ण के स्वरूप मे अनेक विरोधी तत्त्व दृष्टिगत होते है जो साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के अनुकूल है। नन्ददास ने श्रीकृष्ण के विभिन्न अवतारो में राम, नृसिंह आदि का उल्लेख किया है।[10] किन्तु ऐसा उनके आरम्भिक पदों में ही हुआ है। धीरे-धीरे उनकी इष्ट-भावना श्रीकृष्ण के रसरूप पर केन्द्रित हो गई। श्रीकृष्ण के इस रूप का परिचय विस्तार से हम अगले अध्याय में प्रस्तुत करेंगे।

जीव : नन्ददास के काव्य में जीव के स्वरूप का अधिक विस्तार लक्षित नहीं होता। कुछ पंक्तियाँ अवश्य ऐसी हैं जिनमे उन्होंने आचार्य वल्लभ के विचारो का समर्थन करते हुए जीव के स्वरूप को स्पष्ट किया है। इस प्रकार का प्रसङ्ग 'भाषा-दशमस्कन्ध' मे आई हुई स्तुतियाँ है। इस रचना के द्वितीय अध्याय मे एक स्थान पर वे कहते हैं कि हम सब जीव वैसे ही तुम से उत्पन्न होते है, जैसे अग्नि से विस्फुलिंग।[11]

---

१. अज एक जगदीस। अ० भा०, दोहा, ८२
२. भीत सब जगत के, एकै सुंदर श्याम। अ० भा०, दोहा, १०८
३. हरि अनंत अरु एक। अ० भा०, दोहा, ६०
४. तन्नमामि पद परम गुरु, कृष्ण कमल-दल नैन।
   जग-कारन करुनायतन, गोकुल जाको ऐन॥ नाममाला, १
५. निर्गुन भए अतीत के सगुन सकल जग माँहि। भ्रमरगीत, २६
६. जोगी जोतिहिं भजै भक्त निज रूपहि जानै। वही, १८
७. पाप पुन्य के करनहार ये ही हैं आपै। वही, ३५
८. जदपि अगम तें अगम अति, निगम कहत है जाहि।
   तदपि रंगीले प्रेम तें, निपट निकट प्रभु आहि॥ रू० म०, ५३४
९. है जो कछु रस इहि संसार। ताकहुँ प्रभु तुम ही आधार॥
   र० म०; न० ग्र०, पृष्ठ १२६
१०. भ्रमरगीत, छन्द ३७-४०
११. तुम ते हम सब उपजत ऐसे। अगिनि तें विस्फुलिंग गन जैसें॥
    न० ग्र०, पृष्ठ १९७

अतः रूपगत भिन्नता होते हुए भी हम तत्वतः ईश्वर से अभिन्न है । किन्तु संसार के मायाजाल में फँसा जीव उनसे भिन्न ही रहेगा—क्योंकि उसके मानसिक विकारों का ईश्वर से कोई सम्बन्ध नही । एकता केवल शुद्ध रूप में है । जो जीव काल-कर्म-माया-अधीन है वह बद्धजीव है—वह सदा पाप-पुण्य के चक्र में घूमता रहता है । इस प्रकार का जीव मायाग्रस्त है । अतः ऐसे जीव को नन्ददास ने ब्रह्मरूप नही माना ।[1] किन्तु इस भिन्नता के प्रतिपादन का अर्थ नन्ददास का वल्लभ मत से विचार-वैभिन्न्य नही है । सिद्धान्त रूप में उन्होंने भी जीव-सृष्टि को ईश्वर का विस्तार माना है ।[2] रासपंचाध्यायी में यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है । श्रीकृष्ण में अनुरक्त वे गोपियाँ जिन्हें रास के समय श्रीकृष्ण से मिलने की आज्ञा नही मिलती, वे प्रिय के ध्यान और तज्जनित विरह से पाप-पुण्य दोनों के बन्धन से मुक्त हो श्रीकृष्ण से तदाकार हो जाती है ।[3] यही उनकी शुद्धावस्था है । इसी अवस्था में अभेद भाव स्थापित होता है । जीव को सासारिक बन्धन से मुक्त करने के लिए श्रीकृष्ण अवतार ग्रहण करते है ।[4]

जगत्—नन्ददास के जगत् सम्बन्धी विचारों की चर्चा थोड़ी-बहुत उनके ब्रह्म-सम्बन्धी विचारों में ऊपर हो चुकी है । अविकृत परिणामवाद के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कञ्चन के विभिन्न रूपों का उदाहरण देकर ब्रह्म और सृष्टि के विभिन्न पदार्थों की एकता का प्रतिपादन किया है ।[5] इसी अभेद-भाव की चर्चा उन्होंने 'नाममाला' रचना के दूसरे दोहे में की है ।[6] जगत् के उपादान और निमित्त कारण परब्रह्म ही हैं ।[7] यह जगत् ईश्वर से सृजित होकर उन्हीं में लीन हो जाता है । मकड़ी के जाले के प्रसार के समान यह सृष्टि-प्रसार भी ईश्वरेच्छा पर निर्भर है ।[8] और जब यह संसार ईश्वर में लीन हो जायगा उस समय ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ भी अवशिष्ट नही रहेगा । अतः सृष्टि का आदि और अन्त ब्रह्म स्वीकारा गया है । इस

---

१. काल करम माया अधीन ते जीव बखाने ।
   विधि निषेध अरु पाप पुन्य तिनमें सब साने ॥ सि० प०, दोहा, १५
२. व्यक्त अव्यक्त जु विश्व अनूप वेद वदत प्रभु तुम्हरौ रूप ।
   तुम सब भूतनु को विस्तार । देह प्रान इन्द्रिय अहंकार ॥
   दशमस्कंध, अध्याय १०
३. जे अरवर में अति अधीर रुकि गईं भवन जब ।
   गुनमय तनु तजि चित्स्वरूप धरि पियहिं मिलीं तब ॥ सि० प०, दोहा, ३७
४. बहे जात संसार धार जिय फँदे फँदन ।
   परम तरुण करुणा करि प्रगटे श्री नंदनंदन ॥ सि० प०, दोहा, १८
५. अनेकार्थमंजरी, दोहा, २
६. नाममाला, दोहा, २
७. अज एकै जगदीस : अनेकार्थमंजरी, ८२
८. छिनक में करौ भरौ संहरौ । ऊर्ननाभि लौं फिरि विस्तरौ ॥
   भाषा दशमस्कन्ध, न० ग्र०, पृष्ठ १९७

प्रकार नन्ददास की दृष्टि में जगत् ब्रह्मरूप होने के कारण सत्य है—मिथ्या नहीं। किन्तु जहाँ कहीं भी संसार के असार, स्वप्नवत् तथा अनित्य होने की चर्चा की गई है वहाँ उनका आशय जगत् से भिन्न संसार से है, जिसका आधार जीव के मनोविकार हैं। ये मनोविकार अविद्या माया जनित हैं तथा बन्धन के कारण हैं।[1] अपने दशमस्कन्ध के दसम अध्याय में इस विषय पर प्रकाश डालते हुए नन्ददास कहते हैं—"सांसारिक ऐश्वर्य एवं उसके कारण उत्पन्न मद अनर्थों का सर्वप्रथम कारण है। यह बुद्धिभ्रष्ट करने वाला है, जिसके कारण धर्म का नाश और अनित्य देह में अमरता की प्रतीति होती है। और इस देह व देह-सम्बन्धों में ममत्व की बुद्धि उत्पन्न होती है।"[2] स्पष्ट है कि इस प्रकार के अज्ञान का परिणाम भयङ्कर सिद्ध होता है। अतः बन्धन में डालने वाला यह संसार ही मिथ्या है और ईश्वर की सृष्टि-जगत् बिल्कुल सत्य है।

माया—वल्लभमत के अनुसार नन्ददास ने दो प्रकार की माया की चर्चा की है—विद्या माया और अविद्या माया। यद्यपि उन्होंने ऐसा नाम देकर माया की चर्चा नहीं की किन्तु उनके स्वरूप-वर्णन से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि एक संसार की रचना में ईश्वर की सहायिका है और दूसरी मोह-माया का प्रसार करने वाली। माया के विद्या-रूप की चर्चा 'सिद्धान्तपंचाध्यायी' में करते हुए नन्ददास ने कहा है कि पंचमहाभूत आदि अट्ठाइस तत्त्वों की बनी सम्पूर्ण सृष्टि जिसका परिणाम है, वह माया सदैव ईश्वराधीन रहकर सृष्टि का सृजन, पालन और संहार करने में उनकी सहायता करती है।[3] माया का यह रूप अघटित घटनाओं को घटित करने वाला है। किन्तु विश्व को विमोहित करने वाली होकर भी यह माया भक्तों के वश में है। वे गोपियाँ जिन्होंने श्रीकृष्ण के चरणों में सर्वस्व समर्पित कर श्रीकृष्ण का प्रेम प्राप्त किया है, माया के इस रूप को विमोहित करने में समर्थ है।[4] नन्ददास ने स्पष्ट कर दिया है कि वह व्यक्ति जो सब प्रकार की सांसारिक मोह-माया में फँसा हुआ है, वह ईश्वर की माया से कभी

---

१. अस संसार असार अपार, सहज ही भयौ जु ताके पार।
तुम अपने परमातम स्वामी, ब्रह्म रूप सब अंतर्यामी ॥ दशमस्कन्ध, २८ अध्याय

२. ऐ परि यह श्रीमद है जैसो। वड़ अनर्थकर अवर न ऐसो ॥
मति-भ्रंसक सब धर्म विधंसक। निरदै महा विरय पशुहिंसक ॥
नस्वर देह सबै कोउ जानैं। ताकहुँ अजर अमर करि मानैं ॥

३. रूप, गंध, रस, शब्द, (स्पर्श) जे पंच विषय वर।
महाभूत पुनि पंच पवन पानी, अंबर धर ॥
दस इन्द्रिय अरु अहंकार मँह तत्व त्रिगुन मन।
यह सब माया वर विकार कहैं परमहंस मन ॥
सो माया जिनकैं अधीन नित रहत मृगी जस।
विश्व-प्रभव-प्रतिपाल-प्रलय कारक आरसु-वस ॥

४. सकल विश्व अप बस करि मो माया सोहति है।
मोह मई तुम्हरी माया सोइ मोहिं मोहति है ॥ रा० प०, ४-१८

पार नहीं पा सकता है।

नन्ददास ने भँवरगीत में भी माया की चर्चा की है।[1] गोपियों को ईश्वर के गुणों की चर्चा करते हुए उसे सांसारिक गुणों से अभिन्न वताया है। इसी प्रसङ्ग मे उन्होंने अविद्या माया की चर्चा करते हुए उसे 'कीच' का सदृश्य दिया है और विद्या माया को 'अमल वारि' की संज्ञा दी है। दोनों के अन्तर को उन्होने इसी सादृश्य द्वारा स्पष्ट किया है। यद्यपि दोनों मिलकर एक-सी प्रतीत होती हैं किन्तु दोनों को एक नहीं माना जा सकता।[2] ईश्वर की प्रतिच्छाया जिस माया-दर्पण में दिखाई देती है वह ईश्वर की सत् स्वरूप माया का दर्पण है—असत् स्वरूपा, अविद्या माया का नही। अविद्या मे पुण्य-पाप का वन्धन है।[3] अन्यथा सम्पूर्ण सृष्टि शङ्कर के मायावाद के समान मिथ्या एवं भ्रम होती। *माया का सद्रूप स्वीकार करने के कारण वल्लभ मत शङ्कर के* अद्वैतवाद से भिन्न है।

मोक्ष—नन्ददास ने मोक्ष के रूप मे परमानन्द की चर्चा की है। इस आनन्द की अवस्था में सासारिक सुख तथा स्वर्ग-सुख—दोनों तुच्छ प्रतीत होते है।[4] यह आनन्द केवल कृष्ण-मिलन की अवस्था में सम्भव है। और कृष्ण-मिलन के लिए रास का सवसे महत्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए रास को नन्ददास ने रसानुभूति का सर्वोत्कृष्ट साधन माना है। वे स्वयं रासलीला में प्रवेश चाहते है—चाहे किसी रूप में क्यों न हो। रास-वर्णन के एक पद में इसका स्पष्ट सङ्केत है।[5] रासपंचाध्यायी के प्रसङ्ग का वर्णन नन्ददास के मोक्ष सम्वन्धी विचारों को स्पष्ट करने वाला है। गोपियाँ अपने गुणमय तथा पाप-पुण्य से युक्त देह द्वारा श्रीकृष्ण का सान्निध्य-लाभ नहीं कर पातीं। किन्तु उनकी प्रेम-तीव्रता की ज्वाला में उनके सभी कर्म (संचित, प्रारव्ध और क्रियमाण) नष्ट हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में उन पर श्रीकृष्ण की कृपा होती है और उन्हें श्रीकृष्ण मिलन सुख प्रदान करने वाला सान्निध्य प्राप्त होता है। और रास में तो उनके सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते है। मोक्षावस्था में प्राप्त आनन्द की उपलब्धि कराने वाला अन्य प्रसङ्ग रूपमंजरी का है। वस्तुतः यहां क्रम-क्रम से मुक्ति अवस्था की ओर वढ़ते हुए साधक का विवरण प्रस्तुत किया गया है। श्रीकृष्ण-प्रेम में मत्त एवं तल्लीन रूपमंजरी

---

१. वा गुन की परछाँह री माया दरपन बीच।
गुन तें गुन न्यारे नहीं अमल बारि मिलि कीच ॥ छन्द, २०

२. माया के गुन और और गुन हरि के जानो।
वा गुन को इन माँझ आनि काहे को सानौ। छन्द, २१

३. जे रहि गईं घर अति अधीर गुनमय सरीर वस।
पुण्य पाप प्रारब्ध संच्यौ तन नहिंन पच्यौ रस ॥ रा० प०, १-५१

४. जिय पिय को धरि ध्यान तनिक आलिगन किय जब।
कोटि स्वर्ग सुख भोग छीन कीजे मंगल सव ॥ रा० प०, १-५३

५. मोहन पिय की मलकनि ढलकनि मोर मुकट की।
सदा वसौ मन मेरे फरकनि पियरे पट की ॥ रा० प०, ५१-११

का चित्र इसी कई पंक्तियों में किया आता है जो उनके माधुर्य का सूचक है।[1] इसके अतिरिक्त सामीप्य[2] और सायुज्य[3] के संकेत भी प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु नन्ददास ने मुक्ति की अपेक्षा हरि-लीला को अधिक श्रेष्ठ माना है।[4] अतः हरि-लीला ही उनका प्राप्तव्य है।

गोकुल अथवा वृन्दावन : ऊपर संकेत किया गया है कि श्रीकृष्ण अपनी लीला का प्रसार करने के लिए गोकुल में अवतार लेते हैं। लीला की दृष्टि से गोकुल के अतिरिक्त वृन्दावन का महत्त्व भी नन्ददास ने स्वीकार किया है। इसी कारण इन्होंने इसका विशेष रूप से वर्णन रासपंचाध्यायी, रूपमंजरी और पदावली में प्रस्तुत किया है। वृन्दावन चिन्मय-स्वरूप है। इसने केवल कृष्ण-लीला के लिये जड़ रूप धारण किया हुआ है।[5] किन्तु वृन्दावन के सभी पदार्थ कालगुण की सीमा से अतीत हैं।[6] वसन्त नित्य इसकी शोभा को बढ़ाता रहता है। लक्ष्मी यहां साक्षात् विलास करती है।[7] वृन्दावन की अपार महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता।[8] देवताओं में जिस प्रकार 'रमा-रमन' नारायण श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार सभी सुन्दर स्थलों में वृन्दावन श्रेष्ठ है। कल्पतरु और चिन्तामणि के समान प्रभावशाली यहां के वृक्ष और अन्य पदार्थ हैं। अतः यहां आकर किसी की कामना अवशिष्ट नहीं रह जाती।[9] यहां के वृक्ष-लता आदि की शोभा

---

१. प्रेम-पुलक अन्तर तिहि काला। सो अंतर सहि सकति न वाला।
चित विवधान सहति नहिं सोई। रूपमंजरी अस रस भोई॥
रूपमंजरी, न० ग्र०, पृष्ठ १२४

२. कमलनयन करुनामय सुंदर नंदसुवन हरि।
रच्यो चहत रस रास इनहिं अपनी समसरि करि॥ सि० प०, दोहा, ६६

३. कवन पुन्य या तिय कै माई। नंद-सुवन पिय सौं मिलि आई॥
रूपमंजरी, न० ग्र०, पृष्ठ ११३

४. ज्यों ही हिये हरि-चरित्र अमृत-सिन्धु सों रति मानी।
'नंददास' ताही कूं मुकती लोन को सो पानी॥
पदावली, न० ग्र०, पृष्ठ ३४१

५. श्री वृन्दावन चिद्घन कछु छबि बरनि न जाई।
कृष्ण-ललित लीला के काज धरि रह्यौ जड़ताई॥ रा० प०, १-१७

६. जँह नग खग मृग कुंज लता बीरुध तृन जेते।
नहिन काल गुन-प्रभा सदा सोभित रहे तेते॥ वही, १-१८

७. ज्यों लक्ष्मी निज रूप अनूप चरन सेवत नित।
भ्रू विलसति जु विभूति जगत जगमगि रहि जित कित॥ वही, १-२१

८. श्री अनंत महिमा अनंत को बरनि सकै कवि।
संकरषन सों कछुक कही श्रीमुख जाकी छवि॥ वही, १-२२

९. जँह जेतिक द्रुम जाति कलपतरु सम सब लायक।
चिंतामनि सम भूमि सकल चिंतित फलदायक॥ वही, १-२५

का एक अन्य कारण यह है कि इनमें नित्य श्रीकृष्ण की छवि प्रतिविम्बित होती है।[1] यहाँ की भूमि कनकमय और मणिजटित है।[2] और फिर यहाँ अद्भुत गोपाल लाल नित्य-प्रति निवास करते हैं। इसीलिए यह वृन्दावन वैकुण्ठ की शोभा को भी कुण्ठित कर देता है।[3] वृन्दावन के इस महत्त्व को सिद्धान्तपंचाध्यायी में भी स्वीकार किया गया है।[4] इस वृन्दावन की कृष्ण-चरण से स्पृष्ट रज का विशेष महत्त्व है। शिवजी, ब्रह्मा, विष्णु—सभी इस रज को धारण कर अपने को पवित्र करते हैं।[5] ब्रह्मा इसके लिए लालायित रहता है।[6] किन्तु वृन्दावन-प्रवेश सभी के लिए सम्भव नहीं है। बिना अधिकारी बने वृन्दावन सुलभ नहीं।[7] रूपमंजरी इस वन की अलौकिकता पर स्तब्ध है। उसके अनुसार ऐसा वन अन्यत्र नहीं है। वृक्ष के दर्शन-मात्र से भूख मिट जाती है।[8] इसीलिए नन्ददास वृन्दावन और नन्दगाँव पर रीझे हैं। और सदैव वहीं निवास करना चाहते हैं।[9]

रास—सिद्धान्तपंचाध्यायी में रास के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए नन्ददास ने उसे रस को प्रसारित करने वाला कहा है। रस के अतिरिक्त उसमें रूप, गुण, नाद आदि की भी स्थिति उन्होंने स्वीकार की है।

> अवधिभूत गुनरूप नाद तर्जन जहँ होई।
> सब रस को निर्त्तास रास रस कहिए सोई ॥[10]

---

१. या सुर तरु महँ अवर एक अद्भुत छवि छाजै।
   साखा-दल-फल-फूलनि हरि प्रतिबिंब बिराजै ॥ वही, १-२६
२. ता पर कोमल कनक-भूमि मनिमय मोहति मन। वही, १-३०
३. अस अद्भुत गोपाल लाल सब काल बसत जँह।
   याही तें वैकुंठ विभव कुंठित लागत तँह ॥ वही, १-३७
४. श्री वृन्दावन चिद्घन घन घन छवि पावै।
   नंद सूनु को नित्य सदन श्रुतिगन जिहिं गावैं ॥ सि० प०, २०
५. सखि इहि कृष्ण-चरन-रज अज शंकर शिर धारैं।
   रमा-रमन पुनि धारै अपने दोष निवारैं ॥ सि० प०, ८३
६. अज अजहूँ रज वाँछित सुंदर वृन्दावन को।
   सो न तनक कहुँ पावत सूल मिटत नहिं तन को ॥ सि० प०, ५-३२
७. बिनु अधिकारी भए नहिंन वृन्दावन सूझै।
   रेनु कहां तें सूझै जब लौं वस्तु न बूझै ॥ रा० प०, ५-३४
८. रूखन देखि भूख भजि जाई। इह उपखान साँच है भाई ॥ न० ग्र०, पृष्ठ १११
९. जो गिरि रुचे तो बसो श्री गोवर्द्धन, गाम रुचे तो बसो नँदगाम।
   नगर रुचे तो बसो श्रीमधुपुरी, सोभा सागर अति अभिरामा।
   सरिता रुचे तो बसो श्री जमुन तट, सकल मनोरथ पूरन काम।
   'नंददास' कानन रुचे तो, बसो भूमि वृन्दावन धाम ॥
   न० ग्र०, पृष्ठ २८५
१०. दोहा, १३

यह रास नित्य है और उसमें भाग लेने वाले पात्र भी नित्य हैं ।[1] इसके द्वारा प्राप्त होने वाले रस का वर्णन नहीं किया जा सकता, वह केवल अनुभव किया जा सकता है ।[2] रास के अलौकिक प्रभाव को स्पष्ट करते हुए नन्ददास ने कहा है कि उसके संगीत को सुनकर मुनि भी मुग्ध हो गये । शिला द्रवित हो गई और सलिल शिला की भाँति जड़ हो गया । अन्य प्राकृतिक तत्त्व—पवन, शशि, सितारे, रजनी आदि स्तम्भित हो गये ।[3] अनेक देवता रासरस को ध्यान द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं ।[4] रास में अनेक रतिपोषक चेष्टाओं का समावेश होता है जिनका नन्ददास ने निस्संकोच वर्णन किया है ।

ताहि साँवरो कुँअर रीझि हँसि लेत भुजनि भरि ।
चुंबन करि सुख-सदन वदन तें दै तमोल ढरि ।।[5]

इस प्रकार की चेष्टाओं के आधार पर रास को विलास का प्रतिनिधि माना गया है । कवि द्वारा प्रयुक्त 'विविध विलास विलसि' आदि शब्दावली भी रास के विलास-पक्ष की ओर संकेत करती है । किन्तु रास में वास्तविक क्रिया की अपेक्षा अभिनय की प्रधानता है ।[6] इसलिए विलास का वह रूप यहाँ नहीं है जो साधारणतया संसारी प्राणियों में उपलब्ध होता है । फिर भी प्रस्तुत शंका के समाधान के लिए नन्ददास ने प्रयत्न किया है ।

नन्ददास ने गोपियो को कृष्ण से उसी प्रकार अभिन्न माना है, जैसे चन्द्र और चाँदनी । उनका खेल चन्द्रमा और तारों के खेल के समान है ।[7] कहीं-कहीं तो रास-लीला को दार्शनिक रूप से देखने का भी प्रयत्न किया गया है । गोपियों के अभिनय को देखकर उनका चकित होना ऐसा ही है, जैसे शिशु का अपने प्रतिविम्ब को देखकर चकित रह जाना ।[8] स्पष्ट है कि शिशु और उसका प्रतिविम्ब जैसे भिन्न नहीं है, उसी

---

१. नित्त रास-रसमत्त नित्त गोपीजन-वल्लभ ।
नित्त निगम यों कहत नित्त नव तन अतिदुर्लभ ।। न० ग्र०, पृष्ठ ३०

२. यह अद्भुत रस-रासि कहत कछु नहिं कहि आवै ।
सुक सनकादिक नारद सारद अतिशय भावै ।। रा० प०, ५-३०

३. रासपंचाध्यायी, ५।१२-२४

४. सिव मन ही मन ध्यावै काहू जाहिं जनावै ।
सेस सहसमुख गावै अजहूँ अंत न पावै ।। रा० प०, ५-३१

५. वही, ५-१७

६. कोउ नायक को भेद भाव लावन्य रूप सव ।
अभिनय करि दिखरावति गावति गुन पिय के जब ।। रा० प०, ५-१३

७. गोपीजन मन-मोहन-मोहन लाल बने यों ।
अपनी दुति के उडुगन उडुपति घन खेलत ज्यों ।। रा० प०, १-८८

८. तब नागर नंदलाल चाहि चित चकित होत ज्यों ।
निज प्रतिबिंब विलास निरखि सखि भूलि रहत ज्यों। वही, ५-१४

प्रकार गोपियाँ भी कृष्ण से भिन्न नही है । अतः उनके विलास मे स्थूलता का आरोप करना समीचीन नही है। इतने पर भी यदि कोई व्यक्ति इसे शृङ्गार की संज्ञा देना चाहे तो उसके लिए नन्ददास कहते हैं—

जे पंडित शृङ्गार ग्रंथ मत यामैं सानैं ।
ते कछु भेद न जानैं हरि को विषई मानैं ॥[1]

इसीलिए रास-रस के अधिकारी सभी नहीं हैं । 'इन्द्रियगामी कामी कामिनि के वस' व्यक्तियों के लिए यह कदापि नहीं है ।[2] इसको और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि केवल रास-लीला को पढ़ लेने मात्र से उसके सच्चे रस की अनुभूति नहीं हो सकती । भगवान् सभी के हृदय में विद्यमान है किन्तु विषयी उनको ग्रहण नही कर पाता ।[3] अतः रास की रसवत्ता पर नन्ददास ने जितना बल दिया है, उतना उसके अधिकारी होने पर भी दिया है । गोपियों ने इसका अधिकार प्राप्त किया था । इसीलिए उनकी श्रीकृष्ण के साथ रति-क्रीड़ा में काम का लेश नहीं है ।[4] यह सब कह देने के बाद भी नन्ददास ने कहा है—

यह उज्जल रसमाल कोटि जतनन कर पोई ।
सावधान ह्वै पहिरौ यहि तोरौ जिनि कोई ॥[5]

इतना ही नहीं, उन्होंने श्रद्धाहीन, नास्तिक, निन्दक, धर्म-विमुख आदि के लिए रास-कथा निषिद्ध है—ऐसा भी कह दिया है ।[6] श्रद्धालुओं के लिए तो वह 'प्रेम-वितरनी' है ।[7] इस परिचय से रास का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है ।

गोपी—सिद्धान्ततः गोपियाँ श्रीकृष्ण की शक्ति का प्रसार हैं, इसीलिए उनमें परस्पर चन्द्र और चाँदनी का सम्बन्ध स्वीकार किया गया है ।[8] किन्तु नन्ददास ने उन्हें आदर्श प्रेमी और सिद्ध भक्तों के रूप में प्रस्तुत किया है । उनके आध्यात्मिक पक्ष की

---

१. सि० प०, ४६
२. नहिं कछु इन्द्रिय-गामी कामी कामिनी कैं बस ।
सब घट अंतरजामी स्वामी परम एक रस ॥ सि० प०, ८८
३. निपट निकट घट में ज्यों अंतरजामी आही ।
विषय विदूषित इंद्री पकरि सकै नहि ताही ॥ रा० प०, ५-३५
४. तैसेहिं ब्रज की बाम काम रस उत्कट करि कैं ।
शुद्ध प्रेममय भईं लईं गिरिधर उर धरि कैं ॥ सि० प०, ११४
५. रा० प०, ५-४०
६. हीन असर्धा निंदक नास्तिक धरम बहिर्मुख ।
तिन सों कबहुँ न कहै, कहै तौ नहिंन लहै सुख ॥ वही, ५-३७
७. अघ हरनी मन-हरनी सुंदर प्रेम वितरनी ।
'नंददास' के कंठ बसौ नित मंगल-करनी ॥ वही, ५-४२
८. सोचैं चितवैं बन मैं मन मैं अचरज भारी ।
किन कीनी चंद्र तें चारु चंद्रिका न्यारी ॥ सि० प०, ९४

और केवल उसी समय संकेत किया गया है जहाँ किसी शंका के समाधान अथवा सिद्धान्त के स्पष्टीकरण की आवश्यकता होती है।

हरि-रस ओपी गोपी ये सब तियनि ते न्यारी।
कँवल-नैन गोविंद-चंद की प्रान-पियारी ॥[1]

ऊपर कही गई—'ये सब तियनि ते न्यारी'—इस उक्ति को स्पष्ट करते हुए रासपचाध्यायी में नन्ददास ने कहा है कि इनका स्वरूप शुद्ध ज्योतिर्मय है, इसीलिए ये पांच भौतिक तत्त्वों से युक्त शरीरधारी प्राणियों से भिन्न हैं। संसार में अपनी ज्योति से ये प्रकाश विकीर्ण करती है।[2] श्रीकृष्ण से उनकी क्रीड़ा इसीलिए चन्द्र और नक्षत्र की क्रीड़ा के समान है।[3] श्रीकृष्ण के समान उनकी अपार महिमा का गान कोई नही कर सकता।[4] श्रीकृष्ण और गोपियों के अभेद भाव को भ्रमरगीत में स्पष्ट किया गया है।

उनमें मोमैं है सखा छिन भरि अंतर नाँहि।
ज्यों देख्यो मो माँहि वे हौं हूं उनही माँहि ॥
तरंगिनि वारि ज्यों ॥[5]

किन्तु यह अभेद-भाव केवल सैद्धान्तिक है। व्यवहार मे उनका स्वरूप प्रेममय है। भ्रमरगीत में गोपियों का परिचय देते हुए कवि उन्हें रूप, शील, लावण्य और गुणवती कहता है। वे प्रेम की ध्वजा, रसरूपिणी और सुख देने वाली हैं। श्याम के साथ विलास उनका अभीष्ट है।[6] इसीलिए श्रीकृष्ण के वियोग मे वे एक क्षण भी व्यतीत नहीं कर सकती। और जब उद्धव से उन्हे श्रीकृष्ण का नाम और उनका सन्देश सुनने को मिलता है तो वे विह्वल हो उठती है। प्रेम के आवेश में उन्हें सुधि नहीं रहती।[7] श्रीकृष्ण-प्रेम में मस्त गोपियाँ लोक-लाज, कुल-कानि—सभी कुछ छोड़कर प्रेम के मार्ग में अग्रसर होती है।[8] सर्वस्व त्याग की इस भावना के कारण गोपियाँ श्रीकृष्ण से रमण की मात्र अधिकारिणी है।[9] उन्हे प्रेम-तीव्रता के आधार पर ही सन्त-शिरोमणि तक कह

---

१. रासपंचाध्यायी, १-६५
२. सुद्ध जोति-मय रूप पांच भौतिक तें न्यारी।
तिनहि कहा कोउ गहै जोति सी जगत उज्यारी ॥ वही, १-५७
३. अपनी दुति के उडुगन उडुपति घन खेलत ज्यौं। वही, १-८८
४. जैसे कृष्ण अमित महिमा कोउ पार न पावै।
ऐसे ही ब्रजवनिता गुनगन गनत न आवै ॥ सि० प०, १२५
५. भ्रमरगीत, ७४
६. रूप, सील, लावन्य सबै गुन आगरी ॥
प्रेम-धुजा, रस-रूपिनी, उपजावनि सुख पुंज।
सुंदर स्याम-विलासिनी, नव वृन्दावन कुंज ॥ भ्रमरगीत, १
७. विह्वल ह्वै धरनी परीं ब्रज-वनिता मुरझाय। भ्रमरगीत, ६
८. ये सब प्रेमासक्त होइ रही लाज कुल लोपि। वही, ६३
९. कहत भयौ निश्चै यहै हरि रस की निज पात्र। वही, ६२

दिया गया है।[1] गोपियां अपने को श्रीकृष्ण की 'बिनु मोल की दासी' कहती है।[2] श्रीकृष्ण के आह्वान करने पर वे सब प्रकार की बाधाओं की उपेक्षा करके सघन वन की ओर अर्द्ध रात्रि को भी चल पड़ती हैं।[3] सम्पूर्ण संसार उन्हें अपना गुरु मानता है।[4] प्रेम का उन्हें जहां अभिमान है—वहां उनमें दैन्य भी है। वे मानती है कि श्रीकृष्ण एक है—हम सभी के हैं और हमारे जैसी करोड़ों के हैं।[5] किन्तु उन्हे उपेक्षा सह्य नही है। भ्रमरगीत का उपालम्भ-प्रसंग इस बात का स्पष्ट द्योतक है। श्रीकृष्ण से प्रेम करने वाली गोपियों में कुमारिकाएं और विवाहित—दोनों प्रकार की गोपियां है। कुमारियां व्रत-पूजा-उपवास आदि के द्वारा श्रीकृष्ण को प्रिय रूप में प्राप्त करना चाहती हैं। चीरहरण और रास के समय उनकी यह इच्छा पूर्ण होती है।[7] विवाहिता भी अपने सभी निकट सम्बन्धियों का त्याग कर कृष्ण-मिलन के लिए आतुर है। जहां इस मिलन में बाधा उपस्थित हुई है, वहां उन्होने अपने गुणमय शरीर का त्याग कर दिया है।[8] उद्धव ने गोपियों के प्रेम का महत्त्व स्वीकार किया है। स्वयं श्रीकृष्ण उनके प्रेम के आगे नतमस्तक हैं।[9] उनके उपकार को वे 'कोटि कल्प' तक भी चुका सकने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते है।[10] कृष्ण-प्रेम में तन्मय होकर वे कृष्ण-रूप हो जाती है।[11]

गोपियों में राधा का महत्त्व विशेष है। वह श्रीकृष्ण की ही शक्ति है। दोनों का सम्बन्ध चन्द्र और चांदनी का है।[12] राधा साक्षात् लक्ष्मीस्वरूपा है। उनके दर्शन-मात्र से अमृत-पान-सा सुख मिलता है।[13] विधाता ने उनके समान अन्य किसी स्त्री की

---

१. निरमत्सर जे संत तिनकि चूड़ामणि गोपी। रा० प०, २-२६
२. मारत हौं कित सुहृथ नाथ बिनु मोल की दासीं ।। वही, ३-२
३. अहो तिया कहा जानि भवन तजि कानन डगरीं।
 अर्द्ध गई सर्वरी कछुक डर डरीं न सगरी ।। वही, १-७२
४. तातें सबै जगत-गुरु गोपिन गुरु करि मानत। सि० प०, ४३
५. रूप भरीं गुण भरीं-भरीं पुनि परम प्रेम रस।
 क्यों न करैं अभिमान कान्ह भगवान किए बस ।। रा० प०, १-१०२
६. हमकौं तुम पिय एक ही तुमकों हमसी कोटि ।। भ्रमरगीत, ३१
७. जमुन तीर बलबीर चीर हरि बरु जिहि दीनौं।
 तिन संग विविध विलास रास रमिबे मन कीनौं ।। सि० प०, २२
८. जे अरबर में अति अधीर रुकि गईं भवन जब।
 गुनमय तनु तजि चित्स्वरूप धरि पियहिं मिलीं तब ।। वही, ३७
९. पै गोपिन के प्रेम अग्र अपने मुख हारे। रा० प०, ४-१५
१०. कोटि कलप लगि तुम प्रति प्रति उपकार करौं जो।
 हे मनहरनी तरुनी उऋन न होऊँ तबौं तो। रा० प०, ४-१७
११. रस्यो चहत रस रास इनहिं अपनी समसरि करि। सि० प०, ६६
१२. बिछुरि चंद ते चंद्रिका, रहति न न्यारी होइ। नाममाला, १००
१३. सो लक्ष्मी वृषभानु-ग्रह आपुहि प्रगटी आय। वही, ४३

रचना नहीं की है ।[१] क्योंकि राधा की रचना के बाद विधाता की रचना-निपुणता वंध्या हो गई ।[२] राधा-कृष्ण की जोड़ी—एक प्राण दो शरीर हैं ।[३] प्रेम में राधा के समान अन्य कोई नहीं है ।[४] राधा की कीर्ति संसार के नर-नारियों को पवित्र करती है ।[५] उसके सौन्दर्य के अपूर्व रूप को स्थान-स्थान पर 'नाममाला' में स्पष्ट किया गया है । यद्यपि इस रूप-वर्णन में मानवती का चित्र अधिक उभरकर आया है । राधा का मान भी सृष्टि-कल्याण में समर्थ है ।[६] राधा-कृपा से भक्तों के मन सदैव रस-मग्न रहते है ।[७] पदावली मे राधा को कृष्ण-विवाहिता के रूप मे प्रस्तुत किया गया है ।[८] यह उनका लीला-रूप है । नन्ददास ने इस अलौकिक जोड़ी की शोभा और सौन्दर्य का भी चित्रण किया है । पदावली में श्रीकृष्ण की भांति राधा के जन्मोत्सव का वर्णन है ।[९]

गोपी-राधा के अतिरिक्त रसिक एवं आदर्श भक्त के रूप मे नन्ददास ने शुकदेव और परीक्षित का परिचय कराया है । नन्ददास के शुकदेव वही नहीं हैं जो हमें भागवत में दृष्टिगत होते हैं । कृष्ण-भक्ति-परिचय के अतिरिक्त उनके रूप-सौन्दर्य का वर्णन एक रसिक का चित्र पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है, परमहंस का नहीं । उनका श्यामल-शरीर नव-यौवन के विकास के कारण कान्तिमान् है । मुख पर फहराने वाली घुंघराली लटें उसकी शोभा को और भी बढ़ा रही है ।[१०] किन्तु इस शारीरिक शोभा-वर्णन की अपेक्षा कवि का ध्यान उनके प्रेमी रूप पर रहा है । वे हरि-लीला-रस-मत्त हो सम्पूर्ण संसार में विचरण करते हैं ।[११] वे शुद्ध-ज्योतिमयस्वरूप और अविकारी हैं ।[१२] उनके श्रवण कृष्ण-कथा सुनने के लिए सदैव प्रस्तुत हैं ।[१३] उनके हृदय में श्रीकृष्ण निरन्तर जगमगाते

---

१. अमिय बरस बर दरस तें, सब परिपूरन काम । वही, ८२
२. तोहि रची विधिना निपुन, बहुर्यो ह्वै गयो बांझ । वही, ८६
३. जोरि रची विधिना निपुन, एक प्रान तनु बीय । वही, ८८
४. तिमि तुव प्रेम अवधि सुविधि, रची बिरंचि न कोय । वही, ९१
५. तिमि तुव कीरति-सरित बिच, किय पुनीत नर-नारि ।। वही, ९३
६. मान राधिका कुँवरि को, सबको करु कल्यान । वही, ५
७. श्री वृषभानु-सुता-पद-अंबुज, जिनके सदा सहाइ;
   सो रस मगन रहति अति तिनपै 'नंददास' बलि जाइ ।। पदावली, १८३
८. दूलह गिरिधर लाल छबीलो दुलहिन राधा गोरी । पदावली, ६०
९. पदावली, ५२-५३
१०. नीलोत्पल दल स्याम अंग नव-जोवन भ्राजै ।
    कुटिल अलक मुख-कमल मनो अलि-अवलि विराजै । रा० प०, १-३
११. हरि-लीला रस मत्त मुदित नित विचरत जग में । रा० प०, १-२
१२. शुद्ध जोतिमय रूप सदा सुंदर अविकारी । रा० प०, १-१
१३. स्रवन कृष्ण-रस-भवन गंड-मंडल भल दरसैं । रा० प०, १-७

हैं ।[1] इसीलिए वे भागवत रूप सूर्य के प्रगट करने में समर्थ हो सके ।[2] परीक्षित परम भागवत और रसिक-रत्न हैं । उनकी प्रत्येक शंका केवल रस का पोषण करने के लिए है ।[3] वे परम-धर्म के पात्र और संसार का कल्याण करने वाले है । इसीलिए श्रीकृष्ण ने उनकी गर्भ में ही रक्षा की थी ।[4] श्याम-कथा में उनकी रुचि एक लम्पट की आसक्ति की तरह है ।[5]

इस प्रकार नन्ददास के सभी प्रमुख पात्र प्रेम-तीव्रता का आदर्श लेकर चले हैं। सभी प्रकार की मर्यादाओं का त्याग कर वे प्रेम के मार्ग पर अग्रसर होते है । उनका उमड़ता हुआ प्रेम सावन-सरित के समान है जिसमे रास्ते में पड़ने वाला सभी कुछ बह जाता है और जिनका लक्ष्य है—कृष्ण-समुद्र में तल्लीन हो जाना ।

सुनि उमगीं अनुराग-भरी सावन-सरिता जस ।
सुंदर नगधर नागर-सागर मिलन बढ़ो रस ॥[6]

प्रेम की यही तीव्रता नन्ददास की रस-साधना का आदर्श है। इसके सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा हम भक्ति के प्रसंग में करेंगे ।

मुरली—नन्ददास ने मुरली के महत्त्व पर भी संक्षेप मे प्रकाश डाला है । रास-लीला आरम्भ करने की इच्छा से दूती के समान मुरली को श्रीकृष्ण अपने हाथ में लेते है । मुरली श्रीकृष्ण के अधरों का आसव पान कर तृप्त रहती है । वह योगमाया के समान अघटित-घटना चतुर है ।[7] वह नाद-ब्रह्म की जननी है । इसके स्वर को सुन कर सभी मुग्ध हो जाते है । और इसी स्वर से वेदादि शास्त्र प्रकट हुए है ।[8] श्रीकृष्ण द्वारा गोपियों के मन-हरण का यह बहुत ही सुन्दर साधन है । स्वयं गोपियाँ इस बात को स्वीकार करती हैं । श्रीकृष्ण के घर वापस लौट जाने के लिए कहने पर गोपियाँ

---

१. जिहि अंतर जगमगत निरंतर कुँवर कन्हाई । रा० प०, १-६
२. प्रगट कियो अद्भुत प्रभाउ भागवत-दिवाकर । रा० प०, १-१४
३. परम भागवत रतन रसिक जु परीछित राजा ।
प्रश्न कर्यो रस पुष्ट करन निज सुख के काजा ॥ वही, १-५६
४. परम धरम को पात्र जानि जग को हितकारी ।
उदर दरी में करी कान्ह जाकी रखवारी ॥ वही, १-६०
५. जाको सुन्दर श्याम-कथा छिन-छिन नइ लागै ।
ज्यों लंपट पर-जुवति बात सुनि अति अनुरागै ॥ वही, १-६१
६. सिद्धान्तपंचाध्यायी, २६
७. तब लीनी कर-कमल जोगमाया सी मुरली ।
अघटित घटना चतुर बहुरि अधरासव जुरली ॥ रा० पा०, १-४६
८. जाकी धुनि तें अगम निगम प्रगटे बड़ नागर ।
नाद ब्रह्म की जननि मोहिनी सब सुख सागर ॥ वही, १-४७
९. नागर नवल किसोर कान्ह कल-गान कियो अस ।
बाम विलोचन बालन को मन हरन होई जस ॥ वही, १-४८

कहती है कि आप की इस मुरली ध्वनि को सुन कर त्रिभुवन में ऐसी कौन-सी स्त्री है जो अपने धर्म की रक्षा कर सके।[1] केवल गोपियाँ ही नहीं, इस शब्द-ब्रह्म-मय वेणु की ध्वनि से सुर-नर-गन सभी विमोहित हैं।[2] अतः यह परम मधुर और मादक ध्वनि उत्पन्न करने वाली मुरली प्रेम-वर्णन में सहायिका होने के कारण भक्तों के लिए विशेष महत्व रखती है।

नन्ददास के उक्त विचारों के परिचय से स्पष्ट है कि नन्ददास ने सिद्धान्त स्पष्टीकरण पर विशेष बल दिया है। उनके विचारों का आधार वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्त ही रहे किन्तु उन्होंने उनके रसात्मक-पक्ष पर विशेष बल दिया है। इसे चाहे गोस्वामी विट्ठलनाथ का प्रभाव कहा जाय अथवा अन्य समकालीन भक्ति सम्प्रदायों का। नन्ददास ने सम्प्रदाय के केवल उन्ही सिद्धान्तों की व्याख्या की है जो आवश्यक हैं—शेष विस्तार केवल रस-दर्शन का ही है। भ्रमर-गीत में विचारों के प्रतिपादन एवं स्थापन के लिए पर्याप्त अवसर था। वहाँ भी कवि ने संक्षेपता से कार्य लिया है। उद्धव-गोपी संवाद वाद-विवाद नही, हमारे मत में केवल शंका-समाधान मात्र है।

नन्ददास की भक्ति भावना

मोक्ष-साधन के रूप में नन्ददास ने आचार्य वल्लभ के अनुरूप भक्ति को स्वीकार किया है जिसका विस्तृत परिचय हमें उनकी रचनाओं में प्राप्त होता है। नन्ददास यद्यपि प्रेमाभक्ति के समर्थक थे और इसी रूप में भक्ति का परिचय उन्होंने दिया है किन्तु भक्ति के सामान्य सिद्धान्त विरति और विवेक की उन्होने उपेक्षा नहीं की है। नन्ददास ने प्रेम की पूर्णता तक ले जाने वाले सभी साधनों की चर्चा अपने काव्य में की है। साथ ही कर्म, योग, ज्ञान से भक्ति की तुलना करते हुए उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन उनके काव्य का लक्ष्य रहा है।

भक्ति के सामान्य परिचय की दृष्टि से अनेकार्थ भाषा और भाषा दशमस्कन्ध उल्लेखनीय है। कवि के अनुसार कलियुग में संसार से उद्धार का कृष्णनाम के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है।[3] इसलिए सांसारिक सुखों का त्याग कर श्रीकृष्ण का भजन जीव का उद्देश्य होना चाहिए।[4] सांसारिक विषय विष के समान त्याज्य है।[5] श्रीकृष्ण भजन मे कपट, छल-छिद्र आदि का त्याग भी आवश्यक है।[6] सांसारिक विषयों

---

१. त्यों ही पिय की मुरली जुरली अधर-सुधा-रस।
सुनी निजु धरम न तजै तरुनी त्रिभुवन महि को अस॥ वही, १-८४

२. शब्द-ब्रह्म-मय वेनु बजाय सबै जन मोहै।
सुर-नर-गन गंधर्व कछु न जानै हम को हैं॥ वही १-२६

३. कलि कलियुग जँह और नहिं, केवल केशव नाम। अनेकार्थ भाषा, ७

४. कामकाज जनि भूलि मन, भजि ले हरि अभिराम। वही, १५

५. कर विष जैसे तजि विषय, भजि हरि अमीनिधान। वही, २०

६. कल्प कपट तजि हरि भजो, कल्पवृक्ष सम सोय। वही, १६

और कपट के त्याग से मानसिक शुद्धि और एकाग्रता प्राप्त होती है । और मानसिक एकाग्रता भजन में लाभप्रद है ।[1] श्रीकृष्ण ब्रह्म-रूप हैं[2]—अतः सच्चा धर्म उन्हीं की भक्ति है ।[3] वैसे संसार के सभी पदार्थ नश्वर हैं और श्रीकृष्ण ऐसे नवरङ्ग हैं जिनका कभी नाश नहीं होता ।[4] भजन में आलस्य का त्याग कर देना चाहिए ।[5] आयु व्यतीत होने के साथ-साथ व्यक्ति की शक्तियाँ क्षीण होने लगती है, अतः नन्ददास का कहना है कि यौवन रहते हमें मदनगोपाल का भजन कर लेना चाहिए ।[6] इसी में जीवन की सार्थकता है । श्रीकृष्ण जग-जीवन हैं[7]—संसार को मुग्ध करने वाले और सभी वस्तुओं के सारतत्व हैं ।[8] संसार के सभी कष्ट, पापादि से मुक्ति उन्ही दीनदयालु की कृपा से सम्भव है ।[9] संसारी व्यक्ति का मन हरिण की भाँति चंचल है[10] अतः उसे स्थिर करने के लिए श्रीकृष्ण-भजन सहायक सिद्ध होता है । रुक्मिणी-कान्त श्रीकृष्ण से प्रेम करने वाला व्यक्ति चतुर है,[11] जीव के लिए सच्चा धन बलबीर है ।[12] वही पुत्र सुपुत्र है जो सुन्दर श्याम का भजन करता है ।[13] परमहंस गोविन्द का भजन करने से जीव सच्चे अर्थ में हंस कहला सकता है ।[14] उसी प्राणी का शरीर-धारण सफल है जिसने श्रीकृष्ण-चर्चा में अपना मन लगाया है ।[15] और वह व्यक्ति जो कृष्ण-भजन नही करता, परम मूर्ख है ।[16] संसार में माया का प्रसार जीव के बन्धन का कारण है । वही जीव इस माया के बन्धन से मुक्त रह सकता है जो भगवद्‌भजन करता है । किन्तु इसके लिए मन को विशेष रूप से सावधान रखने की आवश्यकता है ।[17] नन्ददास ने अनेक उदाहरण देकर

---

१. पत्री सर कर चित्र जिमि इमि सेवहु श्रीरंग । वही, १२
२. धाम जोत जो ब्रह्म है, घनीभूत हरि स्याम । वही, १४
३. वृष सुधर्म हरि भजो, जौ चाहो सुखधाम । वही, २३
४. सब जग रंग पतंग को, हरि एकै नवरंग । वही, २४
५. अल अलस तजि, भजौ मनोहर श्याम । वही, २८
६. वयस जु यौवन जात है भजि लै मदनगोपाल ।। वही, २९
७. जग-जीवन नंद नंद । वही, ३०
८. सार जु सबको सांवरो, जिन मोह्यो संसार । वही, ३२
९. कलभ कलुष कलिक्लेश तें, काढहु दीनदयाल ।। वही, ३३
१०. कुरंग सो, रंग्यो न हरि-हर रंग । वही, ३७
११. पटु प्रवीन सोई जगत में, भजे जो रुकमिनि कंत । वही, ३६
१२. बसु धन जग में सो धनी, जाके धन बलबीर । वही, ३५
१३. आत्मज पूत सपूत सो, भजे जो सुन्दर स्याम ।। वही, ३८
१४. हंस जीव को कहत कवि, परमहंस गोविन्द । वही, ४०
१५. तन बिरलो कोउ जगत में, सुनै जु हरिहर बात । वही, ४५
१६. बाल सोई है जगत में भजै न बाल गोपाल । वही, ४६
१७. जाल फांस विद्या जगत, दिखि न भूल नंदनंद । वही, ४७

यह सिद्ध किया है कि श्रीकृष्ण ही संसार और काल से रक्षक है।[1] जिस समय कृष्ण-कृपा होती है उस समय ज्ञान दीपक जल उठता है और अज्ञानान्धकार स्वतः नष्ट हो जाता है।[2] संसार रूपी समुद्र में कृष्ण-नाम नौका के समान है।[3] कृष्ण-रूपी कल्पतरु को छोड़ 'सेंवल' का सेवन करनेवाले खग रूपी जीव को जड़ कहा गया है।[4] कहीं-कहीं तो नन्ददास ने भजन न करनेवालों को 'गर्दभ' तक कह दिया है।[5] नाम-माहात्म्य पर प्रकाश डालते हुए कवि ने नाम को अघ हरण कहा है।[6] उसी व्यक्ति की जिह्वा सार्थक है जो भगवान का नाम लेती है,[7] वाणी भी वही सफल है जिसमें हरि का नाम आता है।[8] इसीलिए सांसारिक आसक्ति त्याग कर श्रीकृष्ण से प्रेम मे जीव का हित है। नन्ददास ने कृष्ण-भक्ति प्राप्त करने के लिए अम्बिका से भी प्रार्थना की है।[9] क्योंकि मनुष्य शरीर प्राप्त कर वह हरि-हीरा अपने हाथ से नही गँवाना चाहता।[10] अतः वह मन को 'आठो याम' श्रीकृष्ण का भजन करने के लिए कहते हैं।[11]

'भाषा दशमस्कन्ध' मे नन्ददास ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि गृह-शरीर, स्नेह-सम्बन्ध—तभी तक मनुष्य को बाँधते हैं जब तक कि वह भगवान की भक्ति में अपने आपको नही लगा देता।[12] और एक बार श्रीकृष्ण मे रति हो जाने पर व्यक्ति फिर संसार के किसी विषय की ओर नही झुकता—जैसे भूने जाने पर बीज की उत्पादिका शक्ति समाप्त हो जाती है।[13] 'नाममाला' मे भी कवि ने आवागमन से मुक्ति केवल घनश्याम के जान लेने पर बताई है। इसीलिए उन्होने हरि, गुरु और उनके भक्तों के

---

१. काल व्याल के काल हरि, मोहन मदनगोपाल। वही, ४८
२. तम अज्ञान को हरहु हरि, उर धरि दीप प्रबोध। वही, ५२
३. पोत नाम जिमि जलधि मधि, श्याम नाम सुखरूप। वही, ५८
४. खग विहंग हरि सुतरु तजि भज जड़ सेंवल सेव। वही, ६५
५. खग गरदभ जग में सोई, जो न भजै हरि स्याम ॥ वही, ९१
६. अघ-हर हरि नाम। वही, ९५
७. रसना जिह्वा तासु की, जो भज लै हरि नाम ॥ वही, ९६
८. इला सरस्वति से भली जामें हरि को नाम। वही, ९९
९. इड़ा अंबिका मातु मोहि प्रीति देहि घनस्याम। वही, १०२
१०. हस्त हाथ तें डारि जिन हरि-हीरा तन पाइ। वही, १०६
११. सारंग श्री भगवान को, भजिए आठो जाम। वही, ११०
१२. हे सुन्दर वर नंदकिसोर। रागादिक तबई लगि चोर ॥
तबई लगि बंधन आगार। देह, गेह अरु नेह विचार ॥
तबई लगि जन नहिं भये तुम्हारे। हे ईश्वर ब्रजराज दुलारे।
—भाषा दशमस्कन्ध, न० ग्र०, पृष्ठ २३७
१३. मेरे विषय जु मति अनुसरै। सु मति न बहुरि विषय संचरै।
भुंजित धान जगत में जैसे। बीज के काम न आवहि तैसे ॥
वही, पृष्ठ २५९

भजन और सेवन की बात कही है।[1] 'सिद्धान्तपंचाध्यायी' में गोपियाँ सांसारिक विषय और भगवद्भजन की चर्चा में कहती है कि स्त्री, पुत्र, पति, गृह आदि में कोई सुख नहीं है। इनके सेवन से तो रोग बढ़ता है जो दिन-दिन महा दुःख देने वाला है। अतः हम सब कुछ छोड़कर आपकी शरण में आई है।[2]

नन्ददास के इस सामान्य भक्ति-परिचय में जिस बात की ओर संकेत है, वह है श्रीकृष्ण के प्रेम की प्राप्ति। श्रीकृष्ण के प्रेम प्राप्ति में सहायक सभी साधनाङ्गों का कवि ने उल्लेख किया है। 'नवधा भक्ति' की चर्चा इसी प्रसङ्ग मे स्पष्ट और संकेत द्वारा प्रस्तुत की गई है। रासपंचाध्यायी की ये पंक्तियाँ श्रवण, कीर्तन और स्मरण की ओर संकेत करती है—

श्रवन कीर्तन सार सार सुमिरन को है पुनि।
ज्ञान-सार हरि-ध्यान-सार स्तुतिसार गहत गुनि॥[3]

यहाँ स्पष्ट है कि श्रवणादि साधन प्रेम के पोषण में सहायक तत्त्व के रूप में स्वीकार किये गये है। श्रवण और स्मरण का उल्लेख अनेकार्थ भाषा में अनेक स्थलों पर हुआ है। रूपमंजरी में पाद-सेवन का स्पष्ट उल्लेख है। इन्दुमति गिरिधर को संतुष्ट करने की अभिलाषा से 'मन के हाथों' से उनके चरणों को पकड़ लेती है।[4] और कभी-कभी सुन्दर पदार्थो से उनकी अर्चना भी करती है।[5] वन्दना तो नन्ददास के अनेकार्थ भाषा, नाममाला और रसमंजरी के आरम्भ मे है। रासपंचाध्यायी और रूपमजरी मे वन्दना के संकेत उपलब्ध होते है। 'बिनुमोल की दासी'—गोपियों की यह उक्ति दास्य की सूचक है। ऐसी ही उक्ति रुक्मिणी ने कही है।[6] श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट करने के लिए रासपंचाध्यायी में गोपियाँ दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन तीनों का आश्रय लेती है। पदावली की लीलाओं में सख्य भाव लक्षित होता है। किन्तु इन सभी का महत्त्व केवल प्रेम की पुष्टि है।

नन्ददास ने भक्ति के अतिरिक्त ज्ञानादि अन्य साधनों की भी चर्चा की है किन्तु उनका इन साधनों की चर्चा का उद्देश्य भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना है। भाषा

---

१. बिना जाने घनश्याम के आवागमन न जाइ।
तातें हरि, गुरु, वैष्णवन, भज निसि दिन चित लाइ॥ नाममाला, २६४

२. दार गार सुत पति इन करि (कहो) कवन आहि सुख।
बढ़े रोग सम दिन दिन छिन छिन देहि महा दुख॥ सि० प०, ५६

३. रा० प०, ५-४१

४. निसिदिन तिय बिनती करति, और न कछू सुहाय।
मन के हाथनि नाथ के पुनि पुनि पकरति पाय॥ रूपमंजरी, दोहा, १७५

५. इंदुमती तहँ अति अनुरागी। ताही मै प्रभु पूजन लागी।
जहँ जहँ जो कछु उत्तम पावै। सो सब आनि कै ताहि चढ़ावै॥
न० ग्र०, पृष्ठ ११४

६. हौं भई तुम परिचारि, नाथ। तुम भये हमारे। रुक्मिणीमंगल, ५१

दशमस्कन्ध में श्रीकृष्ण प्राप्ति-सम्बन्धी उपायों की चर्चा करते हुए उन्होंने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को अधिक महत्वपूर्ण बताया है। और कहा है कि भक्ति बिना कोई सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता।[1] भ्रमरगीत में गोपियाँ ज्ञान मार्ग की उपेक्षा कर 'सूधे प्रेममारग' की बात करती हैं।[2] योग-साधना उनके लिए धूरि के समान है। अतः वे नन्ददास के गुणगान की बात कहती हैं।[3] इसी प्रकार कर्म को वे केवल बन्धन मानती है। चाहे वह बन्धन लोहे की बेड़ी का हो अथवा सोने की बेड़ी का।[4] और फिर कर्म तो तभी तक है जब तक 'हरि' हृदय मे नही आ जाते।[5] श्रीकृष्ण की प्राप्ति हो जाने पर इनकी कोई सार्थकता नहीं। भक्ति के लिए विश्वास की आवश्यकता है। इस विश्वास के बिना केवल कर्म में रत रहकर कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता।[6] योगसाधना को तो गोपियों ने 'गांठ का विष' कह दिया है जिससे उद्धव प्रेमियों का वध करते फिर रहे हैं।[7] ज्ञान उनकी दृष्ठि में द्विविधा उत्पन्न करने वाला है और यह द्विविधा केवल प्रेम द्वारा दूर हो सकती है।[8] अन्त मे नन्ददास ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कह दिया है—

ग्यान जोग सब कर्म तें परे, प्रेम ही सांच।
हौं या पटतर देत हौं हीरा आगे कांच ॥[9]

रासपंचाध्यायी में इस विषय की और अधिक व्याख्या की गई है। धर्म की दुहाई देकर गोपियों से लौट जाने के लिए कहने पर गोपियाँ कहती है कि धर्म, जप, तप, नियम आदि जितने भी साधन हैं उन सभी का लक्ष्य श्रीकृष्ण की प्राप्ति है, परन्तु

---

१. अहो अजित! तिन करि तुम जीते। ग्यानी डोलत भटकत रीते।
अब विधि कहत ग्यान है जोई। भक्ति बिना सोउ सिद्ध न होई॥
न० ग्र०, पृष्ठ २३३

२. कौन ब्रह्म को जोति ग्यान कासों कहै ऊधौ ?
हमरे सुन्दर स्याम प्रेम को मारग सूधौ॥ भ्रमरगीत, ८

३. ताहि बतावौ जोग जोग ऊधौ जेहि पावौ।
प्रेम सहित हम पास नंदनंदन गुन गावौ।
नैन बैन मन प्रान में मोहन गुन भरपूरि।
प्रेम पियूषैं छाँडिकै कौन समेटे धूरि॥ वही, १२

४. कर्म, पाप अरु पुन्य, लोह सोने की बेरी। वही, १६

५. तबही लौं सब कर्म है जब लौं हरि उर नाहिं। वही, १४

६. जिनके वे आँखें नहीं देखें क्यौं वह रूप।
क्यों उपजै विस्वास जे परे कर्म के कूप॥ वही, २४

७. लिये फिरत विष जोग गांठि प्रेमी बधकारी। वही, ४८

८. प्रेम बिवस्था देखि सुद्ध यों भक्ति प्रकासी।
दुबिधा ग्यान गलानि मंदता सगरी नासी॥ वही, ६२

९. वही, ६४

जो स्वयं फल है वह साधनों की ओर प्रेरित करे, यह आश्चर्य की बात है ।[1] स्पष्ट है कि प्रेमाभक्ति में नियम, व्रत, जप, तप आदि सभी साधन स्वीकृत किये गये है। पर इनका लक्ष्य श्रीकृष्ण-प्राप्ति है । इन्हीं में अटक कर लक्ष्य भूल जाना साधक की जड़ता का सूचक है । लक्ष्य प्राप्त हो जाने पर इनकी कोई आवश्यकता नही रहती । नन्ददास ने कर्म, योग, ज्ञान आदि की जो अवहेला की है वह इसी आशय से । वैसे साधना की दृष्टि से वे उनका महत्त्व स्वीकार करते है । प्रेम-मार्ग की महत्ता स्पष्ट करते हुए उन्होने गोपियों का उदाहरण देकर कहा है कि यह बात जो पंडितों ने कही है कि ज्ञान बिना मुक्ति सम्भव नही है—गोपियों ने अपने प्रेम से असत्य कर दिखाई है ।[2] उन्होने ज्ञान का खण्डन नही उपेक्षा की है । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस बात की ओर सकेत करते हुए कहा है—'सूरदास आदि भक्त कवियों मे कही विरोध की ध्वनि नहीं है, वे अगर किसी बात को अनुचित समझेंगे तो अत्यन्त मृदु भाषा मे उसकी उपेक्षा पर जोर देंगे ।'[3]

सिद्धान्तपंचाध्यायी में प्रेम की दृढता का जो साधना-क्रम बताया गया है, उससे साधना के अन्य अंगों को स्वीकार करने की बात का ही द्योतन होता है ।

धर्म कह्यो दृढ़ता कौं जो धर्म (हि) रत होई ।
जा धर्महिं आचरन समल मन निर्मल होई ।।
मन निर्मल भये सुवुध तहां विज्ञान प्रकासै ।
सत्य ज्ञान आनंद आत्मा तब आभासै ।।
तब तुम्हारी निज प्रेम भगति रहि सेई आवै ।
तौ कहुँ तुम्हरे चरन कमल को निकटहिं पावै ।।[4]

इसी आशय की पुष्टि सिद्धान्तपंचाध्यायी के एक अन्य स्थल पर भी हुई है । यहाँ कर्म, ज्ञान और प्रेम—साधना की ये तीन सीढियाँ स्वीकार की गई है जिनमे क्रमशः आगे बढता हुआ साधक सिद्धावस्था तक पहुंचता है ।[5] वस्तुतः प्रेम की तीव्रता साधना

---

१. नेम धर्म जप तप ये सब कोउ फलहिं बतावै ।।
यह कहुँ नाहिन सुनी जो फल फिरि धरम सिखावै ।। रा० प०, १-८१

२. ज्ञान बिना नहि मुकति इह जु पंडित गन गायो ।
गोपिन अपनो प्रेम पंथ न्यारोइ दिखरायो ।। सि० प०, ३८

३. सूर-साहित्य, पृष्ठ ४६

४. सिद्धान्तपंचाध्यायी, ५४-५६

५. जब लगि श्रुति कर कर्मकांड कर्महि परमानै ।
तब लगि इंद्र वरुण रवि इनहीं ईश्वर गानै ।
ज्ञानकांड मै परमेश्वर विज्ञान परम सुख ।
बिसरि गयो सव काम्य कर्म अज्ञान महादुख ।।
तैसेई गोपी प्रथम काम अभिराम रसौं रस ।
पुनि पाछै निःसीम प्रेम जिहि कृष्ण भए बस ।। वही, १०७-१०६

का महत्त्व है—मिलनावस्था है । गोपियों के प्रेम के रूप में इसी महत्त्व की चर्चा की गई है ।

प्रेम का स्वरूप — प्रेम की उत्कट अवस्था में सभी प्रकार की बाधाएं— भवन-भीति, द्रुम, कुंज आदि साधक का मार्ग नहीं रोक पातीं ।[1] यह प्रेम गुणातीत है—पुण्य-पाप रहित नितान्त शुद्ध है ।[2] प्रेम के स्पर्श मात्र से व्यक्ति लोहे से कंचन हो जाता है ।[3] श्रीकृष्ण की अनेक लीलाएं प्रेम-वर्द्धन के लिए हैं ।[4] सच्चे प्रेमी में प्रीति की तीव्रता भूखे में भोजन के प्रति रुचि से सहस्र-गुनी होती है ।[5] प्रेम में छोटे बड़े का कोई भेद नहीं रहता । श्रीकृष्ण जगद्गुरु होकर भी गोपी-प्रेम के सम्मुख अपने आपको तुच्छ समझते हैं ।[6] प्रेम में त्याग की पूर्णता लक्षित होती है । अपने प्रिय का नाम सुनते ही प्रेमी उसी प्रकार सर्वस्व त्याग कर देता है जैसे सर्प केंचुली का त्याग करता है ।[7] प्रेम में काम का सर्वथा अभाव है, यह बात नन्ददास ने रासपंचाध्यायी और सिद्धान्तपंचाध्यायी में मदन-पराजय द्वारा स्पष्ट की है ।[8] काम के गर्वादि अंग प्रेम में लक्षित नहीं होते ।[9] यद्यपि प्रेम की प्राप्ति भगवदनुग्रह से होती है किन्तु इस कृपा का प्रभाव पात्रानुसार लक्षित होता है ।[10] विषयी और प्रेमी के अन्तर को रूपमंजरी में काँच और मणि के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है ।[11] प्रेम एक बार प्रदीप्त हो जाने पर

---

१. भयन भीति द्रुम कुंज पुंज कितहूँ अटकी नहिं । रा० प० १-४६

२. जे रहि गई घर अति अधीर गुनमय सरीर वस ।
पुण्य पाप प्रारब्ध संच्यौ तन नहिन पच्यौ रस ॥ वही, १-५१

३. इतर धातु पाहनहि परसि कंचन ह्वै सोहै ।
नंद सुअन सो परम-प्रेम इह अचरज को है ॥ वही, १-५४

४. प्रेम-पुज वरधन के काज ब्रजराज कुंअर पिय ।
मंजु कुज मैं नेकु दुरे अति प्रेम भरे हिय ॥ वही, १-१०४

५. महाछुधित कौं जैस असन सौं प्रीति सुनी है ।
ताहू तें सतगुनी सहस गुनि कोटि गुनी है ॥ वही, ४-५

६. जदपि जगत-गुरु नागर जसुमति-नंद दुलारे ।
पै गोपिन के प्रेम अग्र अपने मुख हारे ॥ वही, ४-१५

७. प्रीतम सूचक शब्द सुनत जब अति रति बाढ़ै ।
होत सहज सब त्याग नाग जिमि कंचुकि छांड़ै ॥ सि० प०, ३२

८. रासपंचाध्यायी, १।६७-१०० और सि० प०, १३०

९. गर्वादिक जे कहे काम के अंग आहि ते ।
शुद्ध प्रेम के अंग नहिन जानहि प्राकृत जे । सि० प०, ६५

१०. इह न कहइ अस ईहाँ ऐसे । जैसिय वस्तु प्रकासक तैसे ॥
रूपमंजरी, न० ग्र०, पृष्ठ १०३

११. जगमग जगमग करै नग, जौ जराय संग होइ ।
काच करकचन बिचि लचे, भलौ कहै नहिं कोइ ॥ दोहा, १५

उसी प्रकार बढ़ता है जैसे अग्नि ।[1] प्रेम एकनिष्ठा में विश्वास करता है—गंधी के सौदे की भांति जगह-जगह उसका प्रदर्शन नही हुआ करता ।[2] प्रेम की तीव्र अवस्था मे आत्म-सुधि नही रहती—तन्मयता की यह पूर्णता भूत प्रेत के स्पर्श मे अथवा मदिरापान में भी लक्षित नही होती ।[3] इसीलिए श्रीकृष्ण को प्रेम से प्राप्य माना गया है । प्रेम चर्चा का विषय नहीं, अनुभूति का विषय है —इसलिए प्रेम की साधना स्वयं करने से होती है ।[4] प्रेम की लगन एक बार लगती है और जन्म भर उसका प्रभाव रहता है ।[5] प्रेम के बिना इस विश्व में जो कुछ है वह केवल विषय है । उसमे बुरी तरह फंसे हुए व्यक्ति का उद्धार सम्भव नहीं ।[6] हृदय में कपट धारण करने वाले व्यक्ति में प्रेम सम्भव नही है ।[7] भ्रमरगीत में प्रेम की शुद्धता का प्रतिपादन 'मधुप' के उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया गया है ।

कोउ कहै रे मधुप कहा तू रस की जाने ।
बहुत कुसुम पै बैठि सबन आपुन रस माने ।।[8]

प्रेम का यही स्वरूप नन्ददास को स्वीकार्य है । यह प्रेम विरह से पुष्ट होता है । सिद्धान्तपंचाध्यायी मे इसीलिए कृष्ण-विरह को 'प्रेम उच्छलन' कहा गया है ।[9] कही-कहीं तो विरह को मिलन की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया गया है ।

हौं जानौं पिय-मिलन ते, विरह अधिक सुख होय।
मिलते मिलियै एक सौं, बिछुरै सब ठां होय ।[10]

इस सिद्धान्त को हम सिद्धान्तपंचाध्यायी में चरितार्थ होता हुआ देखते है । गोपियाँ कृष्ण-विरह में आत्म-सुधि भूल बावरी-सी घूमती है और कृष्ण का पता पूछती

---

१. प्रेम बढ़ावै छिनहि छिन, पूछि पूछि उनहारि ।
ज्यों मथि काढ़ी अगनि कन, क्रम क्रम देई पजारि ।। रूपमंजरी, दोहा, २२८
२. प्रेम एक इक चित्त सौं, एकहि संग समाय ।
गंधी कौ सौंधौ नहीं जन जन हाथ बिकाय ।। वही, दोहा, ३२५
३. भूत छिये मदिरा पिये, सब काहू सुधि होय ।
प्रेम सुधारस जो पिवै, तिहि सुधि रहै न कोय ।। वही, दोहा, ४२३
४. कथनी नाहिन पाइये, पाइये करनी सोय ।
बातन दीपग नां बरै, बारे दीपग होय ।। वही, ५३५
५. प्रेम मिटै नहिं जनम भरि, उत्तम मन की लागि । रसमंजरी, १२९
६. प्रेम बिना सब पचि मुये विषय वासना रोग । भ्रमरगीत, १६
७. हृदय कपट सौं परम प्रेम नाहिन छवि पावै ।। वही, ५०
८. वही, ५१
९. कृष्ण विरह नहिं विरह-प्रेम-उच्छलन कहावै ।
निपट परम सुख-रूप इतर सब दुख बिसरावै ।। सि० प०, ७०
१०. वही, ४४९

है ।[1] रासपंचाध्यायी के द्वितीय अध्याय में प्रेम के लिए विरह को आवश्यक माना गया है । स्पष्ट है कि विरह प्रेम की पूर्णता के साधन के रूप में स्वीकृत है ।

श्रीकृष्ण के इस प्रेम के विकास में तीन दशाओं की चर्चा की जाती है—स्नेह, आसक्ति और व्यसन । इनमें से आसक्ति के विभिन्न रूपों की चर्चा भक्ति-सूत्रों[2] में की गई है । ये आसक्तियाँ ग्यारह प्रकार की हैं—

१. ईश्वर के गुण और महत्ता में आसक्ति	२. रूपासक्ति
३. पूजासक्ति	४. स्मरणासक्ति
५. दास्यासक्ति	६. सख्यासक्ति
७. कान्तासक्ति	८. वात्सल्यासक्ति
९. आत्मनिवेदनासक्ति	१०. तन्मयतासक्ति
११. परमविरहासक्ति	

इन सभी आसक्तियों को नन्ददास के काव्य में अलग से दिखाने की आवश्यकता नहीं है । भक्ति की उपर्युक्त चर्चा में प्रायः सभी आसक्ति रूपों का समावेश हो गया है । वस्तुतः प्रेम-तीव्रता व्यंजित करने वाले ये विभिन्न पक्ष हैं । और नन्ददास की गोपियाँ 'तो प्रेमध्वजा रस-रूपिणी' हैं अतः उनके प्रेम में किसी प्रकार से प्रेम का अभाव लक्षित नहीं कराया जा सकता । व्यसन का सुन्दर उदाहरण परीक्षित-प्रसंग में उपलब्ध होता है ।[3]

नन्ददास की भक्ति के सम्बन्ध में अब तक जो चर्चा की गई है उससे यह नितान्त स्पष्ट है कि नन्ददास की रुचि दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य—इन विभिन्न भावों की भक्ति में से माधुर्य की ओर विशेष है । इसे ही कान्ताभाव की भक्ति कहा गया है । रासपंचाध्यायी में इस भाव को स्पष्ट करने के लिए परीक्षित की शङ्का प्रस्तुत की गई है । परीक्षित की इस शङ्का के समाधान में शुकदेव कहते हैं कि भगवान सभी भावों से भजनीय हैं ।[4] और इसीलिए गोपियों ने 'कमनीय कान्ह' की उपासना की । सिद्धान्त-पंचाध्यायी में तो इसे विस्तार से स्पष्ट किया गया है—

> जेन केन परकार होइ अति कृष्ण मगन मन ।
> अनाकर्ण चैतन्य कछु न चितवै साधन तन ॥
> योगी जिहिं अष्टांग साधनाहू साधन ते ।
> पाई परम परमातम बहुरि का बहुरि करत ते ॥

---

१. सुधि न रही कछु तन में वन में बूझति डोले ।
   निगम-सार सिद्धांत वचन तें अल बल बोले ॥ सि० प०, ६६

२. नारद भक्ति सूत्र, सूत्र संख्या ८२

३. रासपंचाध्यायी, १-६१

४. सर्वभाव भगवान कान्ह जिनके हिय माहीं ॥ रासपंचाध्यायी, १-६३

तैसेहि ब्रज की बाम काम रस उत्कट करि कै।
शुद्ध प्रेममय भई लई गिरिधर उर धरि कै ॥[1]

यही गोपियाँ नन्ददास की भक्ति का आदर्श है। भ्रमरगीत मे तो उद्धव द्वारा इसी बात को पुष्ट करते हुए कहा गया है कि जो इस प्रकार से सभी मर्यादाओं को मिटाकर श्रीकृष्ण की आराधना करते हैं उन्हें परमानन्ददायी प्रेम की प्राप्ति क्यों न हो।[2] मधुर भाव की इस भक्ति के दो पक्ष है—स्वकीया और परकीया। नन्ददास के काव्य में दोनों की चर्चा की गई है। राधा की सगाई, विवाह और स्वाधीन भर्तृका की प्रेम-लीलाएँ स्वकीया भाव की सूचक हैं। रूपमजरी विशेष रूप से परकीया भाव के लिए लिखी गई है। वैसे गोपियों की मधुर भावना में गृह-सुत-पति आदि के त्याग की बात परकीया भाव को लक्षित करानेवाली है। स्वकीया की अपेक्षा परकीया भाव मे रसाधिक्य को कवि ने स्वयं स्वीकार किया है—

रसनि में जो उपपति रस आही। रस की अवधि कहत कवि ताही।[3]

परकीया का वर्णन रसमंजरी में विभिन्न भेदों को स्पष्ट करते हुए भी कवि ने किया है। सामान्यतः नन्ददास के काव्य में स्वकीया और परकीया दोनों को कृष्ण-प्रेम में उचित स्वीकार किया गया है। उसके अनुसार कृष्ण-तुष्टि के लिए किए गए कर्म व्यभिचार नहीं है अपितु सुख का कारण है।[4] यही आदर्श परकीया भाव की स्वीकृति का कारण कहा जा सकता है। मधुर उपासना के परकीया भाव का जितना स्पष्ट समर्थन नन्ददास ने किया है, सम्भवतः अष्टछाप के किसी अन्य कवि ने नही। परकीया भाव का वर्णन सूरदास, परमानन्ददास आदि मे भी है किन्तु उसे सिद्धान्ततः स्पष्ट करना नन्ददास का कार्य है। बहुत सम्भव है कि उनके समय तक गौड़ीय-सम्प्रदाय का यह प्रभाव पर्याप्त मात्रा में वल्लभ-सम्प्रदाय में स्वीकृत हो गया हो। नन्ददास की रचनाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि परकीया की ओर उनका झुकाव विशेष रहा। रासपंचाध्यायी और सिद्धान्तपचाध्यायी मे गोपियों का अर्द्ध-रात्री में श्रीकृष्ण से वन-प्रदेश में मिलन परकीया का ही मिलन है। रूपमंजरी के अतिरिक्त भँवरगीत में भी गोपियों का प्रेम परकीया भाव का पोषक है।

ये सब प्रेमासक्त होइ रहीं लाज कुल लोपि।[5]

पदावली में रूपासक्ति के पदों में इसी भाव का प्रेम लक्षित किया जा सकता है। किन्तु गौड़ीय-सम्प्रदायानुयायियों की भाँति राधा को परकीया नही माना गया।

---

१. सिद्धान्तपंचाध्यायी, ११०, १११, ११३, ११४
२. जे ऐसी मरजाद मेटी मोहन को ध्यावें।
   काहे न परमानन्द प्रेम पदवी को पावें ॥ छन्द ६४
३. रूपमंजरी, पंक्ति १५३
४. कृष्ण तुष्ट करि कर्म करै जो आन प्रकारा।
   फल बिभचार न होइ होइ सुख परम अपारा ॥ सि० प०, ३४
५. भ्रमरगीत, ६३

वल्लभ-सम्प्रदाय में राधा निश्चित रूप से स्वकीया है। और नन्ददास ने उसी परम्परा का निर्वाह श्यामसगाई आदि रचनाओं द्वारा किया है।

नादमार्ग और रूपमार्ग—रूपमंजरी में नन्ददास ने ईश्वर को प्राप्त करने के दो मार्ग—नाद और रूप का उल्लेख किया है। ये मार्ग कठिन होते हुए भी अमृत प्राप्त कराने वाले हैं।

जग में नाद अमृत मग जैसो। रूप अमीकर मारग तैसो।
गरल अमृत इकंग करि राखें। भिन्न-भिन्न कै विरलै चाखें॥[1]

नाद-मार्ग से कवि का अभिप्राय मुरली ध्वनि श्रवण कर उसी का अनुसरण करते हुए श्रीकृष्ण तक जा पहुँचना है। रूपमार्ग में प्रेम और मिलन का आधार रूपासक्ति है। श्रीकृष्ण के रूप का दर्शन अथवा श्रवण इस मार्ग के पथिक का पाथेय होता है। उसी में आसक्त प्रेमी सर्वस्व त्याग कर श्रीकृष्ण से मिलन के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। नन्ददास ने गोपियों को नाद और रूप—दोनों मार्गों का आश्रय लेकर बढ़ने वाली कहा है। रासपंचाध्यायी में नन्दमार्ग का निर्देश करते हुए कवि ने कहा है कि मुरली नाद ब्रह्म की जननी है। अपने स्वर से वह सम्पूर्ण विश्व को मुग्ध कर देती है।[2] गोपियाँ इस मुरली ध्वनि को सुनकर आगे बढ़ती हैं। यहाँ उनका मार्ग मुरली की 'गीत-धुनि' का मार्ग है।[3] किन्तु इस मार्ग पर चलने का अधिकार केवल गोपियों का है।

नाद अमृत को पंथ रंगीलो सूछम भारी।
तिहि ब्रज तिय भले चलीं आन कोउ नहीं अधिकारी॥[4]

गोपियों के अधिकार की बात प्रेम-तीव्रता के आधार पर कही गई है। मुरली ध्वनि के आकर्षण में सन्देह नहीं किया जा सकता। किन्तु यह आकर्षण लौकिक नहीं है। इसके पीछे 'कृष्ण गहे जिनके मन' वाली बात जुड़ी हुई है। अतः यह मार्ग साधना का ही सूचक है किसी लौकिक अभिसार का नहीं। मुरली-स्वर के साथ बहकर आने-वाली सुधा जब कानों में रस घोल देती है उस समय किसी भी स्त्री का अपने को संयत रख सकना कठिन है।[5] किन्तु कृष्ण का यह अनुग्रह केवल गोपियों के लिए है सबके लिए नहीं। उन्होंने गोपियों का मन-हरण करने के उद्देश्य से ही कल गान किया है।[6] नाममाला में सखी यही बात-राधा से कहती है कि कृष्ण वंशी में तुम्हारा नाम ले लेकर

---

१. रूपमंजरी, पंक्ति १८,१९
२. नाद ब्रह्म की जननि मोहिनी सब सुख सागर। रा० पं०, १-४७
३. सुनत चलीं ब्रजबधू गीत धुनि को मारग गहि। वही, १-४९
४. वही, १-५०
५. त्यों ही पिय की मुरलीं-जुरली अधर-सुधा-रस।
   सुनि निजु धरम न तजै तरुनि त्रिभुवन महिं को अस॥ वही, १-८४
६. नागर नवल किसोर कान्ह कल-गान कियो अस।
   बाम बिलोचन बालन को मन हरन होई जस॥ वही, १-४८

पुकारते हैं ।[1] सिद्धान्तपंचाध्यायी में मुरली को 'शब्द-ब्रह्म-मय' कहा गया है ।[2] नादमार्ग का ऐसा स्पष्ट कथन केवल श्यामसगाई में उपलब्ध होता है जहाँ मुरली की ध्वनि सुन राधा और गोपियों के मुग्ध होने की बात कही गई है ।[3] वंशी-रव का उल्लेख नाममाला और रूपमंजरी मे हुआ है ।[4] किन्तु यहाँ केवल उल्लेख-मात्र है—उसका अनुसरण नही है । रूपमंजरी मधुर वंशी-रव की बात कहकर रूप की प्रशंसा करती है—

तार्क रूप अनूप रस बौरी हौं मेरी आलि ।
आज तनक सुधि परन दं सबं कहौंगी कालि ।।[5]

यहाँ रूपमंजरी को मत्त बना देने वाला रूप है—वंशी-रव नही । रूपासक्ति का प्रसार तो नन्ददास की प्रायः सभी रचनाओं में है । रासपंचाध्यायी में भी वंशी-ध्वनि पर मुग्ध हो श्रीकृष्ण-मिलन के लिए जाने वाली गोपियाँ श्रीकृष्ण से कहती है कि तुम्हारा यह रूप तो धर्मी-व्यक्तियों के धर्म को भी मोहित बनाने वाला है ।[6] ऐसी अनेक उक्तियाँ दोनों पंचाध्यायियों में उपलब्ध हो जाती हैं । अनेकार्थ भाषा में श्रीकृष्ण के रूप की चर्चा की गई है । रसमंजरी 'नायिका-भेद'-सम्बन्धी रचना होते हुए भी रूप-मार्ग की पोषक है । रूप, प्रेम, आनन्द—सभी कुछ श्रीकृष्ण का है ।[7] अतः रूप पर आसक्त हो उनसे प्रेम करना स्वाभाविक है । श्यामसगाई में श्रीकृष्ण का रूप ही राधा के विह्वल होने का कारण है ।[8] भ्रमरगीत में कृष्ण-सन्देश सुनते ही गोपियों को श्रीकृष्ण का रूप स्मरण हो आता है ।[9] रुक्मिणीमंगल में व्यक्त प्रेम तो स्पष्ट ही रूप का परिणाम है । नारद से रुक्मिणी ने श्रीकृष्ण के गुणों को सुना—साथ ही उनके रूप को भी । तभी वह कहती है—

अब विलंब नहिं करौं, बरौं त्रिभुवन-पति सुन्दर ।
नाथ परम सुखधाम, स्याम सुख भोग पुरंदर ।।[10]

रूपासक्ति का उल्लेख पदावली में अनेक प्रकार से हुआ है । स्पष्ट है कि नन्ददास ने श्रीकृष्ण-मिलन के दोनों मार्ग—नाद और रूप का उपयोग अपने काव्य में किया

---

१. वे वंशी में कहत प्रिय, हे प्राणेश्वरि आव । नाममाला, २०१
२. शब्द-ब्रह्म-मय वेनु बजाय सबै जन मोहे । सि० प०, २६
३. धुनि सुनि मोही राधिका और ब्रजसिगरी नारि । श्यामसगाई, २१
४. मुरली हाथ सुहाई माई । बिनिहि बजाई राग चुचाई ।। रूपमंजरी, पंक्ति २४४
५. वही, दोहा २४५
६. अरु यह तुम्हरौ रूप धरमहि मोहै । रा० प०, १-८२
७. रूप प्रेम आनन्द रस, जो कछु जग मैं आहि ।
सो सब गिरिधर देव कौं, निधरक बरनौं ताहि ।। रसमंजरी, दोहा, ७
८. मोर-चन्द्रिका धारि, सुनटवर-भेष बनाई;
बरसाने के बागहिं, मोहन बैठे जाई ।। श्यामसगाई, ६
९. सुनि मोहन सन्देश रूप सुमिरन ह्वै आयौ । भ्रमरगीत, ६
१०. रुक्मिणीमंगल, ६२

है। दोनों का उद्देश्य एक है—प्रियतम से मधुर-मिलन। अतः माधुर्य भक्ति को स्पष्ट करने में उक्त मार्गों का परिचय सहायक सिद्ध होता है।

नन्ददास के दार्शनिक और भक्ति-भावना सम्बन्धी विचारों के परिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि नन्ददास ने आचार्य वल्लभ और गुसाईं विट्ठलनाथ के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को स्वीकार करके उन्हीं को अपनी भाषा में प्रस्तुत किया है। किसी नवीन सिद्धान्त-प्रतिपादन की ओर उनका लक्ष्य नहीं था—वे केवल व्याख्याता थे। कहीं-कहीं उन्होंने आचार्य के सिद्धान्त का भाषानुवाद कर दिया है। अग्निविस्फुलिंग के सदृश जीव और ऊर्णनाभि के समान सृष्टि का प्रसार—दोनों उदाहरण आचार्य वल्लभ ने अपने ग्रन्थों में दिये हैं। नन्ददास ने उसी का अनुवाद इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

छिनक में करौ, भरौ संहरौ। ऊर्ननाभि लौं फिरि विस्तरौ।
तुम तैं हम सब उपजत ऐसैं। अगिनि तैं विस्फुलिंग गन जैसैं॥[1]

इसी प्रकार रास के प्रसंग में रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य वल्लभ ने ब्रह्मानन्द की अपेक्षा भजनानन्द की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। उसी भाव को सम्मुख रखते हुए नन्ददास ने कहा है—

या करि ब्रह्मानंद सु हरुवौ। भजनानंद दिखायौ गरुवौ![2]

किन्तु उक्त उदाहरणों से हमारा उद्देश्य केवल यह स्पष्ट करना है कि नन्ददास ने विचारों की अभिव्यक्ति में आचार्य का अनुसरण किया है। यह बात शुद्धाद्वैत, अविकृत परिणामवाद और ब्रह्मवाद के सम्बन्ध में कही गई नन्ददास की उक्तियों से पुष्ट हो जाती है। किन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं कि नन्ददास मात्र-अनुवादक थे। जो कुछ उन्होंने कहा है वह स्पष्ट रूप से उनके मनन का परिणाम है। नन्ददास की विद्वत्ता के बारे मे उनके समकालीन सभी स्रोतों से प्रकाश पड़ता है। अतः उन्होंने वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का विस्तृत अध्ययन किया होगा, इसमे कोई सन्देह नहीं। किन्तु इस अध्ययन से उन्हे एक विशिष्ट दृष्टिकोण प्राप्त हुआ, जिसे उन्होंने विभिन्न विचारों की व्याख्या मे प्रस्तुत किया है। रासपंचाध्यायी और सिद्धान्त-पंचाध्यायी में व्यक्त विचार कवि के मनन को स्पष्ट करते हैं। शुकदेव का परिवर्तित व्यक्तित्व नन्ददास के निजी विचारों का परिणाम है। गोपियों मे जो रस-लिप्सा पाई जाती है, वह भी नन्ददास की मानसिक वृत्ति की ओर संकेत करती है। नन्ददास के विचारों का मूल आधार हम रस-दर्शन मान सकते है। वस्तुतः इसी के आधार पर उन्होंने प्रत्येक सिद्धान्त को कसा है। यही कारण है कि नन्ददास के ब्रह्म-रसमय, प्रेम-मय श्रीकृष्ण है और भक्त परम रसिक हैं। जगत् की उन्हीं वस्तुओं को उनके काव्य मे स्थान प्राप्त हुआ है, जो रस की पोषक हैं। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए कवि ने रसपरक उदाहरण प्रस्तुत किये है।

---

१. न० ग्र०, भाषा दशमस्कन्ध, पृष्ठ १९७
२. वही, पृष्ठ २१७

हरि जस रस जिहि कवित नहिं, सुनै कवन फल ताहि ।
सठ कठपूतरि संग घुरि, सोए को सुख आहि ॥[1]

परकीया भाव अथवा उपपति रस की श्रेष्ठता का प्रतिपादन इसी अधार पर हुआ है। कवि के मन में व्यभिचार वाली बात अवश्य उठी थी किन्तु उन्हे उन सभी कार्यों मे कोई दोप दिखाई नही देता जो श्रीकृष्ण-प्रेम के पोपक है, जिनसे रस की प्राप्ति होती है। इस आशय को रासपंचाध्यायी के अनेक स्थलों पर विभिन्न रूप में स्पष्ट किया गया है। यह रस-दर्शन नन्ददास की विचारधारा की मौलिकता है। वे सौन्दर्य और यौवन के कवि हैं—अतः मधुर रस की स्वीकृति उनके स्वभाव और वृत्ति के सर्वथा अनुकूल है। यद्यपि राधा को उन्होंने स्वकीया रूप मे प्रस्तुत किया है किन्तु उसके प्रेम वर्णन में परकीया की-सी तीव्रता लक्षित होती है। विरहमंजरी में उसके तीव्र प्रेम की चर्चा कवि ने वहुत सुन्दर ढंग से की है। राधा प्रियतम के अङ्क में शोभा पा रही है कि अचानक विहार के इन क्षणो में उसे यह सम्भ्रम हो जाता है कि प्रियतम मेरे पास नही हैं। यही विचार उसे व्याकुल वना देता है और वह अपनी सुध-वुध खो बैठती है।

भूत छिये, मदिरा पिए सव काहू सुधि होय ।
प्रेम-सुध-रस जो पिए, तिहिं सुधा रहे न कोय ॥[2]

प्रेम की यह तीव्रता राधा के पूर्वराग, मिलन और मान – तीनो मे लक्षित होती है। रुक्मिणी में यद्यपि परकीया भाव स्वीकार नही किया जा सकता, किन्तु पूर्वराग के समय उसका आदर्श वही गोपियाँ हैं, जिन्होंने श्रीकृष्ण-प्रेम में अपने पति का त्याग कर दिया और अन्य भी जितनी मर्यादाएँ उनके मार्ग में वाधक सिद्ध हुई, उन सभी को उन्हों-ने लात मार दी। यही गोपियाँ नन्ददास की भक्ति का आदर्श है—क्योंकि इन्ही की भावना का अनुसरण करते हुए वे रासलीला में प्रवेश की अपनी कामना पूर्ण कर सकती है। स्पष्ट है कि नन्ददास के विचार और भक्ति-भाव—सभी मधुर रस से ओतप्रोत है। रूपमंजरी का मगलाचरण विचारों को रसमय वनाने की प्रक्रिया का स्पष्ट उदाहरण है—

प्रथमहि प्रनऊँ प्रेममय, परम जोति जो आहि ।
रूपऊ पावन रूपनिधि, नित्य कहत कवि ताहि ॥[3]

इस प्रकार नन्ददास के दो रूप सम्मुख आते हैं—(१) विचारों के व्याख्याता और (२) विचारों को रसमय वनाकर प्रस्तुत करनेवाले। इन दोनों रूपों की जितनी स्पष्ट अभिव्यक्ति भ्रमरगीत में हुई है, उतनी सम्भवतः अन्य किसी ग्रंथ मे नही हुई। गोपी-उद्धव संवाद उनका व्याख्याता रूप प्रस्तुत करता है और शेप काव्य उनकी मधुर रस की भावना वाला रूप प्रस्तुत करता है। उद्धव का ज्ञानी से प्रेमी में वदल जाना नन्ददास के दूसरे रूप की सफलता का उद्घोप करता है। यही रूप नन्ददास के व्यक्तित्व का विशिष्ट रूप है।

---

१. रूपमंजरी दोहा, ३५
२ विरहमंजरी, दोहा, १०
३. रूपमंजरी, मङ्गलाचरण

रसिक

नन्ददास की रचनाओ मे जिस भाव की अभिव्यक्ति हुई है, उसका सम्बन्ध श्रीकृष्ण-रति से है। यद्यपि सामान्य पाठक के लिए यह लौकिक शृङ्गार से भिन्न नहीं है किन्तु कवि के विचारों का आदर करते हुए हम इसे लौकिक शृङ्गार से पृथक् रखना ही उचित समझेंगे। उसने स्वय अपने सभी भाव श्रीकृष्ण को समर्पित किये है। उसकी कथा श्रीकृष्ण यश-गाथा से भिन्न नहीं है। श्रीकृष्ण-यश रहित काव्य को उसने काव्य नहीं माना—वह केवल एक भीतिचित्र है। नन्ददास के विचार में ऐसे काव्य को पढ़कर किसी प्रकार के आनन्द की उपलब्धि सम्भव नही है।

तुव जस रस जिहि कवि न होई। भीति-चित्र सम चित्र है सोई।
हरि जस रस जिहि कवित नहिं, सुनैं कवन फल ताहि।
सठ कठपूतरि संग घुरि, सोए कौ सुख आहि॥[1]

नन्ददास की इस प्रकार की उक्तियों से दो बातें स्पष्ट होती हैं—(१) नन्ददास मूलतः भक्त थे और (२) उनकी भक्ति भाव की अभिव्यक्ति का ढंग अत्यधिक सरस था। इसीलिए उनमें भक्ति और कवित्व दोनों का अपूर्व समन्वय है। यह बात उनके कलाकार रूप के देखने से और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगी।

नन्ददास ने कृष्ण-रति का जो वर्णन किया है, वह लौकिक रति से भिन्न नही है। संयोग और वियोग का प्रायः वही रूप यहाँ भी उपलब्ध होता है जो शृंगार-रस के ग्रन्थों का विषय है। किन्तु भक्ति-भावापन्न होने के कारण नन्ददास उसे मधुर रस के रूप में ही ग्रहण करते है। 'मधुर रस' शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप में नन्ददास ने कहीं नहीं किया है। उन्होने उसके समानवाची शब्द 'उज्ज्वलरस' का प्रयोग किया है। वस्तुतः जीव गोस्वामी ने 'मधुर रस' के लिए 'उज्ज्वलनीलमणि' की टीका में 'उज्ज्वल रस' शब्द का भी प्रयोग किया है।[2] अतः उन्ही के अनुकरण पर नन्ददास द्वारा इस शब्द का प्रयोग समीचीन है। रासपंचाध्यायी मे गोपी-कृष्ण-विलास-वर्णन के बाद वे कहते हैं—

---

१. रूपमंजरी, पंक्ति ३४-३५
२. उज्ज्वलनीलमणि, प्रथम श्लोक

यह उज्जल रस-माल कोटि जतनन कै पोई।
सावधान ह्वै पहिरौ यहि तोरौ जिनि कोई ।।[1]

'यह उज्ज्वल रस-माल' श्रीकृष्ण और गोपियों के विहार-वर्णन से भिन्न नहीं है, क्योकि विहार आरम्भ से पूर्व नन्ददास ने इस शब्द का प्रयोग उस समय किया है जब श्रीकृष्ण गोपियों को मुरली-ध्वनि द्वारा बुलाकर वापस लौट जाने के लिए कहते है ।[2] तात्पर्य यह कि नन्ददास श्रीकृष्ण-रति से प्राप्त रस के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट है। उन्होंने लौकिक शृङ्गार से इसकी श्रेष्ठता का संकेत 'कटपूतरि संग घुरि' वाले दोहे मे किया है । इसके अतिरिक्त अपने काव्य-नायक श्रीकृष्ण को संसार में प्राप्त होने वाले रस का मूल कारण और जगत् का आधार स्वीकार करना भी इसी श्रेष्ठता का सूचक है।

नमो नमो आनंदघन सुंदर नंद-कुमार ।
रस-मय, रस-कारन, रसिक, जग जाके आधार ।।
है जो कछु रस इहि संसार। ताकहुँ प्रभु तुम ही आधार।।[3]

श्रीकृष्ण-रति सम्बन्धी अपने इस आशय को पूर्णतया स्पष्ट कर देने के बाद कवि मधुर-रस की लीलाओं के वर्णन मे प्रवृत्त हुआ है। इस लीला-वर्णन के अनेक स्थल स्थूल शृङ्गार का परिचय देते हैं किन्तु कवि के लिए इस प्रकार के वर्णन में किसी प्रकार का रहस्य नही है । वह उसकी भक्ति-साधना का अङ्ग है, इसीलिए उसके वर्णन में उसे कोई संकोच नही ।[4]

नन्ददास के काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण के बारे में ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका सारांश यह है कि वे भक्त के रूप मे ही काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए थे । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी की यह उक्ति इस बात की पोषक है—"सूरदास या नन्ददास कविता नही करते थे, भजन गाते थे । वे साहित्य की सृष्टि करने के उद्देश्य से नही गाते थे; गाते थे साधना के लिये ।"[5] पर उनकी भक्ति-भावना ने उत्कृष्ट साहित्य को जन्म दिया है । उसका कारण यही है कि उन्होंने भक्ति-भाव की व्यंजना की है, उसका प्रतिपादन नही किया और भावाभिव्यंजक कृति काव्य ही मानी जायेगी ।

भक्ति का मूल आधार है प्रेम । नन्ददास के काव्य में इसी प्रेम-तत्त्व की व्यंजना हुई है । सम्पूर्ण काव्य प्रेम से अनुप्राणित है । नन्ददास ने प्रेम का जो स्वरूप स्वीकार किया है उसका सम्बन्ध यौवन और सौन्दर्य से है । सम्भवतः ये दोनों तत्त्व उनकी प्रवृत्ति का अभिन्न अंग बन गए थे । जन-श्रुति है कि वे जीवन में सौन्दर्य का अनुगमन

---

१. रासपंचाध्यायी, ५-४०
२. उज्ज्वल रस कौ यह सुभाव बाँकी छवि छावै ।
 बंक चहनि पुनि कहनि बंक अति रसहिं बढ़ावै ।। रा० प०, १-७१
३. रसमंजरी, प्रथम दो पंक्तियाँ
४. बिलसत बिविध बिलास हास नीबी कुच परसत ।
 सरसत प्रेम अनंग रँग नव घन ज्यों बरसत ।। रा० प०, १-६६
५. सूर साहित्य, पृष्ठ १२६

करते रहे। स्वयं श्रीनाथजी ने उन्हें सौंदर्य-आनन्द-मयी मूर्ति के रूप में दर्शन देकर कृतार्थ किया। और जिस भावना में वे रत हुए, उसमें सौन्दर्य का ही प्रसार था। इसी प्रकार उनके इष्ट राधा-कृष्ण नित्य किशोर, आनन्द-मूर्ति और प्रेम रंग में रंगे हैं। उन्हीं की मधुर-लीलाओं का ध्यान और गान उनकी भजन-पद्धति है।

रंग-रंगीली-राधिका, रंग-रंगीले गोप।
इहि रंग-भीने नित बसौ 'नंददास' के हीय ॥[1]

और भी अनेक स्थलों पर नन्ददास ने अपने इष्ट के रसस्वरूप की चर्चा की है। इसीलिए हमने भक्त की अपेक्षा उन्हें रसिक कहना अधिक उपयुक्त समझा है। माधुर्य भक्ति के क्षेत्र में यह शब्द नवीन नहीं है। स्वयं नन्ददास ने श्रीकृष्ण के लिए 'रसिक' शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द का सामान्य अर्थ है प्रेमी। किन्तु रस-साधना के उपासक के लिए इस शब्द के प्रयोग की परम्परा नन्ददास के समय में बहुत प्रचलित थी। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ मधुरोपासना में लीन साधक के लिए रसिक शब्द का प्रयोग किया गया है। व्यास हरिराम,[2] ध्रुवदास,[3] भगवत रसिक[4]—इन सभी ने रसिक शब्द को इस विशिष्ट उपासना के उपासक के लिए उपयुक्त माना है। भक्ति की बात को यदि छोड़ दिया जाय तो भी उनकी उक्तियों में नन्ददास का जो रूप सामने आता है वह रसिक का है। प्रेम सम्बन्धी अनेक मार्मिक उक्तियाँ उनके काव्य में भरी पड़ी हैं।[5] यहाँ तक कि काव्य-रचना सम्बन्धी उक्तियों को स्पष्ट करने में उन्होंने जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वे भी उनके मधुर प्रेम के परिचायक हैं—

रस विहीन जे अच्छर सुनहीं। ते अच्छर फिरि निज सिर धुनहीं ॥
बाला-स्मित कटाच्छ अरु लाजा। अंधरे बालम के किहि काजा ॥
ज्यों तिय सुरत समय सितकारा। निफल जाहि जो बधिर भतारा ॥
कवि-अच्छर अरु तरुनि-कटाच्छैं। ए दोहु सुलग लगैं जिय आछैं ॥[6]

---

१. पदावली, १८४
२. रसिक अनन्य हमारी जाति। कुलदेयी राधा, बरसानो खेरो, ब्रजवासिन सों पाँति।
व्यास-वाणी, पूर्वार्द्ध, पृष्ठ ७५
३. रे मन अस सब छाँड़ि के, जो अटकै इकठौर।
वृन्दावन घन कुंज में, जहाँ रसिक सिरमौर ॥ मनशिक्षा लीला, पृष्ठ ८
४. हैं हम रसिक अनन्य प्रिया पिय कुंज महल के वासी।
नई नई केलि विलोकें क्षण क्षण रति विपरीत उपासी ॥
भगवत रसिक की वाणी, पृष्ठ ५५
५. गड्यो जु मन पिय प्रेम रस क्यों हू निकस्यो जाए।
कुंजर ज्यों चहलै पर्‌यो छिन छिन अधिक समाय ॥ २१४ ॥
कह्यो चहति पुनि नहिं कहति, रहति डरपि इहि भाय।
मोहन मूरति हीय तें, कहति निकसि जिनि जाय ॥ २२३ ॥ रूपमंजरी
६. वही, पंक्ति २७-३०

कवि का यह रस-सम्बन्धी दृष्टिकोण उनकी रचना में सर्वत्र व्याप्त है । अतः नन्ददास के काव्य का भाव-पक्ष उनके रसिक रूप का ही प्रकाशन है । उनकी प्रेम-तत्त्व की व्यंजना एक ओर उनकी मधुर उपासना की और दूसरी ओर प्रेम-लीलाओं के माध्यम से व्यक्त श्रीकृष्ण-रति की सूचक है । उनकी मधुर उपासना और श्रीकृष्ण-रति भाव तीव्रता की सहायिका है । यही कारण है कि नन्ददास के काव्य में भाव की सरसता सर्वत्र व्याप्त है । इस सरसता के कारण ही वे सच्चे अर्थों मे रसिक है। उनकी रचनाओं का भावात्मक-परिचय इस तथ्य को समझने में सहायक होगा ।

कृष्ण भक्त कवियो ने बाल्यकाल और यौवन-काल की लीलाओं मे जितनी सरसता पाई है, उतनी अन्य किसी काल की लीला मे नही। इसीलिए सूरदास, परमानन्ददास आदि नन्ददास के समकालीन सभी कृष्ण भक्तों ने इन दोनों—बाल्य और यौवन काल की लीलाओं के गान को अपने काव्य का लक्ष्य स्वीकार किया है। नन्ददास के काव्य में उक्त दोनों काल की लीलाओं को प्रधान स्थान प्राप्त हुआ है। पर अनेकार्थ-भाषा में वैराग्य-सम्बन्धी स्फुट विचार भी प्राप्त हो जाते है । इस प्रकार नन्ददास के काव्य में भाव-व्यंजना के तीन क्षेत्र है—वात्सल्य, मधुर-प्रेम और वैराग्य । आगे हम इन्ही तीन के आधार पर नन्ददास की भाव-व्यंजना का परिचय प्राप्त करेंगे ।

बाल्यावस्था या वत्सल रति

श्रीकृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं का वर्णन केवल पदावली में प्राप्त होता है किन्तु मातृहृदय की वात्सल्यपूर्ण उक्तियाँ रूपमंजरी, श्यामसगाई और भाषा दशमस्कन्ध में भी मिल जाती हैं । यद्यपि नन्ददास के काव्य में वात्सल्य भाव का उतना विशद विस्तार नही है, जितना कि सूरदास के काव्य मे उपलब्ध होता है, किन्तु थोड़े से पदों में नन्ददास की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का अच्छा परिचय प्राप्त हो जाता है । प्रातःकाल के समय यशोदा अपने लाल को जगाती है । मधुर वाणी, खाद्य-सामग्री का प्रलोभन—आदि समयोचित सभी उपाय माता प्रयोग में लाती है । और श्रीकृष्ण के उठने पर उसका हर्षित होना स्वाभाविक है ।

जगावति अपने सुत को रानी ।
उठो मेरे लाल, मनोहर सुदर कहि कहि मधुरी बानी ॥
माखन, मिश्री और मिठाई दूध मलाई आनी ।
छगन मगन तुम करहु कलेऊ मेरे सब सुख दानी ॥
जननि-वचन सुनि तुरत उठे हरि कहत बात तुतरानी ।
'नंददास' प्रभु मै बलिहारी जसुमति मन हरषानी ॥[1]

इस पद में माता की आह्लादपूर्ण अवस्था का परिचय कवि ने कराया है । उसका 'मधुरी बानी बोलना'—मानसिक आह्लाद का सूचक है । पुत्र सम्बन्धित प्रत्येक क्रिया उसके लिए हर्ष का कारण है, क्योंकि कृष्ण उसके लिए 'सब सुख दानी' हैं । और

---

१. न० ग्र०, पदावली ३१

जब उठकर वे 'तुतरानी' बानी में बोलते हैं तो माता को सब कुछ प्राप्त हो जाता है। खाद्य-पदार्थों का प्रलोभन बालकों को बहुत समय तक आकर्षित नहीं कर पाता। समयानुसार उसके लिए अन्य तरह अधिक आकर्षक बनते जाते हैं। बालक की इस अन्तःप्रकृति को कवि ने पहचाना है। इसलिए माता जागरण के अन्य पद में प्रातःकाल के सौन्दर्य का वर्णन करने के साथ-साथ सखा ग्वाल-बालों के उज्ज्वल वस्त्र धारण कर द्वार पर आने की बात कहती है।

चिरैया-चुहचांनी, सुन चकई की बानी, कहत-जसोदा-रानी जागो मेरे लाला।
रवि की किरन जानी, कुमुदनी, सकुचानी, कमल विकसे दधि मथत बाला॥
सुबल, श्रीदाम, तोक उज्जल-बसन पहिरें, द्वारें ठाढे टेरत हैं गुपाला।
'नंददास' बलिहारी उठो, बैठो गिरिधारी, सब मुख देखन चहैं लोचन बिसाला॥[1]

बाल स्वभाव का ऐसा ही चित्रण कवि ने खेलने के लिए जाते हुए श्रीकृष्ण के मलिन रूप को देखकर किया है। माता चाहती है कि अन्य बालकों के समान साफ-सुथरे बनकर जावें किन्तु उनमें खेलने की उतावली है, उसके कारण वे नहीं-नहीं करते जाते हैं।[2] गोचारण और गो-दोहन ऐसे अन्य प्रसंग हैं, जिनमें बालक की मानसिक अवस्था का परिचय मिलता है। वस्तुतः इस अवस्था में 'स्पर्धा' बालकों को बहुत कुछ करने के लिए प्रेरित करती है। श्रीकृष्ण के अन्य साथी जिस कार्य को करते हैं—वे स्वयं उसे क्यों न करें। और उसके लिए वे अनेक प्रकार से बालोचित 'हठ' का प्रदर्शन करते हैं।

मेरी दाई के ढोटा सब छोटे, तेऊ सीखे री करत बन-धैया;
'नंददास' प्रभु हँसत, लोटत अरु भरत नैनि-जल जसुमति लेत बलैया।[3]

यहाँ 'गिड़गिड़ाना', 'भूमि पर लेटना' और 'आँखों में अश्रु भर लाना'—ये क्रियाएँ माता को प्रभावित करने की सामान्य बालकोचित चेष्टाएँ हैं, जिनका उल्लेख कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का परिचायक है।

भाव-पक्ष की अपेक्षा विभाव-पक्ष का विस्तार कहीं अधिक है। श्रीकृष्ण के बाल-सौन्दर्य को देखकर गोपियों का बार-बार उसे देखते रह जाना कृष्ण के अतिशय-सौन्दर्य का व्यंजक है।[4] स्वयं माता-यशोदा कई बार उनके सौन्दर्य के बारे में आशंकित

---

१. न० ग्र०, पदावली ३२
२. संग के लरिका सब बनि-ठनि आए,
   यों कहिहैं कैसी है तब माई रे।
   जसुदा गहति धाइ बैयाँ, मोहन करत,
   न्हैयाँ न्हैयाँ 'नंददास' बलि जाइ रे॥ वही, पदावली ३६
३. वही, पदावली ३९
४. 'नंददास' के प्रभु नंद-नंदन,
   कुंवर निरखि नागरि देह, गेह भूलै। वही, पदावली ३४

हो उठती है—कहीं नजर न लग जाये।[1] इस प्रकार की 'आशङ्का' माता के लिए स्वाभाविक है और फिर यशोदा की तो एक यही निधि है। इस आशङ्का का अधिक विशद रूप श्रीकृष्ण की उन लीलाओं में मिलता है जहाँ वे असुरों का नाश करते हैं। पूतना, तृणावर्त, कालिय-दमन आदि के प्रसंगो में मातृ-हृदय का यह भाव बहुत उभरकर आया है। तृणावर्त श्रीकृष्ण को आकाश में उड़ाकर ले जाता है। उस समय पुत्र के अनिष्ट की आशङ्का से भरी यशोदा की स्थिति को कवि ने इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

परी धरनि घुकि यों विललाइ। ज्यों मृतवच्छ गाइ डिडियाइ।[2]

बहुत ही हृदयस्पर्शी स्थिति है। प्राय: ऐसा ही दृश्य कालिय-दमन,[3] 'श्याम-सगाई' मे राधा के मूच्छित होने पर[4] और 'रूपमंजरी' में रूपमंजरी के संज्ञाहीन होने पर प्रस्तुत हुआ है।[5] आपत्ति के टल जाने पर मातृ-हृदय की 'चिन्ता', 'मंगल-कामना' में परिणत हो जाती है। पुत्र को छाती से लगाकर वह अनिष्ट-निवारण के लिए अनेक सगन मनाती है।[6]

वात्सल्य भाव का वियोग-पक्ष नन्ददास के काव्य में नहीं है। हृदय की पीड़ा का जो रूप आपत्ति एवं अनिष्ट के क्षणों मे लक्षित होता है उसी के आधार पर विरह-वेदना का कुछ आभास पाया जा सकता है। नन्ददास ने वियोग-पक्ष केवल मधुर-भाव में ही प्रस्तुत किया है। भ्रमरगीत में गोपियों का विरह-वर्णन है। वहाँ नन्द-यशोदा की चर्चा ही नहीं है।

मधुर-प्रेम

मधुर-प्रेम की व्यंजना नन्ददास की प्राय: सभी काव्य-रचनाओं में हुई है। इनमें से कुछ में पूर्वानुराग, मिलन और वियोग—मधुर-प्रेम के इन सभी पक्षों का वर्णन है और कुछ में मिलन और वियोग का तथा अन्य मे केवल वियोग का वर्णन है। मधुर-प्रेम का पूर्ण-परिचय प्राप्त करने के लिए हम तीनों पक्षों में व्यंजित भावनाओं पर क्रमश: प्रकाश डालेगे।

पूर्वानुराग—पूर्वानुराग का परिचय हमे 'श्यामसगाई', 'रुक्मिणीमंगल' और

---

१. 'नंददास' नंद-रानी छवि निरखि वारि पीवत पानी, काहू जिन दीठि लागे ॥
वही, पदावली ३७

२. न० ग्र०, भाषा दशमस्कन्ध, पृष्ठ २११

३. जसुमति उमगि उमगि दह परै। छन छन संकर्षन भुज धरै ॥ वही, २४३

४. नाग डसी मैया सुनत, गिरी धरनि मुरझाइ। स्याम-सगाई, १४

५. वात सुनत जननी उठि धाई। वाछी पर जस आछी गाई। रूपमंजरी, पंक्ति ४२४

६. ब्रजरानी अनेक धन वारति। पुनि पुनि राई लोन उतारति ॥
न० ग्र०, भाषा-दशमस्कन्ध, पृष्ठ २०८

'पदावली' में प्राप्त होता है । 'श्यामसगाई' में श्रीकृष्ण के प्रथम-दर्शन से यह अनुराग आरम्भ हुआ है । श्रीकृष्ण के दर्शन से राधा को और राधा के दर्शन से श्रीकृष्ण को 'हर्ष' प्राप्त होता है । कवि ने उसकी व्यंजना—'मनहिं फूले फिरै'[1]—इस वाक्य द्वारा की है । यहाँ तक अनुराग उभय-पक्षीय है । किन्तु उसके बाद अनुरागजनित-व्यथा का अनुभव केवल राधा को होता है । श्रीकृष्ण के वहाँ से जाते ही राधा की स्थिति सखियों के लिए चिन्ताजनक हो जाती है । जिसके मन का मोहन ने हरण कर लिया है उस राधा में 'जड़ता', 'विषाद', 'उन्माद', 'आवेग' आदि भावों को सहज ही लक्षित किया जा सकता है ।

मन हरि लीनो स्याम, परी राधे मुरझाई;
भई सिथिल सब देह, बात कछु कही न जाई ।
दौरि सखी ! कुंजन चलीं, नैननि डारति नीर;
अरी बीर ! कछु जतनि करि, हिरदै धरति न धीर ॥
......................................।
बड़ी बेर बीती जबै, तब सुधि आई नैकु;
स्याम स्याम रटिबे लगी, एकुहि बेर जु व्हैकुं ।
—बदति ज्यों बावरी ॥[2]

राधा की अवस्था से व्यथित-चित्त माता कीर्तिकुमारी कुछ उपाय करने की बात कहती है । परिणामतः योजनानुसार सखियाँ श्रीकृष्ण के पास दौड़ती हैं—यहाँ कवि ने 'आवेग' की व्यंजना की है ।[3] यही अवस्था राधा की माता मे श्रीकृष्ण के मूर्च्छा-निवारण के लिए आने पर लक्षित होती है ।[4] श्रीकृष्ण के वचनों को सुनकर राधा जब आँखें खोलती है उस समय 'हर्ष' और 'अवहित्था' भाव की व्यंजना बहुत ही कुशलतापूर्वक कवि ने की है ।

सुनति वचन तत्काल, लड़ैति नैनि उघारे;
निरखति ही घनस्याम, वदन तें केस संवारे ।
सब अपने ढिग निरखि के पुनि निरखी ढिग माइ;
अँचरा डारचौ बदन पै मधुर-मधुर मुसिकाइ ।
सकुच मन में बढ़ी ॥[5]

'रुक्मिणीमंगल' मे अनुराग रूप-दर्शन से है या गुण-श्रवण से, यह बात स्पष्ट

१. श्याम-सगाई, छन्द ९
२. श्याम-सगाई, छन्द १०-११
३. एकु चली, द्वै चार चलीं; गोकुल में आई;
जसुमति बैठी जहाँ, बैठि तहँ बात चलाई । वही, १७
४. तब रानी उठि दौरि, पौरि तें मोहन ल्याई;
सिंघासन बैठाइ, हाथ गहि कुंवरि दिखाई । वही, २५
५. वही, २६

नही हो पाती । वस्तुतः दर्शन की ओर कही भी कोई संकेत रुक्मिणीमंगल में नहीं हुआ है । अतः गुण-श्रवणजनित अनुराग ही यहाँ माना जायेगा ।[1] श्रीकृष्ण के प्रति रुक्मिणी के मन मे जो अनुराग है उसकी व्यंजना कवि ने विविध भावो के माध्यम से की है । शिशुपाल से विवाह की वात सुनते ही वह 'जड़ता' की स्थिति में आ जाती है ।[2] उसका मुख-कमल मुरझा जाता है मानो उसका आधार ही छिन्न हो गया हो । उसके अश्रुपूरित नेत्र, निःश्वास, उदास मुख 'विषाद' और 'चिन्ता' को व्यक्त करते है ।[3] स्वरभङ्ग, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य आदि उसके मानसिक 'आवेग' और 'जड़ता' को सूचित करते है ।

दुरी रहति क्यों प्रिय-रति प्रकटहि देत दिखाई ।
पुलक अंग, सुर भंग, स्वेद कवहूँ जड़ताई ।।
उर थर थर अति कंपत जपत जव कुंवर कन्हाई ।
कवहूँ टकी लगि जाइ, कवहुँ आवत मुरझाई ।।
ह्वै गयो कछु विवरन-तन, छाजत यों छवि-छाई ।।[4]

इस प्रकार की अवस्था में भी वह धैर्य धारण करती है ।[5] उसे गोपियों के पूर्ण समर्पण का स्मरण हो आता है और वह सर्वस्व त्याग कर श्रीकृष्ण का अनुसरण करने के लिए प्रयत्नशील हो जाती है । हरण से पूर्व कृष्णदर्शन के समय रुक्मिणी की अवस्था में 'आवेग', 'हर्ष' और 'जडता' का अपूर्व सम्मिश्रण है ।[6] दूसरी ओर रुक्मिणी का पत्र पढ़कर श्रीकृष्ण आनन्दमग्न हो जाते हैं और उन्हें परमशान्ति प्राप्त होती है ।[7] उनके अश्रुओं का प्रवाह वह चलता है ।[8] पत्र से रुक्मिणी की 'विनयशीलता', 'दुःख', 'दास्य-भाव', 'प्रीति', 'अधीरता', 'दृढ़-निश्चय' आदि की अवस्था[9] का ज्ञान प्राप्त कर श्रीकृष्ण

---

१. जव तें तुम्हारे गुनगन मुनि जन नारद गाये ।
   तव तें औरु न भाये अमृत अधिक सुहाये ।। रुक्मिणीमंगल, ६०
२. सिसुपालहि कों देत, रुक्मिनी वात सुनी जव ।
   चित्र लिखी सी रही, दई यह कहा भई अव ।। वही, ३
३. भयो बदन कछु मलिन, नलिन जनु गलित नाल तें ।
   भरि आए जल नैन, प्रेम रस ऐन सुहाये ।। वही, ४-५
४. वही, १२-१४
५. इहि विधि धरि मन धीर चीर अंसुवन सिराय कैं । वही, २४
६. अरबराइ मुरझाय कछू ना वसाय तिया पें ।
   पंख नाहिं तन बने, नतरु उड़ि जाय पिया पें । वही, ११६
७. परम प्रेम रस सांचे अच्छर परत न वांचे ।
   श्री हरि हियो सिरावत लावत लै-लै छाती ।। रुक्मिणीमंगल, ५३-५४
८. रुक्मिनि अँसुवन भीनी पुनि हरि अँसुवन भीनी । वही ५५
९. नृप विदर्भ की कन्या रुक्मिनी, अनुचरि गनिये ।
   ताकों प्रथम प्रनाम वाँचि पुनि विनती सुनिये ।। ५८
   मग्न होत दुःख जलनिधि में, उधरो कर धरिकैं । ५६

को हर्ष होता है और वे 'आवेग'-युक्त हो कुण्डिनपुर की ओर प्रस्थान करते हैं।[1] रुक्मिणी उनकी प्रतीक्षा में 'चिन्ता', 'औत्सुक्य', 'अधीरता' आदि दशाओं से गुजरती है।[2] इस समय अचानक शकुन देखकर उसकी 'चिन्ता' दूर होने लगती है और 'हर्ष' का प्रभाव बढ़ता है।[3] किन्तु द्विज को सम्मुख देख वह आशंका से भर उठती है।[4] और जब श्रीकृष्ण के आगमन का निश्चय हो जाता है तो वह आनन्द-मग्न हो जाती है पर इस अवस्था में भी वह 'विनय' को नहीं भूलती।[5]

'पदावली' में रूपासक्ति के पदों की प्रधानता से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ अनुराग का कारण सौन्दर्य-दर्शन है। वस्तुतः रूप-दर्शन और गोपियों के मन में उसके प्रति आसक्ति का भाव बाल-क्रीड़ा के पदों में ही लक्षित होने लगता है। सूर ने प्रेम का जैसा स्वाभाविक विकास दिखाया है वैसा नन्ददास में नहीं है। वस्तुतः प्रेम कैसे हुआ—यह बताने की अपेक्षा कवि ने अनुराग हो जाने के परिणाम की ओर विशेष ध्यान दिया है। श्रीकृष्ण के रूप पर आसक्त गोपी की अभिलाषा की व्यंजना कवि ने बहुत सुन्दर ढंग से की है।

> नंद-सदन गुरुजन की भीर,
> तामें, मोहन को मुख नीके देख नहिं पाऊँ।
> बिनु देखें रह्यौ न जाइ जिय अकुलाइ,
> दुख पाइ जदपि बड़रे छिन उठि धाऊँ॥
> लै चलि री सखि, मोहिं जमुना तीर जहाँ,
> ह्वै हैं बलबीर देखि दृगन सिराऊँ।
> 'नंददास' प्यासे को पानी पिवाइ लै जिवाइ,
> जिय की जानति तू तोसों कहाँ लगि दुराऊँ॥[6]

इस पद में दर्शन के लिए चित्त में 'आतुरता', 'पीड़ा', आदि की बात कहकर

हौं भई तुम परिचारि, नाथ ? तुम भये हमारे॥ ६१
अब विलंब नहिं करौ, बरौ त्रिभुवन-पति सुंदर। ६२
जो नगधर, नंदलाल मोहि नहिं करि हौं दासी।
तो पावक पर जरिहौं, बरिहौं तन तिनका सी॥ ६९, रुक्मिणी मंगल

१. हरबर में खसि परयौ पीत-पट द्विज पकरायौ। वही ७२
२. ह्यां दुलहि तरफरे फिरत घन-आंगन ऐसे। ७६
चढ़ि चढ़ि अटनि, झरोखनि झांकत नवल किसोरी॥ ७७, वही
३. फरकन लागी भुजा बाम, कंचुकि बंध तरकन।
हिय तें सूल लग्यौ सरकन, उर अंतर धरकन॥ वही, ७८
४. पूंछि न सक मुख बात दई यह कहा कहैगो।
कै अमृत सों सींच, किधौं विष देह दहैगो॥ वही, ८०
५. तब उठि पायन परी भरी आनंद महा इक। वही, ८२
६. न० ग्र०, पदावली, ५५

कवि ने गोपी की मानसिक अवस्था को स्पष्ट करने का यत्न किया है। श्रीकृष्ण के रूप का वर्णन गोपियों द्वारा अनेक पदों में हुआ है।[1] कई बार गोपियाँ दर्शन की इस तीव्र अभिलाषा के कारण इतनी 'खीज' उठती है कि अपनी पलकों को ही 'वैरन' कह देती हैं। यहाँ 'अमर्ष' भाव लक्षित होता है।[2] इसी रूपासक्ति के परिणामस्वरूप वे कभी उड़ने की सोचती है और कभी उन्हे श्रीकृष्ण के रूप का स्मरण हो आने से और भी दुःख होता है।[3] पनघट पर गोपी जल भरने के लिए जाती है किन्तु वहाँ श्रीकृष्ण को देखकर उसकी अवस्था ही बदल जाती है। दर्शन की लालसा से वह श्रीकृष्ण के पास जाना चाहती है किन्तु 'गुरुजन-त्रास' उसे आगे बढ़ने से रोक देता है। 'स्तब्धता' की इस स्थिति में कुछ देर रहकर वह 'मूर्च्छा' की अवस्था मे चली जाती है और उसका अनुराग गाँव भर की चर्चा का विषय बन जाता है।[4] अनुराग की यह तीव्रता उस समय विशेष रूप से व्यक्त हो उठती है जब गोपी दर्शन-कार्य मे बाधक लज्जा पर अपना सारा गुस्सा उतारने लगती है।

जर जाओ री लाज, मेरो ऐसो कौन काज,
आवत कमल-नैन नीकें देखन दीने।[5]

'जर-जाओ' शब्द में स्वर का तीखापन बहुत स्पष्ट है जो नायिका की 'अधीरता' को व्यंजित करता है। गोपियों की अनुराग भरी अवस्था इस दशा को पहुँच गई है कि वे श्रीकृष्ण-दर्शन के अभाव में बीते एक क्षण को चार युग के समान मानती है।[6] यही तीव्रता पूर्वराग को वियोग की अवस्था सिद्ध कर देती है।

---

१. सुरँग दुरँग सोहत पाग लाल कं, कुरंग कैसे अति लोने;
कपोल बिलोकत झलकें कल काननु कुंडल कुसुमित कोने।
रँग रँगीले अंग सबै नव, रँग-रँगे ऐसे पाछे भए न आगे होने;
'नंददास' सखि मेरी कहाँ बच, काम के आए टटावक टोने॥ वही, पदावली, ४६

२. देखन दे मेरी बैरन पलकें।
नंदनंदन मुख तें आलि बीच परत मानों वज्र की सलकें॥ वही, पदावली ७६

३. सांवरो पीतम जहाँ बसै सो कित है वोहि गाँव री।
पंख नहीं तन बिधना दई नातरु अब उड़ जाँव री॥
अब उड़ि जाऊँ डराऊँ न काहू मोहन मुख देख आऊँ। वही, पदावली ७८

४. जलकों गई सुधि बिसराई, नेह भर लाई,
परी है चटपटी दरस की।
इत मोहन गाँस, उत गुरु-जन त्रास,
चित्र सो लिखी ठाढ़ी नाऊँ धरत सखि अरस की।
'नंददास' प्रभु सों ऐसी प्रीति गाढी बाढी,
फैल परी चरचा चायन सरस की। वही, पदावली ८०

५. वही, पदावली ८१

६. 'नंददास' लगे नैनि लाल सों, पलक-ओट भएँ बितत जुग-चारि॥ वही, पदावली ८२

मिलन—मधुर-प्रेम का मिलन-पक्ष नन्ददास की रासपंचाध्यायी सिद्धान्तपंचाध्यायी, रूपमंजरी और पदावली मे व्यक्त हुआ है। संयोग का जितना विस्तार नन्ददास ने किया है उतना सम्भवतः अन्य किसी पक्ष का नहीं। 'रासपंचाध्यायी' मे मुरलीध्वनि सुनकर गोपियों में मिलन की 'इच्छा' जागृत होती है। यह इच्छा इतनी तीव्र है कि भवन भीति द्रुम, कुंज आदि अनेक बाधाएँ भी उनका मार्ग नही रोक पातीं।[1] और वे सावन-सरित की तरह आगे बढ़ती हैं।[2] गृह का त्याग प्रेम की 'तीव्रता' का सूचक है।[3] गोपियों में प्रिय-मिलन की 'आतुरता' इतनी अधिक है कि ये अपना विवेक तक खो बैठती है और परिणामतः उनके आभूषण अगों के अनुरूप व्यवस्था नहीं प्राप्त कर सकते।[4]

मिलन की इच्छा केवल गोपियों मे नहीं है—श्रीकृष्ण भी इसके लिए व्यग्र हैं। नूपुर-नाद सुनकर उनका तन्मय हो जाना—इसका स्पष्ट प्रमाण है।[5] और जिस समय गोपियाँ श्रीकृष्ण के सामने आ जाती है—उस समय श्रीकृष्ण इतनी तल्लीनता से उन्हे देखते हैं जैसे उनका प्रत्येक अंग नेत्रों मे परिणत हो गया हो।[6] उभय-पक्ष में मिलन की इस तीव्रता के होते हुए भी श्रीकृष्ण प्रेम-परिपाक के उद्देश्य से गोपियों को घर लौट जाने के लिए कहते है—यद्यपि वे जानते है कि आधी रात्रि के समय घने वन में चली आने वाली[7] गोपियों का लौटना सम्भव नही है। श्रीकृष्ण के ये वचन सुनकर गोपियों में 'चिन्ता', 'स्तब्धता', 'शिथिलता' आदि अनेक दशाएँ प्रकट होती हैं जो उनके कृष्ण-प्रेम की तीव्रता को लक्षित कराने वाली है।[8] उनकी प्रेमजनित आकुलता और मानसिक वेदना इन पंक्तियों में स्पष्ट व्यक्त हो उठी है—

हिय भरि विरह हुतासन सासन संग आवत झर।
चले कछुक मुरझाइ मधु भरे अधर बिंब वर॥[9]

---

१. भवन भीति द्रुम कुंज पुंज कितहूं अटकीं नहिं। रा० प०, १-४६
२. सावन-सरित न रुकैं करै जो जतन कोऊ अति। वही, १-५६
३. तेऊ पुनि तिहि मग चलीं रंगीली तजि गृह संगम॥ वही, १-५५
४. जदपि कहूँ के कहुँ आभरन (आनि) बनाए।
   हरि पिय पै अनुसरन जहाँ क तहाँ चलि आए॥ सि० प०, ३३
५. तिनके नूपुर नाद सुने जब परम सुहाए।
   तब हरि के मन नैन सिमिटि सब स्रवननि आए॥ रा० प०, १-६६
६. झुनक मुनक पुनि छबिलि भाँति सब प्रकट भई जब।
   पिय के अंग अंग सिमिटि मिले छबिले नैननि तब॥ रा० प०, १-६७
७. अर्द्ध गई सर्वरी कछुक डर डरीं न सगरी। वही, १-७२
८. जब पिय कह्यो घर जाहु अधिक चित चिंता बाढ़ी।
   पुतरिन की सी पाँति, रह गई इक टक ठाढ़ी। वही, १-७५
९. वही, १-७७

उनके गद्गद् कंठ से निकले वचनों में प्रेम की तीव्रता के साथ-साथ दैन्य[1] की भी सूचना मिलती है। वन-विहार गोपियों की इस प्रेम-तीव्रता का परिणाम है जिसमें कहीं-कहीं वर्णनगत स्थूलता लक्षित होती है।[2] विहार के परिणामस्वरूप गोपियों में 'गर्व' का सञ्चार होता है।[3] इसी के निवारण के लिए श्रीकृष्ण अन्तर्ध्यान होते है। पर गोपियों की अनुराग-तीव्रता उन्हें प्रकट होने के लिए विवश कर देती है।[4] उनके प्रकट होने पर गोपियों में 'हर्ष', 'उमंग' और 'मद' भाव व्यक्त हो उठते हैं।

यह विधि प्रेम-सुधानिधि में अति बढ़ी कलोलैं।
ह्वै गई विह्वल बाल लाल सों अलबल बोलैं॥[5]

'हर्ष', 'उत्साह' और 'आतुरता' का मिश्रण गोपियों द्वारा श्रीकृष्ण के आलिंगन, चुम्बन, कठोर शब्द-कथन आदि मे लक्षित होता है।[6] श्रीकृष्ण को अपने पास बिठाना मिलन की इच्छा को व्यक्त करता है।[7] अपने प्रियतम से उनका वार्त्तालाप मिलन को शाश्वत बनाने का यत्न है जिसमें वे 'उत्साह' और 'उल्लास' के साथ प्रवृत्त होती है।[8] गोपियों की जीत प्रेम की जीत है।[9] श्रीकृष्ण गोपियों के आभार को स्वीकार करते हुए 'दैन्य' का आश्रय लेते हैं।[10] श्रीकृष्ण के वचनों से गोपियों के क्रोध का शमन और प्रेम का विस्तार होता है। परिणामतः 'उल्लास' और 'मस्ती' की अवस्था में वे प्रियतम को

---

१. अहो अहो मोहन प्राननाथ सोहन सुखदायक।
क्रूर वचन जनि कहौ नहिं ये तुम्हारे लायक॥ वही, १-७९
२. ताहि साँवारो कुँवर रीझी हँसि लेत भुजनि भरि।
चुंबन करि सुख-सुदन बदन तें दै तमोल ढरि॥ रा० प० ५-१७
३. अस अद्भुत पिय मोहन सों मिलि गोप-दुलारी।
नहिं अचरजु जौ गरब करहिं गिरिधर की प्यारी॥ वही, १-१०१
४. क्वांसि क्वासि पिय महाबाहु यों वदति अकेली।
महाविरह की धुनि सुनि रोवत खग द्रुम बेली॥ वही, २-३५
५. वही, ४-१
६. कोउ चटपटि सों उर लपटीं कोउ कर वर लपटीं।
कोउ गल लपटी कहति भलैं भलैं कान्हर कपटी। वही, ४-६
७. बैठे पुनि तिहिं पुलिन परम आनंद भयो है।
छबिली अपने छादन छबि सों बिछा दयो है॥ वही, ४-८
८. बूझन लागीं नवल बाल नंदलाल पियहिं तब।
प्रीति रीति की बात मनहिं मुसकाति जाति सब॥ वही, ४-१३
९. जदपि जगत-गुरु नागर जसुमति नंद दुलारे।
पै गोपिन के प्रेम अग्र अपने मुख हारे॥ वही, ४-१५
१०. कोटि कलप लगि तुम प्रति प्रति उपकार करौं जौ।
हे मनहरनी तरुनी उऋन न होऊँ तबौ तौ॥ रा० प०, ४-१७

अपनी भुजाओं में भर लेती है।[1] अपने अभीष्ट की सिद्धि पर गोपियों में गर्व के स्थान पर 'हर्ष' का सञ्चार होता है और वे एक भी क्षण बिना गँवाये वे रास-विलास में तल्लीन हो जाती है।[2] विलास में रजनी का बढ़ जाना[3] तृप्ति की अवस्था को सूचित करता है। इस अवस्था में 'श्रम' और 'मद'—संचारी स्पष्ट होते हैं।[4]

सिद्धान्तपंचाध्यायी में विषय प्रायः वही है जो रासपंचाध्यायी में स्वीकार किया गया है। इसीलिए भाव-व्यंजना थोड़े-बहुत अन्तर को छोड़कर प्रायः समान है। पर कहीं-कहीं उक्ति-विलक्षणता लक्षित होती है। गोपियों का अनुराग सावन की सरिता के समान आवेगपूर्ण है जिसमें मिलन की लालसा बहुत पुष्ट है।[5] यह प्रेमपूर्ण समर्पण पर आधारित होने के कारण 'आनन्द' का संचार करने वाला है। प्रियतमसूचक शब्द ही उनके 'हर्ष' और 'उत्साह'—दोनों में गति ले आता है।[6] इसीलिए रसावस्था को प्राप्त गोपियाँ सब बाधाओं को पार करके श्रीकृष्ण से जा मिलती है।[7] उन गोपियों में भी प्रेम की तीव्रता और मिलन की 'आतुरता' देखी जा सकती है, जिन्हें घर में अवरुद्ध हो जाना पड़ा। गुणमय शरीर का त्याग—इसी तीव्रता का सूचक है।[8] श्रीकृष्ण से मिलन गोपियों के लिए 'आनन्द' देने वाला है।[9] इसी कारण श्रीकृष्ण द्वारा स्वयं बुलाकर वापस लौट जाने के उद्देश्य से कहे हुए वचन सुनकर गोपियों का 'चकित'—विस्मित रह जाना स्वाभाविक है।[10] वे तुरत 'विनय', 'अनुरोध', 'मनुहार'—का आश्रय लेती है।[11] प्रेम के

---

१. सुनि पिय के रस वचन सवनि गँसि छाँड़ि दयौ है।
बिहँसि आपने उर सों लाल लगाय लयौ है॥ वही, ५-१

२. सो पिय भए अनुकूल तूल कोउ भयो न है अब।
निरवधि सुख को मूल सूल उनमूल करी सब॥ वही, ५-३

३. थकित शरद की रजनी न जनी केतिक बाढ़ी। वही, ५-२४

४. घूमत रस भरे नैन गंडस्थल श्रमकन झलकत। वही, ५-२६

५. सुनि उमगीं अनुराग-भरी सावन-सरिता-जस।
सुंदर नगधर नागर-सागर मिलन बढ़ो रस॥ सि० प०, २६

६. प्रीतम सूचक शब्द सुनत जब अति रति बाढ़ै।
होत सहज सब त्याग नाग जिमि कँचुकि बाढ़ै॥ वही, ३२

७. मातु, पिता, पति-कुल-पति, सुत, पति रोक रहे सब।
नहिन रुकीं रस धुकीं जाय सो मिलीं तहाँ सब॥ वही, ३५

८. जे अरवर में अति अधीर रुकि गईं भवन जब।
गुनमय तनु तजि चित्स्वरूप धरि पियहिं मिलीं तब॥ वही, ३७

९. आनि हरि निकट ठाढी सोहति प्रेम नवेली।
मानहुँ सुंदर सुरतरु चहुँ दिसि आनँद बेली॥ वही, ४७

१०. सुनि पिय के अस बचन चकित भईं ब्रज की बाला। वही, ५२

११. तैसेहि हम सब छाँड़ि तिहारे चरननि आईं।
नहिन तजो, पिय भजो, तजो ए सब निठुराई॥ वही, ६१

इस तीव्र रूप को देखकर श्रीकृष्ण का मन 'हर्ष' से भर जाता है ।[1] तदनन्तर वे गोपियों के साथ विलास में मग्न हो जाते हैं । जिसके वर्णन मात्र से शुकदेव मे 'आनन्द' का सचार होता है ।[2] गोपियों के मन मे इस अवसर पर काम के गर्व आदि अंगो में से जो कुछ अवशिष्ट रहा था उसको नि.शेप करने के लिए श्रीकृष्ण दृष्टि से ओझल हो जाते हैं और उनका वियोग गोपियों को 'आत्म-विस्मृति' की अवस्था में ले आता है ।[3] 'उन्माद' की इसी अवस्था में वे जड़-चेतन—सभी से अपने सर्वस्व श्रीकृष्ण का पता पूछती हैं । श्रीकृष्ण लीला का अभिनय इसी 'उन्माद' अवस्था का सूचक है ।[4] दूसरी ओर श्रीकृष्ण की अत्यधिक प्रिय गोपी मे सयोगजनित 'गर्व' का आभास मिलता है[5] किन्तु शीघ्र ही वह अपनी भूल समझकर 'विलाप' करती है ।[6] यहाँ गोपियों का परस्पर मिलन 'हर्ष' का तो नही परन्तु उनके 'आवेश' का सूचक है ।[7] उनका आत्म-विश्वास अब फिर जी उठता है । इस समय उनकी 'उन्माद' की अवस्था में 'हर्ष' के चिह्न प्रकट होने लगते है ।[8] श्रीकृष्ण-गोपी मिलन 'आनन्द' का प्रसार करता है और वे पूर्ण काम की भाँति तन्मयता की चरम दशा तुरीयावस्था को प्राप्त हो जाती है ।[9] उनकी जल-क्रीड़ा 'हर्षोल्लास' के साथ आगे बढ़ती है ।[10] और श्रीकृष्ण से विविध प्रकार के रमण द्वारा वे 'तृप्ति' प्राप्त करती हैं । यह उनकी मद-मस्ती की दशा है जहाँ उन्हे आत्म-सुधि भी नही रहती।[11] रात्रि के व्यतीत होने का भी उन्हें ज्ञान नही रहता—यही उनके प्रेम की पूर्णता है ।

रूपमंजरी में कवि ने स्वप्न-मिलन का आयोजन किया है, क्योंकि उसके अनुसार

---

१. सुनि गोपिन के प्रेम-वचन हँसि परे भरे रस । वही, ६२

२. वार वार तन पुलकित शुक मुनि तिहि तहँ गावै । वही, ६३

३. सुधि न रही कछु तन मै वन मै बूझति डोलैं ।
निगम-सार सिद्धान्त वचन तें अल बल वोलैं ॥ वही, ६६

४. इहि विधि बन घन बूझि प्रेम बस लगति सुहाई ।
करन लगी मनहरन लाल लीला मन भाई ॥ वही, ७६

५. सोऊ पुनि अभिमान भरी तन कहन लगी तिय ।
मो पै चल्यो न जाइ जहाँ तुम चल्यौ चहत पिय ॥ वही, ८६

६. सा वाला अति विलपि अखंडित प्रेम दिखायौ । वही, ९०

७. धाय भुजन भरि लैं पुनि तिहि जमुना तट आई । वही, ९५

८. विह्वल ह्वै गई बाल बाल सों अलबल वोलै । वही, ९६

९. तुरिय अवस्था पाइ जाइ सव भूलि भई तव । वही, १०१

१०. मिलि जमुना तट विहरत सुंदर नंद के लाला ।
तैसिय व्रज की वाला भरी अति प्रेम रसाला ॥ वही, १०२

११. लटकि लटकि व्रजबाला लाला उर जब फूलीं ।
उलटि अनंग अनंग दह्यौ तब सब सुधि भूलीं ॥ वही, १३०

कलिकाल में श्रीकृष्ण से मिलन स्वप्न में ही सम्भव हो सकता है।[1] किन्तु स्वप्न के इस मिलन को उन्होंने प्रत्यक्ष-मिलन की भाँति प्रस्तुत किया है। उनका यह मिलन स्वकीया का नहीं परकीया के मिलन की भाँति गुप्त-मिलन है जिसकी आयोजना रूपमंजरी की सखी इन्दुमति द्वारा की जाती है।[2] रूपवती रूपमंजरी के लिए जिस वर की तलाश लोभी ब्राह्मण ने की है, उससे सभी के मन में 'चिन्ता' और मानसिक पीड़ा का अनुभव होता है।[3] इसी चिन्ता की अवस्था में इन्दुमति परकीया भाव के प्रेम की कल्पना कर श्रीकृष्ण से रूपमंजरी के मिलाप के लिए प्रयत्नशील हो जाती है। रूपमंजरी की इस अवस्था से उसे पूर्ण सहानुभूति है और वह विधाता को 'कोसती' है।[4] इन्दुमति की सतत प्रार्थना के बाद[5] रूपमंजरी को स्वप्न में कृष्ण का संयोग प्राप्त होता है। यह संयोग उसके आनन्द का वर्धक है—और वह तन-मन से प्रियतम के साथ एक हो जाती है।[6] सखी से सीत्कार लेकर 'घुल जाना' नायिका के 'हर्ष' का सूचक है। उसकी इस अवस्था से इन्दुमति के मन में 'शंका' होना स्वाभाविक है।[7] किन्तु उसकी आशंका उस समय दूर हो जाती है, जब रूपमंजरी हँसते हुए उसकी गोद में लेट जाती है। यह चेष्टा उसके प्राप्त 'आनन्द' और उसको बताने में 'लज्जा' एवं 'संकोच' को व्यक्त करती है।[8] उसे जो सुख प्राप्त होता है उसके कारण तनिक 'मान' उसमें स्पष्ट होने लगता है। किन्तु बात को अधिक छिपाने से सखी के मन में 'ताप' होता है।[9] स्वप्न की बात में उसके मन का अनुराग—अनुकूल पुरुष को पाकर 'विस्मय', 'हर्ष', 'आत्मीयता', रूप का आकर्षण, 'लज्जा', मिलन की तीव्र इच्छा, 'आतुरता' एवं 'अधैर्य' और आत्म-सुधि की विस्मृति आदि अनेक मानसिक दशाएँ एक साथ व्यक्त हो जाती हैं।[10] वह ज्यों-ज्यों उसका 'स्मरण' करती है, त्यों-त्यों मिलन की इच्छा और अनुराग बढ़ता जाता

---

१. तिहूँ काल मै प्रगट प्रभु प्रगट न इहि कलि काल।
   तातें सपनो ओट दै भेंटे गिरिधर लाल॥ रूपमंजरी, दोहा ५२८
२. इक सुनियत सब लायक नायक। गिरिधर कुँवर सदा सुखदायक।
   हौं तिय तिनहिं कवन विधि पाऊँ। क्यों या कुँवरिहि आनि मिलाऊँ॥
   वही, पंक्ति १६०-६१
३. सब जन जुरि चिंतन करत, परत न कछू विचार।
   करम करी किधौं द्विज करी, किधौं करी करतार॥ वही, दोहा ६०
४. मोसति मन कोसति करतारैं। वही, पंक्ति १५१
५. निसिदिन तिय विनती करति, और न कछू सुहाय। वही, दोहा १७५
६. तन मन मिलि तासौं अनुरागी। वही, पंक्ति १७८
७. लै सितकार सखिहि घुरि गई। सहचरि निरखि ससंकित भई। वही, पंक्ति १७६
८. जब अति सखिन बूझनी लई। तब हँसि कुँवरि गोद लुठि गई। वही, पंक्ति १८८
९. निरखि सहचरि को अति तपनौ। कहन लगी तब अपनौ सपनौ।
   वही, पंक्ति १६२
१०. न० ग्र०, रूपमंजरी, पृष्ठ १११-११३

है।[1] किन्तु सखी के यह कहने पर कि मैं तुम्हें प्रियतम से मिला दूंगी, वह मिलन को स्वप्न की बात कहकर मन की 'निराशा' व्यक्त करती है। और यह उसके मिलन की तीव्र इच्छा का ही व्यंजक है।[2] किन्तु सखी अनेक प्रकार के आश्वासनों से उसे 'धैर्य' बँधाती है।[3] और इसी आश्वासन का अवलम्ब पाकर उसका प्रेम और भी बढने लगता है।[4] वह पिछली बातों का स्मरण करके 'प्रसन्न' होती है।[5] अपनी प्रसन्नता की यह बात वह किसी से कहने में 'डरती' है। भय का कारण अपने सुख को 'खो न बैठूं'—यह 'आशंका' है।[6] किन्तु सहचरि के मन में उसकी मानसिक स्थिति जानने का 'चाव' है। रूपमंजरी को अपनी बात कहते समय 'लाज' और 'हर्ष'—दोनों का अनुभव होता है।[7] और इस प्रकार उस 'रस बावरी' की वास्तविक स्थिति स्पष्ट हो जाती है।[8] श्रीकृष्ण से रूपमंजरी का लगाव है, यह जानकर सखी को 'हर्ष', 'विस्मय' और 'दैन्य' का अनुभव होता है और उसे भक्ति-भावना की श्रेष्ठता पर पूर्ण विश्वास हो जाता है।[9] यहाँ उसकी 'विस्मृति' और 'आनन्द' के अनुभव की बात कही गई है।[10] सखी के श्रीकृष्ण की चर्चा करने पर रूपमजरी को 'सुख' मिलता है[11] और प्रेम की आग धीरे-धीरे उसके सम्पूर्ण तन-मन में व्याप्त हो जाती है।[12] परिणामतः जहाँ कहीं श्रीकृष्ण-चर्चा हो रही होती है, उसके कान उधर लग जाते हैं और वह विस्तार से गिरिधर प्रियतम के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करती है।[13] पर इस प्रकार प्रियतम के गुण-श्रवण से उसकी मन की

---

१. गड्यो जु मन पिय प्रेम रस, क्यों हूँ निकस्यो जाय।
कुंजर ज्यों चहले पर्‍यो, छिन छिन अधिक समाय॥ वही, दोहा २१४

२. कुंवरि कहै कछु सांच है आली। किधौं सपन की सपनहि मिली।
वही, पंक्ति ३२६

३. जौ अनुकूल होय करतारा। सपने साँच करत नहिं वारा। वही, पंक्ति २२१

४. प्रेम बढावै छिनहि छिन, पूछि पूछि उनहारि। वही, दोहा २२८

५. रूप को रस जानै ये नैना। तिनहि नहिन विधि दीने बैना। वही, पंक्ति २३०

६. कह्यो चहति पुनि नहिं कहति, रहति डरपि इहि भाय।
मोहन मूरति हीय तें, कहति निकसि जिनि जाय॥ वही, दोहा २३३

७. कहन लगी तब पिय-उनहारी। राजत लाज सौं राजकुमारी। वही, पंक्ति २३७

८. ताकै रूप अनूप रस बौरी हौं मेरी आलि। वही, दोहा २४५

९. सुनतहि मुरछि परी सहचरी। आनंद भरी अचंभै भरीं।
कहँ हौं कुटिल कुचील कुहिय की। कहँ इह दया सांवरे पिय की॥
वही, पंक्ति २४६-२४८

१०. सहचरि भूली सी रही, फूली अंगन आय। रूपमजरी, दोहा २५५

११. मुसकि कुंवरि सहचरि सौं कहै। तौ वह देव कहाँ है रहै। वही, पंक्ति २६२

१२. तिय-हिय-दर्पन तन रुई रही हुती पुट पागि।
प्रीतम-तरनि-किरनि परसि लागि परी तिहि आगि॥ वही, दोहा २६६

१३. सुदरं गीत सुहावन माई। काके हैं, को कुंवर कन्हाई? वही, पंक्ति ४०२

'आग' और भी तीव्र हो उठती है और वह मूर्च्छा की अवस्था में पहुँच जाती है।[1] यह अवस्था तभी दूर होती है जब सखी श्रीकृष्ण का नाम उसके कान में सुनाती है।[2] रूपमंजरी 'हर्ष' में भर उठती है और माँ को सम्मुख देख 'अवहित्था' का अनुभव करती है। जब माता भी सुंदर गिरिधर लाल को उसका योग्य वर बताती है तो वह 'हर्ष' और 'लाज' के कारण 'हिय में घुरि' जाती है[3]—पर यह दशा क्षणिक है और वियोग भावना फिर प्रबल हो उठती है। इन्दुमति उसके दुःख-निवारण के लिए 'प्रार्थना' का आश्रय लेती है[4] और इस प्रकार एक बार फिर स्वप्न में रूपमंजरी और श्रीकृष्ण का मिलन सम्भव हो जाता है। ऐसे अवसर पर 'हर्ष' और 'लज्जा' का सुन्दर समन्वय रूपमंजरी के व्यवहार में लक्षित होता है। मन रमण करना चाहता है और शरीर दूर हटना चाहता है—मुग्धा नायिका का यह सजीव चित्र है।[5] प्रथम समागम के अवसर पर दीपक को बुझाने में नायिका की लज्जा और रमणेच्छा—दोनों कार्य कर रही हैं। जब वह इस कार्य में सफल नहीं होती तो हँसकर प्रियतम से लिपट जाती है।[6] रस में 'मत्त' नायिका किसी प्रकार का व्यवधान अपने और प्रियतम के शरीर में सहन नहीं कर पाती।[7] सम्भोग की प्रबल इच्छा और तृप्ति का अभाव—दोनों इस प्रकार स्पष्ट हो जाते है। इस अवसर पर प्रातःकाल में प्रियतम से अलग होने की विवशता का अत्यधिक मार्मिक और प्रभावपूर्ण चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है।

> जात न उठि लपटात सुठि, कठिन प्रेम की बात।
> सूर उदोत करोत सम, चीरि किये बिबि गात ॥[8]

दोहे की अंतिम पंक्ति में तो नायिका की व्यथा फूट पड़ी है। फिर भी सम्भोग के रस से वह 'तृप्त' है। यही तृप्ति उसके 'आनन्द' का कारण है।[9] मुख पर खिली मुस्कान उसके 'हर्ष' को और अस्तव्यस्त शृङ्गार उसकी सुरत-चोरी को प्रकट कर रहे

---

१. सो सखि मुख अरु सपन सुख सोई सुनि जग जागि।
   कितहिं बुझावै का करै तिहि घर तेती आगि॥ वही, दोहा ४१४
२. कान लागि सहचरि कहै, जागि छबीली बाल।
   वै आये बलि देखि उठि, मोहन गिरिधर लाल॥ वही, दोहा ४३६
३. बिहँसि कुँवरि जनु हिय घुरि जाई। जनु याही मे कुँवर कन्हाई। वही, ४४८
४. रूपमंजरी, पक्ति ४८५-९०
५. मन चह रम्यो चहै तन भग्यो। कामिनि के इक कौतुक लग्यो। वही, पंक्ति ५०६
६. प्रथम समागम लज्यति तिया। अंचल पवन सिरावति दिया।
   दीप न बुझहि बिहँसि वर बाला। लपटि गई पिय उरसि रसाला॥
   वही, पंक्ति ५०९-१०
७. चित बिबधान सहित नहिं सोई। रूपमंजरी अस रस भोई। वही, पंक्ति ५१३
८. रूपमंजरी, दोहा ५२०
९. सेज ते उठति सुरत रस माती। सखि तन मधुर मधुर मुसकाती।
   रूपमंजरी, पंक्ति ५२२

हैं।[1] श्रम' और सुरतजनित 'मस्ती' किसी से छिपी नही है।[2] यही उसकी आनन्दावस्था है।

पदावली में मिलन-पक्ष विवाह के पदों से आरम्भ होता है। दूल्हा कृष्ण का रूप देखकर गोपियों के मन में 'हर्ष' होता है।[3] उनके रूप का आकर्षण इतना है कि सखियों के नेत्र दर्शन के लिए 'आतुर' हो उठते है।[4] राधा-माधव की जोड़ी को देखकर यशोदा 'हर्ष' में झूम जाती है और आशीष द्वारा अपनी प्रसन्नता व्यक्त करती है।[5] प्रथम समागम के बाद 'तृप्ति', 'मद' आदि दशाएँ उनके वस्त्रो की अस्तव्यस्तता और वचनों की शिथिलता से व्यक्त होती है। 'उन्माद' तो उनके अंग-अंग में अनुराग का संचार कर रहा है।[6] प्रेम में 'दैन्य' एवं प्रिया-अनुकूलता के कारण कृष्ण राधा के चरणों में महावर लगाते है। प्रेम का आधिक्य उनकी 'स्तब्धता' का कारण बनता है और श्रीकृष्ण के हाथ रुकते ही राधा में 'हर्ष' जनित 'खीझ' उत्पन्न होती है।[7] राधा का दर्शन और स्पर्श रस-लोभी श्रीकृष्ण की 'अतृप्ति' को और अधिक बढ़ाता है।[8] कभी-कभी तो श्रीकृष्ण सखियों की सहायता से राधा-मिलन का अवसर ढूंढते है। और सखियाँ परिस्थिति का लाभ उठाकर परिहास' का आश्रय लेती है और श्रीकृष्ण को सखी-भेष धारण करने के लिए प्रेरित करती है।[9] राधा के रूप का मनोहारी वर्णन

---

१. सगबगि अलकें श्रमकन झलकें। सोहति पीक पगी द्रग-पलकें ।। वही, पंक्ति ५२३
२. तब तें रूपमंजरी बाला। छिन छिन औरे रूप रसाला ।। वही, पंक्ति ५२६
३. अरी चलि दूलह देखनि जाँय।
सुन्दर-स्याम माधुरी मूरति, अँखियाँ निरखि सिरायँ ।। न० ग्र०, पदावली ५६
४. 'नंददास' गोपिन के दृग-अलि लपटनि को अकुलायेँ। न० ग्र०, पदावली ५६
५. ब्याह भयों मोहन कौं जबहीं जसुमति देत बधाई।
चिरजीवो भूतल यह जोरी 'नंददास' बलि जाई ।। वही, पदावली, ६०
६. लाल बने रँग-भीने, गिरिधर लाल बने रँग-भीने।
पिय के पाग केसरि सोहै देखत रति-पति कों मन मोहै ।।
तापै एकु चन्द्रिका धारी, प्यारी जू निज हाथ सँवारी।
पिय के अरुन नैन मन भाए, प्यारी बहु विधि लाड़ लड़ाए।
पिय के पीक कपोल बिराजै, अधरन-अँजन-रेखा छाजै।
पिय के उरसी मरगजि-माला, बोलत सिथिल बचन नंददाला।।
छबि पै 'नंददास' बलिहारी, अंग-अंग राँचे कुंज विहारी ।। वही, पदावली ६१
७. अरी प्यारी कै लाल लागे देन महाउर पाय।
... ... ।।
'नंददास' खिजि कहत लाडली रहौ, रहो तब पगन दुराय ।। वही, पदावली ६२
८ 'नंददास' प्रभु प्यारी छवि निरखै, बाढ़ी अधिक पियास ।। वही, पदावली, ६३
९. चलियै कुँवर-कान्ह ! सखी-भेष कीजै,
देखन चाहौ लाड़ली तौं अबहि देखि लीजै ।। वही, पदावली ६४

सम्भवतः श्रीकृष्ण को सखी-भेष धारण कराने की योजना का अंग है। संयोग में रसाधिक्य से कारण 'मद', 'उत्साह' और 'उल्लास' सभी बारी-बारी से आते-जाते हैं।[1] 'तृप्ति' के कारण राधा के मुख पर मुस्कान श्रीकृष्ण के मन को मुग्ध बना देती है और वे अपने को राधा के 'अधीन' कर देते हैं।[2] सखियां भी राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं में कई बार भाग लेती हैं। इन लीलाओं में प्रियतम-प्यारी में जब 'स्पर्धा' बढ़ती है तो वे राधा का पक्ष लेकर रस को और पुष्ट करती हैं—इससे दोनों को 'हर्ष' प्राप्त होता है।[3] राधा-कृष्ण के रति-विलास का भी बहुत स्पष्ट वर्णन कवि ने किया है। इसमें 'उत्साह', 'उल्लास,' 'अनुराग की प्रगाढ़ता', 'आलस्य'—आदि अनेक मनोदशाएँ व्यक्त होती हैं।[4] प्रेम के क्षेत्र में कवि ने राधा की श्रेष्ठता स्वीकार की है।

तेरी भौंह की मरोर तैं ललित त्रिभंगी भए,
अंजन दै चितए तबै भये स्याम, बाम री।
तेरी मुसकानि हिये दामिनी सी कौंधि जात,
दीन ह्वै ह्वै जात राधे आधो लीने नाम री॥
ज्यों ही ज्यों नचावै बाल त्यों ही त्यों ही नाचैं लाल
अब तो मया करि चलि निकुंज सुखधाम री।
'नंददास' प्रभु तुम बोलो तो बुलाइ लेहुँ,
उनको तो कलप बीतै तेरे घरी जाम री॥[5]

प्रस्तुत पद में राधा का 'गर्व', कृष्ण का 'दैन्य' और वियोगजनित 'सन्ताप'—स्पष्ट लक्षित होता है।

ब्रजबालाओं के प्रेम में भी रूपासक्ति के अतिरिक्त 'हर्ष' के अवसर आये हैं। श्रीकृष्ण-मिलन में रात्रि व्यतीत न हो जाए, इसी आशय से वे चन्द्र को स्थिर हो जाने के लिए कहती हैं और प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ को अपने 'हर्ष' मे सहयोगी बनने के लिए आमन्त्रित करती है।[6] किन्तु श्याम एक हैं और ब्रजबालाएँ अनेक, इसलिए 'खंडिता'

१. आलस जानि आप संग पौढ़ें, पिय हिय लाइ लए;
'नंददास' ज्यों स्याम-तमालहि, कनक-लता उलहए॥ वही, पदावली ६७
२. अरी, तेरी सेज की मुसक्यान, मोहन मोहि लीनों;
जाको जस रटत सकल जग सजनी सो तेरौं आधीनौं॥ वही, पदावली ६८
३. 'नंददास' प्रभु बिलगि जिन मानौ कछु इक सरस लली को। वही, पदावली ६९
४. केलि करि प्यारी-पिय, पौढ़े चारु- चाँदनी में,
नेह सौं लिपट गए जोवन के जोस में।
आरस सों मोर बाँह दोऊ कुच गहे पिय,
रति के खिलौना मनों ढाँपि दिए ओस में॥ वही, पदावली ७०
५. वही, पद ७२
६. आजु मेरे आए माई नागर नन्दकिसोर।
चंदा रे तू थिर ह्वै रहियो, हौंन न पावै भोर॥
दादुर मोर, पपैया बोलौ, बोलौ और चकोर। वही, पदावली, ८७

के पदों में प्रेम की कसक व्यंजित हुई है । 'खंडिता-पदों' मे जहाँ श्रीकृष्ण की 'मद', 'उन्माद' आदि अवस्थाओं को व्यक्त किया गया है वहाँ गोपियों की 'खीज' व्यंग्यादि वचनों में लक्षित की जा सकती है ।[१] दूसरी ओर जिन गोपियों के घर श्रीकृष्ण जाते हैं उन्हे 'हर्ष' होता है । परिणामतः उनकी प्रत्येक क्रिया 'उल्लास' और 'उत्साह' की सूचिका है ।[२] खीज के वचनों में गोपियों का 'अमर्ष' व्यक्त हुआ है ।[३] असूयावश कृष्ण के घर पर स्त्री-सम्भोग की चर्चा करके वे अपने मन की 'टीस' भी बता जाती है ।[४] रात्रि संयोग में काटकर आने वाले कृष्ण 'आलस्य' से भरे है । 'उन्माद' की अवस्था में प्रयत्न करने पर भी वह दूसरी प्रिया का नाम उच्चरित कर बैठते है ।[५] उनका प्रत्येक अंग उनके सम्भोग की कहानी कहता है । नेत्रो मे मस्ती है, ओष्ठ रंग-बिरंगे है, मन में गर्व है और अन्य अंगो मे शिथिलता व्याप्त है ।[६] किन्तु प्रेम-तीव्रता के कारण गोपियाँ श्रीकृष्ण से अपना मन दूर नहीं हटा पाती । इसलिए श्रीकृष्ण के प्रत्येक व्यवहार को सहन करके वे 'मनुहार' करती है—भौह चढ़ाकर भी अनुराग सूचित करती हैं । प्रेम की इस तीव्रता में 'धैर्य' तथा 'लोक-लाज' स्थिर नही रह पाती ।[७] कभी-कभी अभिसार का प्रसङ्ग उठता है । ऐसे अवसर पर गोपियाँ प्राप्त होने वाले सुख से 'हर्ष' में भर 'उत्साह' पूर्वक प्रियतम के पास जाती है । उनकी साज-सज्जा मानसिक 'उमङ्ग' को सूचित

---

१. जागे हौ रैन सब तुम, नैना अरुन हमारे ।
... ... ।
'नंददास' प्रभु न्याय स्यामघन, बरसत अनत जाय हम पै झूम झूमारे ।।
वही, पद ९१

२. आजु मेरे धाम आए री नागर नंद किसोर ।
धन्य दिवस धन घरी री सजनी, धन्य भाग सखि मोर ।।
मंगल गावौं चौक पुरावौं बँदनवार सजावौं पौर ।। वही, पद ९३

३. बार-बार जंभात परसपर, निकसि रहीं सब चोरियाँ ।
'नंददास' प्रभु जहांई बसौ किन, जहाँ बसै वे गोरियाँ ।। वही, पद ९८

४. 'नंददास' प्रभु तुम बहु-नाइक,
हम गँवारि, तुम चतुर कहाए ।। न० ग्र०, पदावली १००

५. 'नंददास' प्रभु जो हिय में बसत प्यारी,
ताही तैं भूलि नाम वाही कों निकसि जात ।। न० ग्र०, पद ९९

६. वही, पद १०१

७. मेरे री बगर आवत, छबि सौं कमल फिरावत ।
औरन सौं बतरावत, मो तन चितवत, चतुर परौसिन देखि-देखि मुसिक्यावत ।।
नैननि मनुहारि करत, बैनन समझावत, निपट-स्नेह जनावत, भौंह चढ़ावत ।
'नंददास' प्रभु अति लोक-लाज इत, कहु कैसैं कै धीरज आवत ।।
वही, पद १०२

करती है ।[1] श्रीकृष्ण के सम्बन्ध मे गोपियाँ छिपकर पर-युवती से मिलने की 'आशङ्का' करती है किन्तु अपने प्रेम पर उन्हें 'गर्व' है और इसीलिए वे श्रीकृष्ण को रुक जाने को कहती हैं—विनय नहीं करती । वे वचन से ही नहीं, क्रिया से भी विदग्ध हैं । अतः उनका वर्जन मनुहार मिश्रित है ।[2] प्रेमगर्विता राधा के वर्णन में श्रीकृष्ण का दैन्य और विलाप में राधा-कृष्ण का 'हर्ष' व्यंजित हुआ है ।[3] 'दैन्य' का भाव गोपियों मे भी कही-कहीं दिखाया गया है ।[4] रास का तो सम्पूर्ण प्रसङ्ग 'हर्ष', 'उल्लास' और 'उमङ्ग' का प्रसङ्ग है । पदावली के रास-वर्णन में भी इन भावों की व्यंजना हुई है ।[5]

वर्षा के समय संयोग और पुष्ट होता है । प्रिया-प्रियतम को एकान्त में मिलन के अनेक अवसर प्राप्त होते हैं । ऐसे अवसर पर उनकी वेशभूषा की विशेष सज्जा उनके उल्लास को व्यक्त करती है ।[6] घनघोर घटाएँ घिरती हैं—बादल गर्जते हैं और प्रिया 'भय' से प्रियतम के अंक मे छुप जाती है । उसका 'धैर्य' छूट जाता है, हृदय में 'कम्प' है, 'चिन्ता' है और 'विस्मय' के कारण वह 'स्तब्ध' है ।[7] पर हर्ष की कमी नहीं । पावस जहाँ डराता है वहाँ मिलन के साधन भी जुटाता है ।[8] राधा-कृष्ण इस उल्लासपूर्ण

---

१. नव सत अंग साजि, पहिरि कसूंभी-सारी,
तापर रीझे लाल दये बीच सोंधे दाग ।। वही, पद १०३

२. भले ही जाउ, नैकु ठाड़े रहौ, किन ऐसी सीख सिखाई ।
'नंददास' प्रभु अब न बनैगी, निकसि जाइ ठकुराई ।। वही, पद १०४

३. चाँपत चरन मोहन-लाल ।
कबहूँ कर गहि नैन सिरावत, कबहुं छुवावत भाल । वही, पद १०५

४. कटि अँचवन देखो ब्रज सोभा, कदम-खंड वन माँहि ।
'नंददास' प्रभु तुम चिर जीवो हम नित जूठन खाँहि ।। वही, पद ११२

५. जुवति-जूथ नृत्य करत स्याम ग्रीव भुजा धरे
स्यामहि मीत रसना सम तोले ।। वही, पद १२६

६. लाल सिर पाग लहरिया सोहै ।
तापर सुभग-चंद्रिका राजत, निरखि सखी-मन मोहैं ।
तैसोई चीर-लहरिया पहिरें सोभित राधा-प्यारी ।
तैसेई घन उमड़े चहुँ दिसि तें, 'नंददास' बलिहारी ।। वही, पदावली १४७

७. आगम गहरि, गहरि गरजन सुनि, चौंकत औचक बाल सलौनी;
प्यारी अंक दुरि रही ऐसें जैसे केहरि-क्रन्दन सुनि मृग-छौनी ।
धरत न धीर, करत हिय थर-थर सोचत मन में ह्वै मुख मौनी;
'नन्ददास' प्रभु बेगि चलौ किन, भई कहा औ आगे हौंनी ।।
वही, पदावली १४९

८. बाँधे है बिरही चोर, कीनें हैं जतन रोर,
संजोगी साधन मिलि अति सचु पायौ ।। वही, पदावली १५०

वातावरण में 'प्रसन्नता' में भर एक दूसरे से 'लटक' जाते हैं।[1] झूलना पावस कालीन उमङ्ग का ही सूचक है। सखियों के सम्मुख प्रियतम के साथ झूलने के लिए बैठते हुए प्रिया को 'हर्ष' और 'लज्जा' दोनों का अनुभव होता है। मधुर स्वर का गान उसकी मिलन-इच्छा उद्दीप्त कर देता है। इस प्रकार के मिलन से उसे 'आनन्द' की प्राप्ति होती है।[2] प्रियतम के समीप होने से राधा गर्जन करते हुए मेघों को सुन 'हर्ष' से किलकारी भरती है।[3] झूलते समय दोनों में परस्पर 'रसभरी' बातें होती हैं। 'अतृप्ति', 'हर्ष', 'उत्साह'—उनके आनन्द को क्रमशः बढाते है।[4] राधा-कृष्ण का झूलना उनके आनन्द को तो बढ़ाता ही है पर साथ ही गोपियों को भी हर्षित करता है।[5] उस दृश्य को देखकर वे 'मग्न' हो जाती हैं और तल्लीन हो उस छवि को निहारती है।[6] फाग-लीला में भी गोपियों में अनुराग-तीव्रता के कारण 'लज्जा का त्याग', 'परिहास' और 'हर्ष' के सूचक अनेक पद है।[7] सामूहिक खेल होने के कारण होली में 'उल्लास', 'उत्साह' के साथ 'स्पर्धा' का भाव भी लक्षित होता है।[8] यदि ऐसे अवसर पर 'लाज' बीच में आती

---

१. 'नन्ददास' लटकत पिय-प्यारी, छवि रची विरंचि मनो निपुनता भइ बांझ ॥
वही, पदावली १५१

२. हँसि चलत कोने कछु लजानें मैन मन के मोहना ॥
सीतल मधुर सुर गान सुनि उनए सघन घुरि आवई।
बलि 'नंद' अति आनन्द बाढ़्यो चढ़ि हिंडोरे गावई॥ वही, पदावली १५५

३. राधा दीन सुमुख किलकारी, ज्यों गरजत घनघोर;
ता पाछे सब सखियां मिलजुल करत महा री सोर। वही, पदावली १५७

४. लोचन बिलोच पोच ललिता की ओटन सी हाव
भाव भरी करत छोंटन मैं ललित बात।
दरपन में देखति दृगनि में न अघात दोऊ,
मुरलीधर मुरली धरैं करें त्रिभंगी-गात। वही, पद १६०

५. हँसत परसपर इत उत चितवत चंचल नैन बिसाल।
'नंददास' प्रभु की छवि निरखत बिवस भई व्रजबाल ॥ वही, पद १६४

६ 'नंददास' प्रभु जहाँ, ललिता झुलावैं तहाँ,
मगन भई सिंधु सोभा देखि स्याम घन की ॥ वही, पद १६६

७. गुपत-प्रीति परगट भई, लाज-तिनका सी तोरी।
ज्यौं मदमाते चोर भोर भल करत तनक सी चोरि ॥
सखियन सुख देखन-काज, गाँठ दुहुँन की जोरी।
निरखि बलैयां लेति सबै अति छवि न बढ़ि कछु थोरी ॥
वही, पदावली १७७

८. आजु हरि खेलत फागु बनी;
इत गोरी रोरी भरि भोरी, उत गोकुल को धनी ॥ वही, पद १८१

है तो उसे अपशब्द सुनने पड़ते हैं।[1] परिहास के लिए जब सखियों द्वारा श्रीकृष्ण को लक्ष्य बनाया जाता है तो राधा 'हर्ष' और 'लज्जा' दोनों अवस्थाओं के बीच मग्न हो जाती है।[2] आनन्द प्राप्ति के लिए गोपियों का श्रीकृष्ण के घर होरी खेलने जाना अनुराग की तीव्रता के कारण है।[3]

इस प्रकार मिलन-सूचक पदों में अनुराग-तीव्रता को सूचित करने के लिए नन्ददास ने प्रेमियों की विभिन्न मानसिक दशाओं का विस्तार से परिचय कराया है। यह सत्य है कि अनुराग-सूचक दशाओं का वैविध्य अधिक नहीं है। फिर भी शङ्का, मद श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, स्मृति, धृति, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, औत्सुक्य, अमर्ष, अवहित्था और उन्माद— ये विभिन्न सञ्चारी भाव उनके अनुराग-सम्बन्धी काव्य में व्याप्त हैं।

मान—काव्यशास्त्र में वियोग के अन्तर्गत पूर्वानुराग, मान और प्रवास की चर्चा की जाती है। ऊपर मिलन की इच्छा को तीव्र करने वाले पूर्वानुराग के विषय में हम प्रकाश डाल चुके हैं। मान भी मिलन में पड़ने वाली गांठ का सूचक है। अतः संयोग से बहुत भिन्न नहीं है। इसलिए विरह का वास्तविक रूप केवल प्रवास में स्पष्ट होता है। यही कारण है कि नन्ददास ने विरह-मंजरी में प्रवास की कल्पना करके विरह का वर्णन प्रस्तुत किया है। इस कारण मान की चर्चा हम विरह से पृथक् ही कर रहे हैं।

मान-लीला के उद्देश्य से नन्ददास ने नाममाला की रचना की है। इस रचना का कुछ प्रतियों में नाममंजरी नाम भी प्राप्त होता है। वस्तुतः नाममाला' में 'अमरकोष' के आधार पर शब्दों के पर्यायवाची रूप दिए हुए हैं किन्तु इसे केवल कोष-ग्रन्थ मानना उचित नहीं है। स्वयं कवि ने इस आशय को स्पष्ट करते हुए कहा है—

गूंथनि नाना नाम को, अमरकोष के भाय।
मानवती के मान पर, मिले अर्थ सब आय ॥[4]

तात्पर्य यह कि नन्ददास ने शब्दों के क्रम को इस प्रकार व्यवस्था दी है कि इनके द्वारा राधा का मान-वर्णन भी सम्भव हो सके। प्रत्येक छन्द की प्रथम पंक्ति में शब्द के पर्यायवाची हैं और दूसरी पंक्ति में उसी शब्द के प्रयोग से मान-लीला प्रसङ्ग को आगे बढ़ाया गया है। अतः इस रचना का मानावस्था में भावाभिव्यंजना की दृष्टि से विशेष महत्त्व है।

---

१. क्यों हू लुकत न लाज निगोड़ी विवस सु प्रेम उरेड़;
'नंददास' प्रभु निधि न सकति री वा वारू की मेंड़ ॥ वही, पद १८२
२. राधा गारि सुनत हँसि-हँसि के हेरति हरिहि लजाइ ॥ वही, पद १८३
३. आजु साँवरे-सलौने सो होरी खेलन जैऐ।
वड़े-वड़े मांट भराइ रंग सों, पिचकारिन छिरकैऐ ॥ वही, पद १८७
४. नाममाला, दोहा २

कृष्ण की आतुरता देखकर उनकी एक सखी मानवती राधा को मनाने के उद्देश्य से वृषभानु गोप के भवन पर पहुँचती है।[1] वहाँ किसी प्रकार वह अन्तःपुर में प्रविष्ट हो राधा की शय्या के पास पहुंचती है। राधा का रूप-सौन्दर्य अनुपम है किन्तु उसके लाल नेत्र 'अमर्ष' की स्थिति की व्यंजना करते है।[2] क्रोध के कारण उसकी लटें ललाट पर फैली हुई है।[3] उसका मुख रूखा हो आया है।[4] किन्तु प्रियतम के सम्पर्क से वस्त्रों में फैली हुई विशेष गन्ध के कारण उसमें 'अधैर्य' की स्थिति व्यक्त होती है।[5] कुछ समय के लिए इस गन्ध में वह अपने मान को भूलकर प्रियतम का 'स्मरण' हो आने से 'हर्ष' प्राप्त करती है।[6] फिर दर्पण में अपने हृदय में बसी प्रियतम की मूर्ति का प्रतिबिम्ब देख वह क्रोध में दर्पण फेंक देती है।[7] 'अमर्ष' की इस स्थिति में सहचरी का यन्त्र बजाना बन्द कर दिया जाता है।[8] उसकी भौहे 'क्रोध' मे तन गई है।[9] सखी यह सब गुप्त रूप से देखकर बड़ी 'शङ्का' और 'दैन्य'-पूर्वक राधा के सम्मुख प्रकट हो जाती है।[10] उसके मन में 'संकोच' और 'भय' है।[11] यद्यपि उसने राधा की वन्दना करके अपनी 'नम्रता' व्यक्त की[12] पर उसे देखते रमणी लाल हो गई।[13] उसकी भौहें वक्र हो गई।[14] किसी प्रकार अपने को संयमित करने के बाद राधा मीठे वचन बोली पर उसका 'क्षोभ' शान्त न हुआ। उसकी इस मूर्ति को देखकर सहचरी का 'भय' दूर न हो सका।[15] कुँवरी के कुशल पूछे जाने पर सखी को 'हर्ष' हुआ।[16] इसके बाद वचन-विदग्धा सहचरी प्रशंसा-सूचक शब्दों से मान-हरण का उपाय करती है। साथ ही वह मानजनित क्रोध के कारण मुरझाए हुए उसके मुख-कमल की ओर भी संकेत करती है।[17] उसके रूठने और 'मान'

---

१. तुरत चली चातुर अली, आतुर लखि नन्दलाल। वही, दोहा ९
२. कछु रिस राते नैन जनु, जावक भींजे मीन ॥ वही, दोहा ५५
३. कुंतल कवरि ललाट जनु, चँदहि गई दरार। वही, दोहा ५३
४. मुख रूखो ह्वै जात इमि, जिमि दरपन मुख पौन ॥ वही, दोहा ५९
५. पिय तन बास जु बसन में, छिन छिन होत अधीर। वही, दोहा ६५
६. झुकि झहरावति मुसुकि तब, अति छबि पावति बाम। वही, दोहा ६६
७. पिय मूरति नैनन निरखि, फेरि डारि तेहि देति। वही, दोह ६७
८. यंत्र बजावति सहचरि, बहुरो बरजति ताहि। वही, दोहा ६८
९. भौंह उमेठत बितनु जनु, चाप चढ़ावत आहि ॥ वही, दोहा ७०
१०. प्रगट भई पिय की सखी, निपट सुसंकित दीन। वही, दोहा ७४
११. डरत सहचरि सकुचतें, गई कुँवर के पास। वही, दोहा ७५
१२. पग बंदन करि सहचरी, ठाढी सन्मुख जाय। वही दोहा ७६
१३. हरदी चूनो परत जिमि, इमि देखत भई बाम। वही, दोहा ७७
१४. टेढ़ी भौंहन ठौर। वही, दोहा ७९
१५. छोभ भरी तिय को निरखि, डरी सहचरी सोय। वही दोहा ८०
१६. अमिय बरस बर दरस तें, सब परिपूरन काम। दोहा ८२
१७. क्यों मुख-नलिन मलिन कछु, देखति हौं बलि जाउँ। वही, दोहा ९८

को अमर वेलि के समान बिना आधार बताती है।[1] और इस प्रकार बिना कारण केवल 'गर्व' के लिए मान करने से वह उसे रोकती है।[2] जिनके 'भय' से सभी काँपते हैं,[3] वे श्रीकृष्ण उसके पाँव पर गिरकर विनती करते हैं।[4] किन्तु इस 'दैन्य' की ओर भी राधा का ध्यान नहीं जाता। राधा 'अमर्ष' की स्थिति में श्रीकृष्ण को 'कपटी' तक कह देती है।[5] सहचरि इस कटु शब्द-प्रयोग को राधा का 'गर्व' समझती है।[6] और उसके इस प्रकार के व्यवहार को अविवेकपूर्ण मानकर निन्दा करती है।[7] उसे समझाती है कि गुस्सा छोड़कर प्रेम-क्रीड़ा द्वारा आनन्द प्राप्त करना शुभ है।[8] यह क्रोध एवं मान प्रेम का नाशक है।[9] वह उसे उन दिनों का 'स्मरण' कराती है जब गोवर्धन धारण के समय उसका हृदय 'काँप' उठा था।[10] और कालिय-दमन के समय वह अधीर होकर 'दह' में कूदने के लिये तत्पर हो गई थी।[11] अतः उसे क्षमा धारण करने और रोष को छोड़ने के लिए कहती है।[12] मान द्वारा रस में विष घोलना उचित नहीं—यह कहने वाली सखी मे भी 'आवेग' के चिह्न प्रकट होने लगते है। किन्तु वह शीघ्र अपने को सँभालकर श्रीकृष्ण के लिए 'दया' की भीख माँगती है।[13] साथ ही वह श्रीकृष्ण की 'अधीरता' की बात कहती है।[14] मानवती राधा के लिए यह सब 'उन्माद' स्थिति सूचक प्रलाप है।[15] पर सहचरी प्रिय के प्रलाप[16], उत्सुकता[17], आकुलता[18] आदि की बात

---

१. अमरवेलि जिमि मूल बिन, इमि देखत तुव मान। वही, दोहा ११०
२. नंद, के नंद गोविंद सों, न करु गर्व की बात। वही, दोहा ११२
३. सो तो पिय भ्रूभंग तें, थरथर अति काँपत। वही, दोहा ११८
४. सो सुनि तुव पिय पगनि पर, परघो घसत नित सीस। वही, दोहा १२१
५. कपटी कान्हर कुंवर की, केती, कहत भली जु। वही, दोहा १२६
६. करसायन मृग दृग लियें, बलि थोरो इतराहि। वही, दोहा १२७
७. ताकों तू कपटी कहत, यह धौं कौंन सयान। वही, दोहा १३८
८. तिहि मिलि प्रेम कलोलिये यों न बोलियैं तोय। वही, दोहा १४७
९. रस में विष जिन घोरि बलि, चलि अब करि न अबार।
वही, दोहा १७३
१०. गिरि गोवर्धन वाम कर धर्यो स्याम अभिराम।
तब उर तें वह धुकधुकी, अब लौं मिटत न भाम। वही, दोहा १६५
११. काली अहि-गंजन समैं, मै राखी गहि बाँहि। वही, दोहा १६८
१२. साँझ परी है छैल बलि, छिमा करिहु तजि रोष। नाममाला, १७१
१३. करुना करि करुनानिधे, राधे जिन करि रोस। वही, १८५
१४. कबके चितवत हैं दई, नागर नंद किसोर। वही, १८७
१५. मद जीयें ज्यों बकत कोउ, कहा बकति है दूति। वही, १९३
१६. कल्पतरु तरें तल्प रचि कब के बिलपत पोय। वही, १९७
१७. तुव आगम-भ्रम चौंकि पिय, उठि-उठि उत लौं जात। वही, १९८
१८. वे वंशी में कहत प्रिय, हे प्रानेश्वरि आव। वही, २१०

दोहरा देती है। इसे सुनकर राधा का मन द्रवित हो जाता है।[1] और सखी उसे शीघ्र 'गर्व' दूर करके केलि के लिए प्रेरित करती है।[2] इस प्रकार राधा सहचरी के साथ केलि-कुञ्ज में पहुँचती है जहाँ कृष्ण 'आतुरता' से उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।[3] दोनों का मिलन 'हर्ष'-वर्धक है।[4]

पदावली में भी मान-लीला का वर्णन है। राधा की अवस्था के सम्बन्ध मे श्रीकृष्ण को परिचय कराती हुई सखी 'चिन्ता' और 'अमर्ष' की सूचना देती है।[5] सखी जब राधा को मनाने के लिए विशेष तत्परता दिखाती है, उस समय नायिका की 'खीज' व्यक्त हो उठती है। और वह उसके 'दैन्य' का तिरस्कार करती है और 'गर्व पूर्वक' श्रीकृष्ण को स्वयँ मनाने के लिए आने को कहती है।[6] मान-मनुहार के समय श्रीकृष्ण के दैन्य के अतिरिक्त राधा की 'व्यथा', 'असूया', 'क्रोध' और 'हर्ष'—सभी कुछ व्यक्त होता है।[7] प्रिया मान के समय श्रीकृष्ण की 'अधीरता' सखियों के लिए परिहास का विषय बन जाती है।[8] वे श्रीकृष्ण को 'लाज' छोड़कर राधा को मनाने के लिए प्रेरित करती हैं।[9] मान की अवस्था में राधा के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की व्यंजना कवि ने सखी के माध्यम से की है। मन में मिलन की इच्छा और 'अभिमान'—दोनों का द्वन्द्व है,

---

१. तब प्रिय, सहचरि तन चितै, मुसकी कुंवरि तनाक। वही, २०६

२. दुख जिनि दै, अब जान दै जिन बैठी इतराहि ॥ वही, २०७

३. मंजुल बंजुल कुज तर, बैठे हैं बलबीर। वही, २५६

४. यों राधा माधव मिले, परम प्रेम हरषाइ ॥ वही, २६१

५. कर पै धरि कपोल रही री प्रिय नैन मूंदि,
कमल बिछाइ मानों सोयो सुख चंदा।
रिस भरी भौंह तापै भँवर बैठे अरबरात,
इंदुतर आयौ मकरंद-हित अरविंदा ॥ न० ग्र०, पद १२७

६. दौरी-दौरी आवत, मोहि मनावत,
दाम खरचि मनों मोल लई री।
अँचरा पसारि कै मोहि खिजावत,
तेरे बाबा की का हौ चेरी भई री ॥
'नंददास' प्रभु क्यौं नहिं आवत,
उन पाँयन कछु मेंहदी दई री ॥ वही, पद १२६

७. प्यारे, पैयाँ परन न दीनी।
जोइ जोइ बिथा हुती मेरे मन, एकु छिनक में दूरि जु कीनी ॥
जो सौतिन मौ सौं अनख करत ही, देखत आनँद भीनी।
'नंददास' प्रभु चतुर-सिरोमनि, प्रीति-छाप कर लीनो ॥ वही, पद १३०

८. 'नंददास' प्रभु को नेह देखि हाँसी आवै
वे बैठे री रचि रचि सैनी ॥ वही, पद १३१

९. आपुन चलिये जु लालन कीजियै न लाज। वही, पद १३२

जिसके कारण मान समाप्त नहीं हो पाता। सखी श्रीकृष्ण की 'आतुरता' देख मनाने के लिए आगे बढ़ती है किन्तु राधा की दृष्टि से ही उसे भय लगता है। सखी की वचन-चातुरी नायिका के गुस्से को द्रवित कर देने में समर्थ होती है।[1] मान-लीला के प्रसङ्ग मे श्रीकृष्ण के सखी वेष धारण करने में उनकी मिलन-'अभिलाषा' का, राधा का उन्हें देखकर 'विस्मय' और मिलकर 'हर्ष' और मान समाप्त होने पर 'आनन्द' की अवस्था स्पष्ट होती है।[2] सखी रूप में इस प्रकार श्रीकृष्ण का राधा को मनाना सखियों के लिए 'परिहास' और 'हर्ष' का विषय है।[3] मान के समय श्रीकृष्ण की 'आतुरता' और 'अधीरता' इस बात से भी लक्षित होती है कि वे राधा के बिना एक क्षण नहीं रह पाते। मन को सान्त्वना देने के लिए वे मुरली-ध्वनि में राधा का नाम जपते हैं।[4] और जब मानिनी राधा के पास श्रीकृष्ण अचानक पहुँच जाते है, उस समय राधा 'विस्मय' और 'हर्ष' दोनों का अनुभव करती है तथा श्रीकृष्ण के नेत्र रूप-सौन्दर्य से 'मुग्ध' हो 'प्रसन्नता' का अनुभव करते है।[5] राधा की मानावस्था सखियों के लिए दर्शनीय बन जाती है। क्रोधपूर्ण मुख की मुद्रा को देखकर वह स्तब्ध रह जाती है। श्रीकृष्ण को लाने की इच्छा होने पर भी उस 'विस्मय' की अवस्था में सखी के पाँव नही बढ़ते।[6] स्पष्ट है कि मान के इस वर्णन में नन्ददास ने सभी मनोदशाओं का सुन्दर परिचय देकर अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का अच्छा परिचय दिया है।

१. तू नहि मानन देति आलिरी, मन तेरों मानवे कों करत।
पिय की आरति देखि मेरे जिय दया होत
पै तेरी दीठ देखि-देखि डरत॥
'नंददास' प्रभु दूती के वचन सुनि,
ऐसें अंग ढरे जैसें आगि लगें राग ढरत। वही, पद १३३

२. आपुनो चोप काज, सखी-भेष कीनों।...
उत तें आवत जु देखि, चकित ह्वै निहारी।...
कर सौं कर जोरि बाम, निकट ही बिठाई।...
छल तो सब उघरि गयो, हँसि जु पीठ दीनी;
नंददास वलि-वलि पिय अङ्क तुरन्त लीनीं। वही, पद १३४

३. देखति सब दुरि-दुरि कुंजन की गलियाँ;
'नंददास' प्रभु-प्यारे माँडि लई रलियाँ। वही, पद १३५

४. 'नंददास' नंदलाल बैठे अतिसै बिहाल,
मुरली की धुनि सुनि तेरों नाम गात री। वही, पद १३६

५. आये हैं निकट स्याम रीझि रहे ललचाय
तेती बार तेती बार मुख की लेत बलाय
'नंददास' प्रभु अधरनि बीरी लाई जब
रसिक विहारी प्यारी चौंकि परी मुसिकाय॥ पद १३७

६. 'नंददास' प्रभु दोऊ विधि ही कठिन परी,
देखिबौ करौ, किधौं लाल ही दिखाऊँ॥ वही, पद १४०

विरह—नन्ददास ने विरह की व्यंजना रासपंचाध्यायी, सिद्धान्तपंचाध्यायी, रूपमंजरी, विरहमंजरी और भ्रमरगीत में की है। विरहमंजरी तो विरह को स्पष्ट करने के लिए ही लिखा गया है और भ्रमरगीत का विषय भी विरहभावना से अनुप्राणित है। रासपंचाध्यायी और सिद्धान्तपंचाध्यायी में अभिव्यक्ति के अतिरिक्त विरह के कारण और स्थिति मे किसी प्रकार का अन्तर नही है। गोपियाँ श्रीकृष्ण के आवाहन पर विहार के निमित्त उनके पास पहुँचती है क्योकि चीर-हरण के समय उन्हे ऐसा आश्वासन दिया गया था।[1] किन्तु वहां उनके 'गर्व' का लोप करने के उद्देश्य से श्रीकृष्ण अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। यहीं से गोपियों का विरह आरम्भ होता है। श्रीकृष्ण के अदृश्य होने पर गोपियां 'स्तब्ध' रह जाती है।[2] उनकी 'आकुलता' इसी बात से स्पष्ट है कि उन्हे कृष्ण का क्षणिक वियोग भी असह्य है।[3] 'जड़ता' अवस्था को प्राप्त गोपियाँ जड़-चैतन्य का भेद भूल जाती हैं।[4] वे एक-एक वनस्पति तथा अन्य पदार्थों से श्रीकृष्ण का पता पूछती फिरती है। सब ओर से निराश होकर वे 'उन्माद' की अवस्था को प्राप्त होती हैं।[5] इसी अवस्था में 'मन-हरन-लाल-लीला' प्रारम्भ हो जाती है। यह उनकी 'तन्मयता' का सूचक है।[6] श्रीकृष्ण के चरण-चिह्नो को पाकर उन्हें 'हर्ष' होता है तथा वे वन्दना द्वारा अपनी श्रद्धा व्यक्त करती है।[7] पास ही एक अन्य स्त्री के चरणों को देखकर उन्हें 'विस्मय' होता है और 'उत्सुकता' वश वे आगे बढ़ती हैं।[8] 'मंजु मुकुट' द्वारा श्रीकृष्ण की प्रिया के तीव्र 'अनुराग' का उन्हें आभास मिलता है।[9] इसीलिए उनके मन में 'असूया' अथवा 'क्रोध' का भाव नहीं आता।[10] आगे बढ़ने पर 'प्रलाप' की अवस्था मे उन्हें कृष्ण-प्रिया के दर्शन होते हैं।[11] उसे इस अवस्था में देख गोपियो को 'आश्चर्य', सहानुभूति'

---

१. जमुन तीर बलबीर चीर हरि बरु जिहि दीनों। — सि० पं०, २२
२. थकि सी रहीं ब्रजबाल लाल गिरिधर पिय बिनु यों। — रा० पं०, २–४
३. जिनके नैन निमेष ओट कोटिक जुग जाहीं। — वही, २-३
४. ह्वै गई विरह विकल तब बूझत द्रुम बेली-बन
को जड़ को चैतन्य कछु न जानत विरही जन ॥ — वही, २-५
५. इहि विधि बन घन बूझि ढूंढ़ि उन्मत की नाईं। — वही, २-१८
६. मोहन लाल रसाल कि लीला इनहीं सोहैं।
केवल तनमय भई कछु न जानति हमको हैं ॥ — वही, २-१६
७. जो रज सिव अज कमला खोजत जोगी-जन-हिय।
ते सब बंदन करन लगीं सिर धरन लगीं तिय ॥ — रा० पं०, २-२२
८. चितय परस्पर चकित भईं जुरि चलीं तिही मग। — वही, २-२३
९. इन नीके आराधे हरि ईश्वर बर जोई।
तातें निधरक अधर सुधारस पीवत सोई ॥ — वही, २-३०
१०. धन्न कहत भईं ताहि नाहि कछु मन में कोपीं। — वही, २-२६
११. 'क्वासि क्वासि पिय महाबाहु' यों बदति अकेली। — वही, २-३५

और 'हर्ष' का मिश्रित अनुभव होता है।[1] इसके बाद वे सभी कृष्ण के गुणकथन में लीन हो जाती हैं और उनका रक्षक के रूप में स्मरण करती हैं। यहाँ उनका 'दैन्य' नितान्त स्पष्ट है।[2] कहीं-कहीं उनमें 'उद्वेग' की अवस्था लक्षित होती है।[3] श्रीकृष्ण के व्यवहार पर उन्हें 'विस्मय' है। पर उसका 'दैन्य' स्थिर है।[4] वे श्रीकृष्ण के अटवी-भ्रमण-जनित दुःख से आशङ्कितचित्त हैं।[5] सिद्धान्तपंचाध्यायी में श्रीकृष्ण के दृष्टि ओझल होते ही गोपियाँ 'उन्माद' की अवस्था मे पहुँच जाती हैं।[6] श्रीकृष्ण का पता सभी वृक्ष-वल्लरियों से पूछती वे आगे बढ़ती हैं। और अन्ततः जब श्रीकृष्ण के पद-चिह्न उन्हें प्राप्त होते हैं तो वे अपार 'हर्ष' का अनुभव करती हैं।[7] प्रिय के निकट ही प्रिया के चरण-चिह्न और बाद में विलाप करती हुई स्वयं वह बाला दिखाई देती है, जिसने अपने अभिमान के कारण श्रीकृष्ण को खो दिया था। सभी की 'आकुलता' और श्रीकृष्ण दरस की 'लालसा' अत्यधिक तीव्र हो उठती है। 'उन्माद' की इसी अवस्था मे श्रीकृष्ण का प्राकट्य होता है।[8] और गोपियाँ 'हर्ष' का अनुभव करती हैं। वस्तुत सिद्धान्त-पंचाध्यायी में भाव-व्यंजना की अपेक्षा विचारों की व्याख्या पर विशेष बल है।

रूपमंजरी में षड्ऋतु-वर्णन के द्वारा नायिका की विरहजनित अवस्था को स्पष्ट किया गया है। एक बार मिलन के बाद रूपमंजरी प्रियतम के साक्षात् दर्शन की 'अभिलाषा' से दर्पण अपने सम्मुख रख लेती है।[9] और निःश्वास के द्वारा अपने मानसिक 'संताप' को व्यक्त करती है। पावस की गर्जन उसके मन में प्रिय के वियोग के कारण 'भय' उत्पन्न करती है।[10] चमकती हुई बिजली उसे प्रियतम के पीत-पट का 'स्मरण' करा देती है।[11] वियोगजनित 'खीज' को वह दादुर, झींगुर, पपीहा आदि पर उतारती है।[12] सहचरि उसके ताप-मोचन के लिए अनेक उपाय करती है, पर सभी निष्फल हो

---

१. दौरि भुजनि भरिलाईं सबनि लै लै उर लाईं।
 मनहुँ महा निधि खोइ मध्य आधी निधि पाईं॥ वही, २ ३६
२. मारत हौ कित सुहृथ नाथ बिनु मोल की दासी। वही, ३-२
३. क्यों राखी, नहिं मरन दई नागर, नगधर तें। वही, ३-३
४. अहो मीत, अहो प्राननाथ यह अचरज भारी। वही, ३-५
५. कत अटवी महिं अटत गड़त तृन कूट न न्यारे। वही ३-१०
६. सुधि न रही कछु तन मै बन में बूझति डोलै। सि० पं० ६६
७. सुनि सब धाईं आईं जीवनिमूरि सी पाईं। वही, ८२
८. अपुनैं ई प्रेम-सुधानिधि बढ़ि गई (प्रेम) कलोलैं।
 बिह्वल ह्वै गई बाल बाल सों अलबल बोलैं॥ वही, ९६
९. दर्पन लै उर आगें धरै। मति इहँ झाँई पिय की परै। रूपमंजरी, पंक्ति २९३
१०. घुमड़नि मिलनि देखि डर आवै। मनमथ मानौं हाथी लरावै। वही, पंक्ति ३०९
११. दामिनि दमकि देखि दृग नावै। पिय पट पीत छोर सुधि आवै।
 वही, पंक्ति ३१४
१२. घन हरखौरैं पवन झकोरैं। दादुर झींगुर कानन फोरैं। वही, पंक्ति ३१६

जाते हैं।[1] क्योंकि उनका अनुराग अभाव नही सहन कर सकता। किसी प्रकार से नायिका 'धैर्य' धारण करती है। सखी द्वारा निर्दिष्ट प्रियतम की दिशा की ओर देखकर उसे अपार 'सुख' प्राप्त होता है।[2] विशेष कष्ट के समय वह मन को ही कुटिल कह देती है।[3] कई वार वह इस भाव से प्रसन्न होती है कि आजकल प्रियतम यहाँ नहीं है— क्योंकि चन्द्रमा आजकल आग बरसाता है।[4] यह उसके अनुराग का सूचक है। दूसरे क्षण वह चन्द्रमा पर खीजने लगती है।[5] शीतकाल में वह प्रियतम के साथ घुल-मिलकर सोने की 'अभिलाषा' करती है।[6] कामदेव जब उसे अत्यधिक सताता है, उस समय वह 'दैन्य' का आश्रय ले विनती करती है।[7] सहचरि से बार-बार मिलन की बात कहना उसकी मानसिक 'आतुरता' का सूचक है।[8] होली के समय श्रीकृष्ण का गुणगान सुनकर रूपमंजरी की 'व्याकुलता' बढती है।[9] यही व्याकुलता मूर्च्छा मे परिणत हो जाती है।[10] माता के मुख से गिरिधर गोपाल का नाम श्रवण करते ही रूपमंजरी की आंखें खुलती हैं। माता को सम्मुख देखकर उसे 'संकोच' का अनुभव होता है।[11] माता के मुख से 'गिरिधर लाल' को अपने अनुकूल वर सुनकर वह 'हर्षित' होती है।[12] दूसरी ओर रूपमंजरी की विरह-अवस्था देखकर इन्दुमती की व्याकुलता बढ़ती है[13] और नायिका को मरण की तैयारी करता देखकर तो सहचरी आर्त्त स्वर में रो उठती है

---

१. राजकुंवरि जब अति दुख पावै। सहचरि लै तब बीन बजावै।
पानी होय तौ जाय बुझाई। घी सींचो किन आगि सिराई।।
वही, पंक्ति ३३३-३४

२. कुँवरि कहै सुकवन दिसि अहै। जहँ वह साँवर पीतम रहै।
जो दिसि हाथ कै सखिन बताई। सो दिसि जीवन मूरि सी पाई।।
वही, पंक्ति ३३९-४०

३. मन सौं कहै कुटिल तू आही। अकिलौई उठि पिय पै जाही।।
वही, पंक्ति ३४२

४. भली करहि जौ इन दिन माँहीं। प्रानपियारे आवहिं नाही।।
वही, पंक्ति ३५३

५. कुँवरि कहति सखि ससि राँड़े। राहु राउ क्यों गिलिगिलि छाँड़े।।
वही, पंक्ति ३५४

६. जाड़ राँड़ जब अति तन दहै। साँवरे उर घुरि सोयो चहै।। वही, पंक्ति ३६१

७. अहो अहो मैन, देव तुम बड़े। जाके सर सिव के उर गड़े।। वही, पंक्ति ३६८

८. कहति कि तू जौ पावस बीते। तब हौं आनि मिलैहौं मीते।। वही, पंक्ति ३७६

९. मुरली पीत बसन जब गाये। चपरि कै चपल नैन भरि आये।। वही, पंक्ति ३९८

१०. फिरि गये नैन मूरछा आई। बहुरि सहचरी कंठ लगाई।। वही, पंक्ति ४१५

११. माँ-तन चितै निपट लजि गई। जानी होय बात जिनि दई।। वही, पंक्ति ४३८

१२. बिहँसि कुँवरि जनु हिय घुरि जाई। वही, पंक्ति ४४८

१३. दिखि दिखि इन्दुमती अरबरै। थोरे जल जिमि माछरि परै।। वही, पंक्ति ४७५

और बहुत 'दीन' स्वर में प्रार्थना करती है ।[१] विनीत स्वर में की गई प्रार्थना सफल होती है और रूपमंजरी को मिलन-सुख प्राप्त होता है ।

'विरह-मंजरी' व्रज में प्रचलित विरह के विभिन्न रूपों को स्पष्ट करने के लिए लिखा गया दूतकाव्य है । चन्द्रमा के माध्यम से विरहिणी अपने प्रियतम तक सन्देश भेजती है[२] और इसी प्रसग में 'बारहमासा' प्रस्तुत किया गया है । नन्ददास के अनुसार व्रज मे विरह चार प्रकार का है—प्रत्यक्ष, पलकान्तर, वनान्तर और देशान्तर ।[३] इनमें चतुर्थ विरह-रूप ही वास्तविक और शास्त्र-स्वीकृत है, शेष केवल भावनात्मक है । प्रत्यक्ष विरह में तो विरह का आधार केवल मानसिक भ्रान्ति माना गया है । इसलिए इस विरह की अनुभूति केवल उन प्रेमियों को हो सकती है, जो एक क्षण के लिए भी प्रियतम से दूर नही होना चाहते हैं । यही बात पलकान्तर के बारे मे कही जा सकती है । पलक-झपकने के कारण दर्शन मे उत्पन्न व्यवधान विरह-तीव्रता का आधार बन जाता है ।[४] स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष और पलकान्तर—विरह के दोनों रूप प्रेम-तीव्रता की कसौटी-मात्र हैं । वनान्तर में विरह की स्थिति कुछ अंश तक मानी जा सकती है—क्योंकि यहां आतुरता, उत्सुकता, चिन्ता आदि दशाएं विरही में लक्षित की जा सकती हैं । पर विरह का वास्तविक रूप देशान्तर में है । कवि ने इसीलिए विरह-वर्णन को देशान्तर तक सीमित रखा है । वैसे देशान्तर विरह भी नन्ददास ने लीला का एक भाग माना है—क्योंकि गोपी-कृष्ण-मिलन तो नित्य है ।[५] प्रस्तुत विरह-वर्णन द्वारका चले गए कृष्ण का स्मरण कर 'व्याकुल' हो जाने वाली गोपिकाओं की चन्द्र के प्रति अभिव्यक्ति है ।

'चैत्रमास' में प्रियतम को न जाने का आग्रह करते हुए नायिका में 'दैन्य' और 'अधीरता' लक्षित होती है ।[६] किन्तु प्रियतम उसकी बात सुनकर भी चले गए । ऐसी अवस्था में कोकिला का स्वर सुनते ही नायिका को 'ताप' का अनुभव होता है ।[७] मादक

---

१. यों कहि कुंवरि ग्रीव जब गोई । घरहराय तब सहचरि रोई ।
कहत कि अहो अहो गिरिधर लाला । प्रभु तुम कैसे दीनदयाला ॥
वही, पंक्ति ४८४-८५

२. अहो, चंद रस-कंद हो, जात आहि उहि देस ।
द्वारावति नदनंद सौं, कहियो बलि संदेस ॥ वि० म०, दोहा २

३. न० ग्र०, विरहमंजरी, पृष्ठ १४२

४. सो सुख व्रज अवलोकन करैं । तब जु आइ बिचि पलकैं परैं ।
व्याकुल ह्वै भारी व्रजनारी । तिहि दुख देत बिधातहिं गारी ॥ वही, पृष्ठ १४३

५ बहुर्यो व्रज लीला सुधि आई । जामें नित्य किसोर कन्हाई ।
सुपने कोउ दुख पावत जैसे । जागि परे सुख पावत तैसे ॥ वही, पृष्ठ १५०-५१

६. चैत चलो जिनि कंत, बार बार पाँ परि कहौं ॥ वही, दोहा २४

७. तब ही कुहुक कोकिला कियो । सुनतहि दहकि बहकि गयो हियो ॥
वही, पृष्ठ १४४

वातावरण में उसका मन 'अधीर' हो उठता है और नायिका मछली की भाँति 'तड़फड़ा' जाती है ।[1] वैशाख के आगमन के साथ नायिका में वन-विहार की 'अभिलाषा' जागृत होती है—अतः वह प्रियतम से लौट आने की 'विनय' करती है ।[2] प्रकृति में संयोग के संकेत पाकर उसका मन और अधिक 'व्याकुल' हो उठता है ।[3] वह विहारजनित सुख की कल्पना करती है । पर 'हर्ष' का अनुभव थोड़ा है—और दुःख की अवधि लम्बी है ।[4] जेठ महीने के प्रति कही गई उक्ति उसकी मानसिक वेदना को व्यक्त करती है ।[5] वह 'आतुरता'- वश चन्द्रमा से अनुरोध करती है कि तुम प्रियतम के पास शीघ्र चले जाओ ।[6] पावस-काल में प्रियतम का अभाव उसके 'भय' का कारण बन जाता है ।[7] प्रियतम से वह पावस की इस सेना से बचाने का 'अनुरोध' करती है ।[8] अपने अवगुणों का संकेत करते हुए वह 'आत्महीनता' की भावना व्यक्त करती है ।[9] घनघोर वर्षा के समय उसे इन्द्रकोप का स्मरण हो आता है ।[10] खञ्जन-पक्षियों का प्रादुर्भाव उसके दुःख को और उद्दीप्त करता है । क्योंकि उनमें उसे संयोगिनी स्त्रियों के नेत्रों का साम्य लक्षित होता है ।[11] कमल पर बैठे 'अलि-कुल' को देखकर उसे घुंघरारी लटों वाले मोहन-मुख का स्मरण हो आता है ।[12] तुरत उसके मन में प्रियतम-दर्शन की 'अभिलाषा' जाग उठती है ।[13] उसके प्राण 'अकुला' जाते हैं ।[14] शरद् का आगमन रास-लीला की 'स्मृति'

---

१. जलचर ज्यों जलभीर मैं, जानत नाहिन पीर ।
बिछुरि परै जब नीर तैं, सच सचु जानै नीर ॥ वही, दोहा ३०

२. आवहु बलि बैसाख, दुख-निदरन सुख-करन पिय ।
उपज्यो मन अभिलाष, बन विहरन गिरिधरन संग ॥ दोहा ३१

३. द्रुमनि सौं लपटि प्रफुल्लित वेली । जनु मोहि हँसति है देखि अकेली ॥
वही, पृष्ठ १४५

४. रंचक सुख बहुर्‌यो दुख भारी । वही, पृष्ठ १४५

५. निपट निलज इह जेठ, धाय धाय वधुवनि गहै । वही, दोहा ३८

६. अहो चंद, मो दुख तन झाँकौ, मंद मंद ए मृग जनि हाँकौ । वही, पृष्ठ १४५

७. घन मैं चमकति अति दामिनि । भौन मै भाजि दुरति है दामिनि ॥
वही, पृष्ठ १४६

८. घेरि मैन सैन दुखदाइक । तुम बिन कौन छुड़ावन लाइक ॥ वही पृष्ठ १४६

९. अवगुन होय जो मित्र मै, मित्र न चित्त धरंत । वही, दोहा ५४

१०. इन्द्र कोप कीनो पुनि अबै । जल व्याकुल गोकुल हैं सबै ॥ वही, पृष्ठ १४७

११. खंजन प्रगट किये दुख दैना । संजोगिनि तिय के से नैना ॥ वही, पृष्ठ १४७

१२. सुधि आवत वा मोहन-मुख की । कुटिल अलक जुत सीवाँ सुख की ॥
वही, पृष्ठ १४७

१३. साँझ समै बन तें बनि आवो । गो-रज-मंडित बदन दिखावो ॥ वही, पृष्ठ १४८

१४. प्रीतम परम सुजान, कातिक जौं नहिं आय हौ ।
तौं ये चपल परान, पिय तुम ही पैं आय हैं ॥ वही, दोहा ६७

लेकर आता है। रास के सभी दृश्य उसकी आँखों के सामने घूम जाते हैं।[1] बढ़ती हुई विरह वेदना में उसका शरीर 'शिथिल' हो जाता है[2] और नायिका में 'मरण' दशा के लक्षण स्पष्ट होने लगते हैं।[3] अन्ततः उसके 'धैर्य' की सीमा समाप्त हो जाती है और 'आवेग' की अवस्था में वह लज्जा, संकोच—सब कुछ दूर हटा देने की बात कहती है।[4] और फिर ब्रजलीला के 'स्मरण' से उसका यह आवेश समाप्त होता है और तदुपरान्त उसे 'हर्ष' एवं आनन्द का अनुभव होता है।

'भ्रमरगीत' में उद्धव के मुख से श्रीकृष्ण का नाम सुनते ही गोपियों को अपार 'आनन्द' की प्राप्ति होती है। ऐसा स्वाभाविक था। क्योंकि बहुत समय से उन्होंने श्रीकृष्ण का नाम किसी अन्य से नहीं सुना था। परिणामतः आनन्दातिरेक उन्हें 'जड़ता' की अवस्था मे ले जाता है। और उनके अंग-अंग में शिथिलता आ जाती है।[5] श्याम-सखा उद्धव को देखकर उनका कृष्ण-प्रेम उमड़ पड़ता है। वे उद्धव का सत्कार करती हैं और अनेक प्रकार से उसकी परिचर्या करके श्याम का कुशल पूछती है। और इस श्याम-चर्चा से उन्हें 'हर्ष' होता है।[6] इस कुशल-प्रश्न में गोपियों की 'अधीरता' उद्धव से छिप नहीं पाती।[7] इस चर्चा से श्रीकृष्ण का रूप उन्हें 'स्मरण' हो आता है और आनन्द-जनित 'आवेग' मे पहुँचकर वे 'मूर्च्छा' अवस्था को प्राप्त हो जाती है।[8] तर्क करती हुई वे व्यतीत बातो का स्मरण करती है।[9] 'स्मरण' के इस प्रसङ्ग में बहुत कुछ 'गुण-कथन' की दशा का आभास मिलता है।[10] सब प्रकार से अपने प्रियतम की प्रेम-श्रेष्ठता प्रतिपादित करने में जब वे असफल हो जाती है तो उन्हे 'खीज' छूटती है और

---

१. वही, पृष्ठ १४८

२. मृदुल बेलि सी ब्रज की बाला। मुरझि चलीं हो गिरिधर लाला॥
वही, पृष्ठ १५०

३. मास मास के दिवस करि, मास रह्यो नहिं देह।
साँस रह्यो घट लागि कै, बदन चहन के नेह॥ वही, दोहा ६२

४. जाकै अंग रोग है महा। औषध खात लाज है कहा। वही, पृष्ठ १५०

५. सुनत स्याम कौ नाम बाम गृह की सुधि भूली।
भरि आनंद रस हृदय प्रेम बेली द्रुम फूली॥
पुलक रोम सब अंग भये भरि आए जल नैन।
कंठ घुटे गद्गद गिरा बोल्यो जात न बैन॥ भ्रमरगीत, ३

६. नीके हैं बलबीर जू, बोलत बचन रसाल। वही, ४

७. मिलि हैं थोरे दिवस में जिनि जिय होय अधीर। वही, ५

८. सुनि मोहन-संदेस रूप सुमिरन ह्वै आयौ।
... ... ।
बिह्वल ह्वै धरनी परीं ब्रज-बनिता मुरझाय॥ वही, ६

९. जो मुख नाहिन हुतो कहौ किन माखन खायो। वही, १०

१०. प्रेम सहित हम पास नंदनंदन गुन गावौ। वही, १२

वे 'कटु-शब्द' का प्रयोग कर अपने मन के 'उद्वेग' को व्यक्त करती है ।[1] 'उपालम्भ' के छन्दों में गोपियों की मानसिक दशा और भी स्पष्ट हुई है । श्रीकृष्ण से उनकी प्रार्थना में 'दैन्य' और 'अमर्ष' का मिश्रण है ।[2] किन्तु उन्हें अपनी परवशता का पूर्ण 'बोध' है ।[3] प्रियतम की दर्शन-लालसा के रूप में गोपियों की 'अभिलाषा',[4] श्रीकृष्ण के गर्व की ओर संकेत करने में 'भर्त्सना'[5] और प्रस्तुत कष्ट के सम्बन्ध में उनकी 'चिन्ता' व्यक्त हुई है ।[6] 'आवेग' की अवस्था में वे कृष्ण के प्रति बहुत से कठोर वाक्यों का प्रयोग करती हैं किन्तु अन्त में उनका प्रेम फूट पड़ता है और वे 'उन्माद' की अवस्था को प्राप्त हो जाती है ।[7] स्वयं उद्धव के मन मे अनेक प्रकार की 'अभिलाषा' उत्पन्न होती है ।[8] भ्रमर के प्रति उपालम्भ मे 'अमर्ष' की अवस्था अधिक व्यक्त हुई है ।[9] कहीं-कही तो वे बहुत 'उग्र' हो जाती है ।[10] कुब्जा की चर्चा छिड़ते ही असूया भाव व्यक्त हो उठता है और फिर तो गोपियाँ 'आवेग' के कारण उक्तियों में 'उचित-अनुचित' का भी ध्यान नहीं रखतीं ।[11] यही 'प्रलाप' की अवस्था है ।[12] बहुत कुछ 'खरी-खोटी' सुनाने के बाद वे 'द्रवित' हो जाती हैं और फिर विलाप में उनका हृदय फूट पडता है ।[13] उनकी इस प्रेम-दशा को देखकर उद्धव में प्रेम का सञ्चार होता है और अनेक सात्त्विकी

---

१. नास्तिक हैं जे लोग कहा जानैं निज रूपैं ।
   प्रगट भानु कों छाँड़ि गहत परछाईं धूपैं ॥ — वही, २८
२. दुख-जल-निधि हम बूड़हीं कर अवलंबन देहु ।
   निठुर ह्वै कहा रहे ॥ — वही, ३०
३. जल बिनु कहि कैसे जियैं पराधीन जे मीन । — वही, ३१
४. कोउ कहै पिय दरस देहु तौ बेनु सुनावौ । — वही, ३२
५. कोउ कहै अहो स्याम कहा इतराय गए हौ । — वही, ३३
६. कोउ कहै अहो स्याम चहत मारन जो ऐसे ।
   गोवरधन कर धारि करी रच्छा तुम कैसे ॥ — वही, ३४
७. इहि विधि होइ अवसेस परम प्रेमहिं अनुरागीं । — वही, ४२
८. कबहूँ कहै गुन गाय स्याम के इन्हैं रिझाऊँ ।
   प्रेमभक्ति तौ भले स्याम सुंदर की पाऊँ ॥ — वही, ४४
९. तुमहीं सों कपटी हुतो नागर नंद किसोर ।
   इहांतें दूरि हो ॥ — वही, ४६
१०. जात किन पातकी । — वही, ४८
११. कोउ कहै रे मधुप स्याम जोगी तुम चेला ।
    कुबुजा तीरथ जाइ कियौ इंद्रिन कौ मेला ॥ — वही, ५५
१२. गोकुल में जोरी कोऊ पावत नाहिं मुरारि ।
    मनों त्रिभंगी आपु हैं करी त्रिभंगी नारि ॥ — वही, ५४
१३. फाटि हिय दृग चल्यौ । — वही, ६०

भावों के द्वारा इस प्रेम की स्थिति का ज्ञान कराया गया है।[1] उद्धव में प्रेम का आविर्भाव हो जाने पर श्रीकृष्ण के प्रति उनके मन में 'क्रोध' उमड़ पड़ता है और इसी के 'आवेश' में वे कुछ कटु-वचन कह देते हैं।[2] उद्धव में यह परिवर्तन श्रीकृष्ण के लिए 'विस्मय' और 'आनन्द'—दोनों का कारण बन जाता है।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि भ्रमरगीत में विरह की सभी मनोदशाएँ गोपियों में व्यक्त हुई हैं। पदावली में एक पद विरह सम्बन्धी उपलब्ध होता है किन्तु उसमें 'वेदना' और 'व्याधि' का सामान्य परिचय है।

नन्ददास की रचनाओं में मधुर-प्रेम का यह विस्तार उनकी सौन्दर्यवादी रसिक प्रवृत्ति का सूचक है। स्थूल शृंगारिक चेष्टाओं का वर्णन उनके काव्य में एक-दो स्थान पर दृष्टिगत होता है। किन्तु नन्ददास इन वर्णनों में लौकिक रति का भ्रम हो जाने के सम्बन्ध में विशेष सावधान है। अतः उन्होंने कृष्ण-रति को लौकिक रति न मान बैठने के आशय का संकेत कई बार किया है।

नाहिन कछु शृंगार कथा इहि पंचाध्याई।
सुंदर अति निरवृत्त परा तें इती बड़ाई ॥[4]

कहीं-कहीं तो रास-विलास को आध्यात्मिक रूप में देखने का प्रयत्न किया गया है।[5] रास-रहस्य को तो नन्ददास ने 'कामी' लोगों की पहुँच से बाहर माना है।[6] स्वयं गोपियों की शुद्धि के लिए रमण से पूर्व कृष्ण ने पूर्ण प्रयत्न किया है।[7] और बाद में रमण के लिए बहुत स्पष्ट शब्दों में उज्ज्वल प्रेम की बात कही गई है।[8]

भगवद्-रति

मधुर-रति के अतिरिक्त कवि ने अपनी रचनाओं मे भगवद्-रति की भी व्यंजना की है। इसके दो पक्ष है—रति और विरति। शुकदेव के प्रसङ्ग में रति भाव की व्यंजना बहुत स्पष्ट है और अनेकार्थ भाषा के अनेक संकेत विरति-पोषक हैं। शुकदेव

---

१. गदगद पुलकित रोम अंग आवेस जनायौ। — वही, ६९

२. करुनामयी रसिकता है तुम्हारी सब झूठी।
तब हीं लौं कही लाख जबहि लौं बाँधी मूठी।
मै जान्यौं ब्रज जायकै निरदय तुम्हरौ रूप।
जे तुमको अवलंबई तिनकौं मेलौ कूप ॥ — वही, ७१

३. सुनत सखा के बैन नैन आए भरि दोऊ।
बिबस प्रेम-आवेस रही नाहिन सुधि कोऊ ॥ — वही, ७३

४. सिद्धान्तपंचाध्यायी, ४०

५. पुनि ब्रज-सुंदरि संग मिलि सोहै सुंदर वर यों।
अनेक शक्ति करि आवृत्त सोहै परमातम ज्यों ॥ — वही, १०४

६. नहि कछु इन्द्रिय-गामी कामी कामिनि कै बस। — वही, ८८

७. रम्यो चहत रस रास इनहि अपनी समसरि करि। — वही, ६६

८. यह उज्ज्वल रस-माल कोटि जतनन कै पोई। — रा० पं०, ५-४०

हरि-लीला-रस 'मत्त' हैं। 'हर्ष' और 'आनन्द' से भरे वे संसार में विचरण करते है।[1] कृष्ण-रसासव पान से उन्हें 'मद' हो जाता है।[2] 'हर्ष' उनकी मुसकराहट से व्यक्त हो रहा है।[3] परीक्षित अन्य व्यक्ति है जिनमे भगवद्-रति का भावात्मक रूप दृष्टिगोचर होता है। अपने प्रत्येक प्रश्न से वे भगवद्-रति को पुष्ट करना चाहते है—क्योंकि इससे उन्हें 'सुख' का अनुभव होता है।[4] श्रीकृष्ण-कथा के प्रति उनकी 'आसक्ति' पर-युवती-चर्चा में लम्पट की आसक्ति की भाँति अत्यधिक तीव्र है।[5] गोपियों में 'तन्मयता' का कारण कृष्ण-भक्ति माना गया है।[6]

विरति-पक्ष में गोपियों की सांसारिक वस्तुओं और व्यक्तियो से 'वितृष्णा'[7] और श्रीकृष्ण के प्रति पूर्ण 'समर्पण' का भाव देखा जा सकता है।[8] गोपियों के उत्कट-प्रेम में 'कामना' का अंश निःशेष हो जाता है। अनेकार्थ-भाषा में नाम-स्मरण,[9] श्रीकृष्ण-भजन,[10] कपट का त्याग,[11] सांसारिक क्लेशों की चर्चा,[12] काल-भय,[13] अज्ञान-नाश,[14] कृष्ण-लीला स्मरण[15] सम्बन्धी उक्तियो से कवि की भगवद्रति व्यंजित होती है। इस रति के पुष्ट होने पर ही 'आनन्द' की प्राप्ति होती है।[16]

प्रेमतत्त्व की व्यंजना के सम्बन्ध में ऊपर जो परिचय कराया गया है उससे यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि रसिक नन्ददास ने काव्य के भाव-पक्ष की उपेक्षा नही की है। यद्यपि उन्हें काव्य की प्रेरणा भक्ति से मिली किन्तु उन्होने मानव-हृदय की विशिष्ट परिस्थितियों में उद्बुद्ध होने वाले एक-एक भाव और मनोदशा का परिचय

---

१. हरि-लीला-रस मत्त मुदित नित विचरत जग मैं। वही, १-२
२. कृष्ण-रसासव-पान-अलस कछु घूम-घुमारे। वही, १-५
३. प्रेमानंद मिली सुमंद मुसकनि मधु बरसै। वही, १-७
४. प्रश्न कर्‌यो रस पुष्ट करन निज सुख के काजा। वही, १-५९
५. जाकों सुंदर श्याम-कथा छिन छिन नइ लागै। वही, १-६१
६. भृंगी भयतें भृंग होत इक कीटु महा जड़।
   कृष्ण भगति तें कृष्ण होन कछु नहिं अचरज बड़॥ वही, २-२०
७. दार गार सुत पति इन करि (कहो) कवन आहि सुख। सि० पं० ५९
८. मातु, पिता, पति-कुल-पति, सुत, पति रोक रहे सब।
   नहिन रुकीं रस धुकीं जाय सो मिलीं तहाँ सब॥ वही, ३५
९. भजिले हरि अभिराम। अनेकार्थभाषा, १५
१०. कर विष जैसे तजि विषय, भजि हरि अमीनिधान। वही, २०
११. कल्प कपट तजि हरि भजो···। वही, १९
१२. कलुष कलिक्लेष तें, काढहु दीनदयाल। वही, ३३
१३. काल व्याल के काल हरि···। वही, ४८
१४. तम अज्ञान को हरहु हरि···। वही, ५२
१५. बारन गज हरि उद्धर्‌यौ, आनि गह्यो जब ग्राह। वही, ७०
१६. रस बर को रस प्रेम रस, जाके बस बलबीर। वही, ११९

भी कराया है। उनके काव्य में कौन-सा रस है, और उसका परिपाक कैसे हुआ—यह सब हमारी दृष्टि से अनावश्यक है। भावों की सफल अभिव्यंजना काव्य के लिए पर्याप्त है। और इस दृष्टि से नन्ददास की काव्य-रचनाएँ किसी भी साहित्य की श्रीवृद्धि कर सकेंगी। सहृदय उन्हें शृंगार रस की रचनाएँ कहकर मान्यता दें अथवा उन्हें मधुर-रस की रचना स्वीकार करें—यह उनका अपना दृष्टिकोण है किन्तु हमारा रस-विशेष के लिए कोई आग्रह नहीं। नन्ददास ने जिस रति-भाव की व्यंजना की है उसे उन्होंने स्पष्टतः शृंगार से अलग माना है अतः हमने उसके लिए मधुर-प्रेम नाम दिया है। पर इससे उसकी भावात्मक-सरसता में कोई अन्तर नहीं आता। सहृदय के लिए भाव नाम से नहीं हृदय-संस्पर्श से ग्राह्य बनते हैं—अतः रस की 'चकचक' में पड़ना काव्य की सरसता के लिए बाधक सिद्ध होता है। नन्ददास के भाव जितने हृदय-ग्राह्य हैं उतना ही उनके पात्रों का चरित्र भी। यह सत्य है कि उसमें अलौकिकता के तत्त्व सम्मिश्रित हैं किन्तु इससे उनके चरित्र के मानवीय पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनके हृदय के एक-एक स्पन्दन से हमारा परिचय है। उनके व्यवहार से हमारा साधारणीकरण हो जाता है। अलौकिक तत्त्वों के विद्यमान रहते हुए भी वे हमारे निकट हैं—हमारे सुख-दुःख के भागी हैं। नन्ददास के प्रमुख पात्रों में मानवीय पक्ष स्पष्ट करने के आशय से हम आगे नन्ददास के प्रमुख पात्रों का चारित्रिक अनुसन्धान प्रस्तुत करेंगे।

प्रमुख पात्र

श्रीकृष्ण—'रासपंचाध्यायी' में श्रीकृष्ण का परिचय 'नागर नवल किसोर' के रूप में दिया गया है जिनमे लीला-विलास की भावना प्रधान है। उनका मुरली-वादन विशेष उद्देश्य—गोपियों के मनहरण के लिए है।[1] गोपियों के चरण-नूपुर की आवाज़ सुनते ही वह सावधान हो जाते हैं, उनके नेत्र रूप-सौन्दर्य का पान करने के लिए उत्सुक हो उठते हैं।[2] किन्तु प्रेम का भली-भाँति रसास्वादन करना उन्हें आता है क्योंकि वह नागर हैं। अतः वह गोपियों को देखकर मुसकराते भी है और उन्हे धर्म के नाम पर वापस लौट जाने के लिए भी कहते है। यह उनके रसिक रूप का परिचय है।[3] परन्तु वह कठोर नही है अतः नवनीत-सदृश उनका हृदय शीघ्र रस के अनुकूल द्रवित हो जाता है।[4] विहार में वह उदार है[5] किन्तु अपने ऊपर संयम की उनमें कमी नही है।

---

१. बाम बिलोचन बालन को मन हरन होई जस। रा० पं०, १-४८

२. तिनके नूपुर नाद सुने जब परम सुहाए।
तब हरि के मन नैन सिमिट सब स्रवननि आए॥ वही, १-६६

३. नागर-गुरु नंद-नंद चंद हँसि मंद मंद तब।
बोले बाँके बैन प्रेम के परम ऐन तब॥ वही, १-७०

४. पिघरि चल्यो नवनीत-मीत नवनीत-सदृस हिय। वही, १-८५

५. विहरत बिपिन बिहार उदार नवल नंद-नंदन। वही, १-८७

इसलिए रस की समुचित आस्वाद्यता के लिए वह अपने को काम के वशीभूत नहीं होने देते ।[1] प्रेम में वह जितने उदार है उतने दीन भी । इसलिए प्रिया को प्रसन्न करने के आशय से वह उसके अनुकूल व्यवहार करते है, किन्तु निश्चित सीमा मे ।[2] गोपियाँ अपने प्रलाप में उनके रक्षक रूप का परिचय देती हैं ।[3] उनका रूप-यौवन और हाव-भाव—सभी मोहक हैं, अतः उन्हे देखते ही गोपियों का प्रेम-मग्न हो जाना स्वाभाविक है ।[4] श्रीकृष्ण भी गोपियों के प्रेम का सम्मान करते है—वे अकृतज्ञ नही हैं ।[5] रास मे उनकी नृत्य-कुशलता का अच्छा परिचय मिलता है । नृत्य के श्रम के वाद जल-क्रीडा उनकी विलास-रुचि का परिचायक है ।

'सिद्धान्तपंचाध्यायी' मे श्रीकृष्ण के चरित्र का सरस रूप अपेक्षाकृत कम है—कवि का ध्यान भी विषय की सरसता की ओर नहीं रहा है। पर श्रीकृष्ण के ब्रह्म-रूप का प्रतिपादन करने के साथ-साथ उसके मानवी रूप के सम्बन्ध में सकेत प्राप्त हो जाते हैं। गोपियों को मुरली ध्वनि द्वारा वन मे बुलाकर वे अत्यधिक प्रेमपूर्ण वचनो से उनका स्वागत करते है ।[6] वे कमलनयन, करुणामय और सुन्दर है ।[7] हाव-भाव और वेश-भूषा से गोपियो के मन को मोहने वाले और उनके कष्टों के निवारक है ।[8] 'अनेकार्थभाषा' मे श्रीकृष्ण को मोरमुकुटधारी, ब्रह्म रूप, संसार के जीवनाधार, रुक्मिणी-कान्त, जगद्रक्षक आदि सम्बोधनों से स्मरण किया गया है । पर यहाँ भी कवि उनके गोपी-प्रेम की चर्चा करना नही भूला है ।[9] 'नाममाला' मे राधाचरणों में सिर 'घिसने वाले'[10] और आतुरतापूर्वक प्रिया की प्रतीक्षा करने वाले[11] श्रीकृष्ण के दर्शन होते है ।

---

१. निरखि ब्रजवधू संग रंग भरे नव किसोर तन ।
   हरि-मनमथ करि मथ्यौ उलटि वा मनमथ को मन ।। वही, १-९८
२. वेनी गुहन समय छविलो पाछें बैठो जब । वही, २-२७
३. विष तें जल तें व्याल अनल तें चपला झर तें ।
   क्यों राखी, नहिं मरन दई नागर, नगधर तें ।। वही, ३-३
४. पीत वसन वनमाल वनी, मंजुल मुरली हथ ।
   मंद मधुरतर हँसत निपट मनमथ के मनमथ ।।
   पियहि निरखि तिय वृंद उठीं सवै इकै वार यों ···। वही, ४—३-४
५. तव वोले पिय नव किसोर हम ऋनी तिहारे । वही, ४-१६
६. नागर गुरु नंदनंदन वोलें अति अनुरागे । सि० पं०, ४८
७. कमलनयन करुनामय सुंदर नंदसुवन हरि । वही, ६६
८. तव प्रगटे नंदनंदन सुंदर सव जग-वंदन ।
   गोपी-ताप-निकंदन को हैं कोटिक चंदन ।। वही, ९७
९. दान साँवरे लेत वन, गोपी-प्रेम-निधान । अनेकार्थभाषा, ११८
१०. सो सुनि तुव पिय पगनि पर, पर्यौ घसत नित सीस । नाममाला, १२१
११. कबके चितवत हैं, दई, नागर नंद किसोर । वही, १८७

'रूपमंजरी' में लावण्य-मूर्ति[1] और केलि-चतुर श्रीकृष्ण के दर्शन होते हैं।[2]

'रसमंजरी' में जिस श्रीकृष्ण की वन्दना कवि ने की है वह रसमय, रस-कारण और सम्पूर्ण संसार में प्राप्त होने वाले रस के आधार हैं।[3] रूप, प्रेम और आनन्द—उन्हीं से उद्भूत हैं।[4] भ्रमरगीत में गोपियों ने श्रीकृष्ण के जिस स्वरूप पर प्रकाश डाला है वह मानवीय है। वे सुन्दर हैं और प्रेम करके मन-हरण करना जानते हैं।[5] माखन खाना, गोचारण, आखों में प्रेमपूर्वक अञ्जन देना—ये उनके मानवीय कार्य ही हैं।[6] गोपियों के प्रलाप में श्रीकृष्ण का रक्षक रूप प्रकट हुआ है।[7] गोपियों को दर्शन देकर अदृश्य हो जाने की 'छलविद्या' मे वह बिलकुल निपुण हैं।[8] उपालम्भ के समय गोपियाँ श्रीकृष्ण की निष्ठुरता,[9] लोभ,[10] स्वार्थ,[11] स्त्री-लम्पटता आदि अनेक दोषों की ओर संकेत करती हैं। वस्तुतः यह सब आवेश की अवस्था में कहा गया है। पर गोपियों ने कृष्ण को प्रेम की तीव्रता के कारण सामान्य नर से अधिक कुछ नहीं समझा—इससे यह बात अवश्य सिद्ध होती है। 'स्याम-सगाई' में श्रीकृष्ण के चरित्र का अत्यधिक स्वाभाविक रूप उभरा है। यशोदा के लाड़ले श्याम राधा की माँ की दृष्टि में अत्यधिक चञ्चल, लङ्गर और दधि माखन के चोर हैं। कहने-सुनने में उसे कोई लज्जा नहीं है। अतः वे उनकी कन्या राधिका के लिए सर्वथा अयोग्य वर हैं।[12] पर श्रीकृष्ण चतुर है और दृढ़-निश्चयी हैं।[13] अतः वह अपने सौन्दर्य से राधा पर वार करते हैं।[14] और फिर सखियों

---

१. इत तें इकु कोउ नवकिसोर सों। मनमथ हू के मन को चोर सों॥
रूपमंजरी, पंक्ति २०६

२. कछु छल कछु बल कछु मनुहारी। लै बैठे तँह लालबिहारी। वही, पंक्ति ५०५

३. है जो कछू रस इहि संसार। ताकहुँ प्रभु तुम ही आधार॥ रसमंजरी, पं० १

४. रूप प्रेम आनंद रस, जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरिधर देवकों, निधरक वरनों ताहि॥ वही, दोहा ७

५. नैन, बैन स्रुति, नासिका मोहन रूप दिखाइ।
सुधि बुधि सब मुरली हरी प्रेम-ठगौरी लाइ॥ भ्रमरगीत, ८

६. वही, छन्द १०

७. व्याल, अनल, विष, ज्वाल तें राखि लई सब ठौर। वही, ३४

८. कोउ कहैं अहो दरस देत पुनि लेत दुराई।
यह छलविद्या कहो कौन पिय तुमहिं सिखाई॥ वही, ३१

९. निठुर ह्वै कहा रहै। वही, ३०

१०. लोभ की नाव ये। वही, ३२

११. आपुने स्वारथी। वही, ४१

१२. नंद-ढोटा लंगर महा, दधि माखन को चोर;
कहति, सुनति लज्जा नहीं, करति और ही और। स्याम-सगाई, ५

१३. स्याम-सगाई, ८

१४. मोर-चन्द्रिका धारि, सुनटवर-भेष बनाई;
वरसांने के बागहि, मोहन बैठे जाई। वही, ९

से मिलकर राधा की माँ को प्रभावित करने का उपाय भी ढूंढ लेते हैं। गारुड़ी बनकर वे राधा को ठीक करने के उद्देश्य से उसके घर पहुँचते हैं और वहाँ बहुत अनुरोध करने पर तथा विशेष शर्त रखकर राधा को मन्त्र पढ़कर ठीक करते हैं।[1] प्रेम-लीला के एक नायक का सहज रूप यहाँ श्रीकृष्ण को प्राप्त हुआ है।

'रुक्मिणीमंगल' के श्रीकृष्ण ब्राह्मण-भक्त है,[2] प्रेमी हैं[3] और चतुर है।[4] उनका रूप-लावण्य सभी नगरवासियों को मुग्ध बना देनेवाला है। वे कार्य-कुशल और अपूर्व योद्धा है।[5] पदावली में भी श्रीकृष्ण के चरित्र की उक्त सभी विशेषताएँ कुछ विस्तार से प्राप्त हो जाती हैं—साथ ही उनका बाल-रूप भी चित्रित किया गया है। श्रीकृष्ण प्रातःकाल माँ की 'मधुर बानी' में प्रभाती सुनकर उठते है।[6] उनका शैशव पालने में अँगूठा चूसते हुए व्यतीत होता है।[7] धीरे-धीरे अन्य गोप-ग्वालों के समान गोचारण,[8] गोदोहन[9] में उनकी रुचि होती है। कभी-कभी उनके स्वभाव में बाल-हठ लक्षित होता है।[10] शैशव व्यतीत होने पर उनका शारीरिक सौन्दर्य चर्चा का विषय बन जाता है।[11] कृष्ण चतुर,[12] व्यवहार-कुशल[13] और प्रेमी है।[14] समयानुसार राधा से उनका विवाह होता है।[15] प्रेम-लीलाओं के अनेक रूप तब हमारे सामने आते है। होली के अवसर पर श्रीकृष्ण एक उत्साही, उल्लासपूर्ण और चञ्चल युवक के रूप में हमारे सामने आते हैं।[16]

---

१. दरस-फूंक दै विष हर्‌यौ, निज सनमुख बैठाइ। वही, २५
२. रुक्मिणीमंगल, ४८-४६
३. श्रीहरि हियो सिरावत लावत लै-लै छाती। वही, ५४
४. वही, ५५
५. गरुड़ हरी जिमि सुधा दर्प सरपन कों सब हरि।
 तैसे हरि लै चले आपुनो सहज खेल करि॥ वही, १२०
६. जगावति अपने सुत को रानी।
 उठौ मेरे लाल, मनोहर सुंदर, कहि कहि मधुरी बानी। न० ग्रं०, पद ३१
७. पद ३४
८-६. पद ३८-३६
१०. जसुदा गहति धाइ बैंयाँ, मोहन करत
 न्हैयाँ न्हैयाँ 'नंददास' बलि जाइ रे॥ पद ३६
११. इह काहू को ढोटा, स्याम-सलौने गात है। पद ४५
१२. पद ४६
१३. पद ४७
१४. पद ४८
१५. पद ५८-६०
१६. निकसि कुंवर खेलन चले, मोहन नंद के लाल।
 संग लै रंग-भीने ग्वाल, सब गुन रूप-रसाल॥ पद १७७

स्पष्ट है कि नन्ददास ने श्रीकृष्ण के रसमय रूप को अपने काव्य में प्रधानता दी है। यौवन के कवि होने के कारण नन्ददास के चरितनायक में उसी अवस्था के अनुरूप सभी गुण उपलब्ध होते हैं। इसलिए वे हमें ईश्वर के रूप में नहीं, सामान्य प्रेमी के रूप मे अधिक प्रभावित करते हैं। इसी रूप में उनका चरित्र सजीव है।

राधा—राधा को केवल तीन रचनाओं—'नाममाला' 'स्याम-सगाई' और 'पदावली' में स्थान प्राप्त हुआ है। 'नाममाला' में वह एक मानिनी नायिका के रूप में चित्रित की गई है। अवस्था के अनुरूप उसके लाल नेत्र,[1] तनी हुई भौंह[2] और अस्त-व्यस्त लटों से सुसज्जित उसके मुख की शोभा का वर्णन किया गया है। क्रोध के कारण उसका मुख उसी प्रकार मलिन हो गया है जैसे कि श्वास से शीशा धुँधला पड़ जाता है।[3] सामान्यतः उसका रूप[4] और यौवन[5]—कामदेव का वासस्थान प्रतीत होते हैं। वैसे वह प्रिय-अनुरक्त है। मानवती होने पर भी अपने वस्त्रों मे प्रिय की गन्ध पाकर वह मुसकरा उठती है।[6] पर प्रिय पर आया हुआ क्रोध उसके व्यवहार को सामान्य नही रहने देता।[7] कोप-मुद्रा मे उसका मुख चूने में पड़ी हुई हल्दी के समान लाल हो जाता है।[8] उसका क्षोभपूर्ण रूप किसी के भी हृदय में डर बैठा सकता है।[9] उसका क्रोध किसी विशेष कारण से नही है।[10] वह कोप-दृष्टि से देखती ही नही वरन् कृष्ण और उनकी सहचरी को कटु शब्द भी कहती है।[11] पर अन्त में द्रवित हो, मान छोड़ श्रीकृष्ण से मिलने चली जाती है।

'स्याम-सगाई' में राधा रूप की राशि, चञ्चल और विलक्षण है।[12] इसीलिए यशोदा को प्रिय है।[13] माता के लिए वह वहुत सीधी है।[14] किन्तु श्रीकृष्ण के रूप-दर्शन मात्र से अपना मन खो बैठती है[15] और श्याम-श्याम की रट लगाती रहती है।[16] श्रीकृष्ण

---

१. कछु रिस राते नैन···। नाममाला, ५५
२. भौंह उमेठत···। वही, ७०
३. मुख रूखो ह्वै जात, जिमि दरपन मुख-पौन। वही, ५६
४. कंचन-संपुट जनु, पूजि छिपाए मैन। वही, ६२
५. रुनकि उठी जनु मयन की, वीना सहज सुभाय। वही, ६४
६. पिय तन बास जु बसन में, छिन छिन होत अधीर। वही, ६५
७. वही, ६७-६८
८. हरदी चूनो परत जिमि, इमि देखत भई बाम। वही, ७७
९. वही, ८०
१०. अमरबेलि जिमि मूल बिन, इमि देखत तुव मान। वही, ११०
११. वही, १२६
१२-१३. स्याम-सगाई, १
१४. सूधी राधे कुँवरि···। वही, ५
१५. हर्यो मन मोहना। वही, १०
१६. स्याम स्याम रटिबे लगी। वही, ११

को अपना सर्वस्व मानने वाली सुन्दरी राधा माता से स्पष्ट न कह पाने के कारण व्याकुल है, पर सखियों के प्रयत्न से श्रीकृष्ण को प्राप्त कर प्रसन्न हो जाती है।[1] इस प्रकार श्याम-राधा की जोड़ी माता से 'युग-युग जियो' का आशीष प्राप्त करने में सफल हो जाती है।

'पदावली' की राधा विवाहिता है।[2] इसलिए उसका सम्पूर्ण व्यवहार स्वकीया नायिका का है। प्रियतम से अपने चरणों में वह 'महावर' लगवाती है। त्रुटि हो जाने पर उसे खीज भी छुटती है।[3] अपने सौन्दर्य पर मुग्ध श्रीकृष्ण को देखकर उसे गर्व होता है। और इसी का परिणाम मान है। इस मान के मोचन के लिए श्रीकृष्ण को सखी वेश धारण करना पड़ता है।[4] स्वकीया होने के कारण 'रसवतियों' का उसे पूर्ण अवसर प्राप्त है।[5] अपने लीला-विलास से वह कृष्ण को मुग्ध बनाए रखती है।[6] सखियाँ प्रेम-लीला मे राधा का पक्ष लेती है। 'चाँचर' गाते समय राधा प्रसन्न होती है पर उसकी प्रसन्नता स्वकीया की लज्जामिश्रित प्रसन्नता है।[7] स्वाधीन-भर्तृका होने के कारण कृष्ण उसी के इशारे पर नाचते है।[8] झूलन के समय उसे अपने प्रियतम के साथ 'पटली' पर स्थान मिलता है। उस समय वह उमग-उल्लास की प्रतिमा है।[9] और होली में उसका चञ्चल-यौवन अधिक निखरकर सामने आता है।[10]

इस प्रकार स्पष्ट है कि राधा के चरित्र-चित्रण में अलौकिकता का तनिक भी संस्पर्श देखने में नही आता। वह प्रेम की साक्षात् प्रतिमूर्ति है। विरह मे मुरझा जाने वाली और मिलन में गर्वपूर्ण चञ्चल, और मानवती।

गोपियाँ—'रासपंचाध्यायी' की गोपियाँ श्रीकृष्ण-प्रेम में किसी बाधा को स्वीकार नही करती।[11] मिलन के अभाव में व्यतीत होने वाला समय उनके लिए 'कोटि बरस' के समान है।[12] इसी कारण उनका प्रेम सावन-सरित की गति-सा निर्बाध बहता

---

१. वही, २६
२. पदावली, ६०
३. पद, ६२
४. पद, १३४
५. पद, ६७
६. पद, ६८
७. पद, १८३
८. पद, ७२
९. पद, १६१
१०. राधा बनी रँग-भरि होरी खेलैं, अपुने प्रीतम के संग।
    एकु तो पहिलैं ही हती रँग-मगी पुनि भीगी अति रंग॥ पद, १८४
११. भवन-भीति द्रुम कुंज पुंज कितहूँ अटकीं नहिं। रा० पं०, १-४६
१२. परम दुसह श्रीकृष्ण-विरह-दुख व्याप्यो तिन मैं।
    कोटि बरस लग नरक भोग अघ भुगते छिन मै॥ वही, १-५२

है ।[1] श्रीकृष्ण से मिलन की इच्छा लेकर जाने वाली गोपियाँ सौन्दर्यपूर्ण हैं ।[2] कृष्ण के लौटने के लिए कहने पर वे प्रेम के भरोसे कृष्ण का विश्वास जीतने का प्रयत्न करती है ।[3] उनके तीव्र विरह और प्रार्थना से श्रीकृष्ण द्रवित हो जाते हैं ।[4] इच्छा पूर्ण हो जाने पर रूपवती, गुणवती और प्रेमपूर्ण गोपियों में अपने अहोभाग्य पर तनिक अभिमान होता है ।[5] और वे कृष्ण-संयोग से वंचित हो जाती है । विरह की अवस्था में उनकी मन की व्यग्रता बहुत स्पष्ट होती है । व्याकुलचित्त वे वन-वन भटकती हैं । उनकी व्यथा देख-कर पक्षी-वृक्ष-लता—सभी को दुःख होता है । उनकी यही प्रेम-तीव्रता देख श्रीकृष्ण प्रकट होते है और फिर गोपियों को इच्छानुसार सुख प्राप्त होता है । रास के समय उनकी नृत्य[6] और संगीत-कुशलता[7] व्यक्त होती है । उनकी इस कुशलता पर स्वयं श्रीकृष्ण मुग्ध हैं ।[8] 'सिद्धान्तपंचाध्यायी' में गोपियों के चरित्र की यही विशेषताएँ व्यक्त हुई हैं । कृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव, प्रेम की तीव्रता और वचन-विदग्धता इनमें भी लक्षित होती है ।[9] वे अपने दैन्य, मुसकराहट आदि में श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट करती हैं और तब 'प्रेम रसाला' गोपियां श्रीकृष्ण-रमण-सुख प्राप्त करती है ।[10] 'भ्रमरगीत' में गोपियों के चरित्र का विस्तृत परिचय प्राप्त होता है । प्रथम छन्द में कवि उनकी विशेषताओं को स्पष्ट कर देता है । वे श्याम का नाम सुनते ही आत्म-सुधि विस्मृत हो जाती है । किन्तु प्रेम के साथ-साथ उनका तर्कशील और प्रिय-अभाव में अमर्षयुक्त रूप बहुत स्पष्ट हुआ है । श्रीकृष्ण और उद्धव दोनों के लिए बहुत कुछ कटुवचन वे कहती हैं । किन्तु यह उद्वेग अपनी सीमा पार कर स्वयं शान्त हो जाता है । और वे अपनी दशा

---

१. सावन-सरित न रुकै करै जो जतन कोऊ अति । वही, १-५६
२. सुभग बदन सब चितवन···। वही, १-६६
३. तब बोली ब्रज बाल लाल मोहन अनुरागी ।
 गद्‌गद सुन्दर गिरा गिरिधरहिं मधुरी लागी ॥ वही, १-७८
४. सुनि गोपिन के प्रेम बचन सी आंच लगी जिय ।
 पिघरि चल्यो नवनीत-मीत नवनीत-सदृस हिय ॥ वही, १-८५
५. रूप भरीं गुन भरीं भरीं पुनि परम प्रेम रस ।
 क्यों न करें अभिमान कान्ह भगवान किए बस ॥ वही, १-१०२
६. वही, ५-१२
७. जग में जो संगीत नृत्य सुर नर रीझत जिहि ।
 सो ब्रज तियन को सहज गवन आगम गावत तिहि ॥ वही, ५-१८
८. नव नागर नंदलाल चाहि चित चकित होत यों । वही, ५-१४
९. तैसेहि हम सब छांड़ि तिहारे चरनन आई ।
 नहिन तजौ, पिय भजौ, तजौ ए सब निठुराई ॥ सि० पं०, ६१
१०. मिलि जमुना तट बिहरत सुन्दर नंद के लाला ।
 तैसिय ब्रज की बाला भरी अति प्रेम रसाला ॥ वही, १०२

पर रो पड़ती हैं ।[1] विरह का सच्चा रूप उनके चरित्र द्वारा व्यक्त हुआ है ।

'पदावली' की गोपियां कृष्ण-सौन्दर्य से उनके बाल्यकाल से ही प्रभावित है । उनकी यह रूप-प्यास बुझती नही । पालने से लेकर गोचारण तक अनेक दृश्यों को देखकर वे मुग्ध हो जाती है । अवस्था के साथ-साथ यह रूप-तृपा प्रेम मे बदल जाती है । रूपासक्ति के अनेक पद इस किशोरकालीन प्रेम के सूचक है ।[2] यमुना-कछार, ब्रज-कुंज आदि में यह प्रेम पुष्ट होता है ।[3] परिणामतः जल भरने के लिए जानेवाली गोपी पूरे शृङ्गार के साथ पनघट पर जाती है—शायद यही श्रीकृष्ण से साक्षात्कार हो जाय । खंडिता के पदो मे गोपियो का रमणेच्छु रूप प्रकट होता है ।[4] झूलन और होरी के पदों में गोपियां राधा-कृष्ण-लीला में सहायिका हैं ।[5]

इस प्रकार 'रासपंचाध्यायी' और 'सिद्धान्तपंचाध्यायी' मे यद्यपि गोपियो को आदर्श भक्त के रूप में प्रस्तुत किया गया है किन्तु सामान्यतः नन्ददास की रचनाओ में वे एक प्रेमिका के रूप में ही प्रस्तुत की गई है । उनके हृदय में मिलन की इच्छा है और मिलन के अभाव मे वे सन्तप्त हो उठती है । प्रिय-वियोग मे वे अपना सन्तुलन खो बैठती हैं और उस समय उनका आवेश विशेष रूप से प्रकट होता है जब उन्हें यह ज्ञात हो जाये कि उनका प्राप्य किसी और के साथ विलास-मग्न है । स्पष्ट है कि प्रेमिका की सभी विशेपताएं दोप-सहित उनमे प्रकट हुई है ।

गोपियो के अतिरिक्त रूपमंजरी, इन्दुमती, शुकदेव और परीक्षित आदि कुछ अन्य पात्र भी नन्ददास की रचनाओं में मिलते है । इन सभी के चरित्र मे मानवीय तत्त्वों का समावेश उचित मात्रा में हुआ है । अतः इस चरित्र-परिचय से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि नन्ददास केवल भक्त नहीं थे । उन्होंने प्रेम-तत्त्व की व्यंजना करते हुए सभी मानसिक भावों का सूक्ष्म परिचय अपने काव्य में दिया है । उनका चरित्र-चित्रण भी मानवीय धरातल पर हुआ है—अलौकिक दृष्टि से नही ।

भाव-व्यंजना तथा चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त नन्ददास के काव्य में अनेक ऐसे स्थल है जहाँ उन्होने प्रकृति तथा अन्य पदार्थो के वर्णन में अपनी सौन्दर्य-प्रधान दृष्टि का परिचय दिया है । इनका संक्षिप्त परिचय भी हमारे विचार से नन्ददास के रसिक रूप को समझने मे सहायक होगा ।

प्रकृति-वर्णन

नन्ददास की रचनाओं मे प्रकृति के अनेक रूप दृष्टिगत होते है—(१) आलम्बन रूप, (२) उद्दीपन रूप, (३) संवेदात्मक रूप और (४) मानवीकरण । इनके अति-

---

१. फाटि हिय दृग चल्यो । भ्रमरगीत, ६०
२. पदावली, ८०-८५
३. पद, ८४, और ८८
४. लाल संग रति मानी, हम जानी, कहैं देति नैना रँग भोए । पद, १०१
५. पद, १५४-१६५ और पद १७३-१९१

न्वित पृष्ठभूमि, अलङ्कार और उपदेश के लिए भी प्रकृति का आश्रय लिया गया है। प्रकृति के ये विभिन्न रूप प्रधानतया नन्ददास की दो रचनाओं—'रासपंचाध्यायी' और 'रूपमंजरी' में प्राप्त होते हैं। 'विरहमंजरी' में तो बारह महीनों का केवल भावोद्दीपक रूप प्रस्तुत किया गया है। 'रासपंचाध्यायी' में कवि ने वृन्दावन की शोभा-वर्णन में सौन्दर्य के साथ-साथ अलौकिक तत्त्व का समावेश किया है। क्योंकि उनकी दृष्टि में वृन्दावन अपने वास्तविक रूप में चिन्मय है—केवल श्रीकृष्ण-लीला के लिए उसने जड़ रूप धारण किया है।[1] इसीलिए यहाँ के सभी पशु-पक्षी, द्रुम-लता आदि काल के आधीन नहीं हैं और सदा ही सुशोभित रहते हैं।[2] यहाँ के सभी प्राणियों में कृष्ण-लीला-प्रभाव के कारण विरोध-भाव तथा अन्य विकारों का अभाव है।[3] वसन्तकालीन शोभा का यहाँ सर्वकाल प्रसार रहता है।[4] वृन्दावन के पत्र-पुष्प हीरा, मणि और मोती के सदृश सौन्दर्य पूर्ण हैं।[5] जिन पर भँवरे सदा रस की आशा से गुञ्जार करते हैं।[6] लीला-श्रम का निवारण करने के लिए यहाँ अमृत-फुहार सदैव पड़ती रहती है।[7] इस विपिन की माधुरी यद्यपि सर्वकालीन है किन्तु शरद् के समय इसकी शोभा अपार होती है।[8] मालती पुष्पों के विकसित होते ही वृन्दावन की शोभा इस प्रकार खिल उठती है जैसे कि यौवनोद्दाम पर युवती के अंग।[9] और भी अनेक प्रकार के पुष्पों के माध्यम से रात्रि हँसती हुई शोभा पाती है। चन्द्रमा की किरणों का प्रसार एक नवीन आभा का संचार करता है। कवि ने किरणों के रङ्ग और स्पर्श का भी परिचय दिया है।[10] कुंज-रन्ध्रों से छन-छन कर आने वाली किरणें 'फटिक छरी'-सी लगती हैं।[11] इस प्रकार का सादृश्य कवि के प्रकृति के सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिचायक है। चन्द्रिका का मानवीकृत रूप कवि के साथ प्रकृति के तादात्म्य को स्पष्ट करता है—

> मंद मंद चलि चारु चन्द्रिका अस छवि पाई।
> उझकति हैं पिय रमा-रमन कौं मनु तकि आई॥[12]

---

१. श्री वृन्दावन चिद्घन कछु छवि बरनि न जाई।
   कृष्ण-ललित लीला के कारन धरि रह्यौ जड़ताई॥ रासपंचाध्यायी, १-१७
२. वही, १-१८
३. वही, १-१९
४. सब दिन रहत वसंत कृष्ण-अवलोकनि लोभा। वही, १-२०
५. वही, १-२६
६. तिन मधि तिन के गंध लुब्ध अस गान करत अलि। वही, १-२७
७. अमृत फुही सुखगुही अति सुही परति रहति नित। वही, १-२८
८. वही, १-३८
९. रजनी मुख सुख देत ललित मुकुलित जु मालती।
   ज्यों नव जोबन पाई लसति गुनवती बालती॥ वही, १-४०
१०. कोमल किरन अरुनिमा वन में व्यापि रही अस। वही, १-४३
११. फटकि छरी-सी किरन कुंज-रंध्रनि जब आई। वही, १-४४
१२. वही, १-४५

श्रीकृष्ण के साथ गोपियो का वन-विहार वर्णन करते समय कवि ने प्रकृति का अत्यधिक सौन्दर्यपूर्ण परिचय दिया है। यमुना का कछार, शीतल-कोमल मलय बयार किसके मन को मुग्ध नही बना देगी।[1] पुष्पों का सौरभ और पराग फैलकर वातावरण को 'धूँधरा' और मादक बना रहा है। इसी प्रकार से भँवरो का गुजार कुजों मे संगीत की सृष्टि कर रहा है।[2] अन्य पुष्पो के वर्णन मे कवि ने केवल परिगणन नही कराया अपितु उनके सौन्दर्य और रसवर्द्धक रूप को सम्मुख लाने का प्रयत्न किया है।[3] और विलास-भूमि के लिए तो जमुना ने स्वयं उज्ज्वल और मृदुल वालुका बिछाई है।[4] यहाँ कवि ने प्रकृति-वर्णन मे रङ्ग और स्पर्श—दोनों का परिचय देकर सौन्दर्य-वर्णन को पूर्णता प्रदान की है। श्रीकृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर गोपियों द्वारा प्राकृतिक पदार्थों के वर्णन मे प्रकृति का संवेदनात्मक रूप स्पष्ट हुआ है। प्राकृतिक पदार्थों के साथ आत्मीयता स्थापित करके गोपियों ने उन्हें अपने सुख-दुःख का भागी बना लिया है।

हे मंदार उदार वीर करवीर महामति।
देखे कहुँ बलबीर धीर मन-हरन धीर गति॥
ए चंदन दुखकंदन सब कहुँ जरत सिरावहु।
नँद-नँदन-जगबंदन-चंदन हमहिं मिलावहु॥[5]

इसके विपरीत 'सिद्धान्तपचाध्यायी' मे प्रकृति-तत्त्वो की केवल परिगणना है। 'रूपमंजरी' मे निर्भयपुर की अमराई के वर्णन में प्रकृति का सश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया गया है। फूल-पत्ते, विभिन्न पक्षियो का कलरव, फलों से लदे वृक्ष, निर्मल जल से भरे सारस-हंस-युत सरोवर, खिले हुए कमल और उन पर गुंजार करते भ्रमर—सभी कुछ यहाँ एक साथ वर्णित है।[6] यहाँ प्रकृति का वर्णन केवल वर्णन के लिए प्रतीत होता है पर संश्लिष्ट चित्रण का सौन्दर्य तो है ही। 'रूपमंजरी' मे आगे प्रकृति का भावोद्दीपक रूप षड्ऋतु के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।[7]

---

१. सुभग सरित के तीर धीर बलबीर गए तँह।
कोमल मलय शरीर छबिन की महा भीर जँह॥ वही, १-९०

२. कुसुम धूरि धूँधरी कुज छवि पुंजनि छाई।
गुजत मंजु अलिंद बेनु जनु बजति सुहाई॥ वही, १-९१

३. इत लवंग नवरंग एलि इत झेलि रही रस। वही, १-९३

४. उज्जल मृदुल वालुका कोमल सुभग सुहाई।
श्री जमुना जू निज तरंग करि यह जु बनाई॥ वही, १-९५

५. वही, २—९-१०

६. नं० ग्र०, रूपमंजरी, पृष्ठ १०५

७. इमि इमि करतहि हिम रितु आई। तामें तरनि तरुन दुखदाई।
बड्डी रैन तनक से दिना। क्यों भरिए पिय प्यारे विना॥
वही, पृष्ठ ११८

प्रकृति-वर्णन के अतिरिक्त कवि ने 'नाममाला' में वृषभानु के द्वार का वैभव,[1] रूपमंजरी में निर्भयपुर की समृद्धि,[2] रुक्मिणीमङ्गल में द्वारका का ऐश्वर्य[3] तथा श्रीकृष्ण-जन्म के समय व्रज-विभूति का सुन्दर वर्णन किया है।[4] ये सभी वर्णन कवि की सौन्दर्य प्रधान-दृष्टि से हमें अवगत कराते हैं।

स्पष्ट है कि कवि ने प्रेरणा भले ही भक्ति से ली हो किन्तु उसकी काव्य-प्रतिभा ने प्रेम-तत्त्व व्यंजना जैसे अनुकूल विषय को पाकर भाव-व्यंजना का समुचित प्रसार अपनी काव्य-रचनाओं में किया है। यद्यपि उसका मुख्य क्षेत्र मधुर प्रेम रहा है, पर उसने वात्सल्य और भगवद्रति को अपने काव्य में स्थान दिया है। मधुर-प्रेम के दोनों छोर—संयोग और वियोग नन्ददास की पृथक्-पृथक् रचनाओं में व्यक्त हुए हैं। संयोग पर कवि का विशेष बल रहा है किन्तु मिलन तक ले जाने वाले अनेक प्रसङ्ग—छाक लीला, दानलीला, मुरली-वादन, चीर-हरण आदि यथास्थान वर्णित हैं। प्रेम-भाव के उद्दीपक तत्त्व—रूप और आलम्बन की चेष्टाएँ तथा प्रकृति दोनों को कवि ने स्वीकार किया है। वियोग-पक्ष के वर्णन में यद्यपि विरह-तीव्रता षड्ऋतु और बारहमासा के माध्यम से प्रस्तुत की गई है पर उसे केवल परम्परा का पालन नहीं कहा जा सकता। समय-विशेष के मार्मिक प्रभाव को उन्होंने लक्षित किया है इसीलिए उनकी अनेक उक्तियाँ अत्यधिक हृदय-स्पर्शी हैं।

> अजरि परत अब अंग सब, चोवा चंदन लागि।
> विधि गति जब विपरीत तब, पानी ही में आगि॥[5]
> मोर सोर निसि सुन्दरी, डरी खरी सुनि ताहि।
> काहू विरहिनि पर मनौं, मैन परयौ रतवाहि॥[6]

विरह-व्यंजना सम्बन्धी ये उक्तियाँ केवल रूढ़ि नहीं हैं। कवि का अपना हृदय इनके एक-एक शब्द में अनुस्यूत है। महीनों के वर्णन में स्थिति-कथन की अपेक्षा उनके द्वारा पड़ने वाले प्रभाव की ओर अधिक लक्ष्य कराया गया है। इससे भी स्पष्ट होता है कि नन्ददास के षड्ऋतु वर्णन अथवा बारहमासा केवल भाव-पोषण के लिए लिखे गए हैं—परम्परा-पालन के लिए नहीं।

विरह-वर्णन में उपालम्भ-सम्बन्धी प्रसंग अत्यधिक मार्मिक हैं। हृदय में अभाव की जो ज्वालामुखी धधक रही है, उसके कारण वाणी का कठोर, कटु और वक्र हो जाना स्वाभाविक है। किन्तु कवि की कुशलता उस ज्वाला को बहुत ही संक्षिप्त और मर्म-स्पर्शी ढंग से प्रस्तुत करने में है। यही बात संयोग के खंडिता और मान-वर्णन के प्रसंग

---

१. नाममाला, १६-२३
२. न० ग्र०, रूपमंजरी, पृष्ठ १०४-५
३. न० ग्र०, रुक्मिणीमंगल, पृष्ठ १७७-७८
४. पदावली २८
५. विरहमंजरी, दोहा ७४
६. वही, दोहा ४६

के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उपालम्भ के इन स्थलो पर संयम का कुछ अभाव अवश्य लक्षित होता है किन्तु यह पात्र की मनोदशा को देखते हुए अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। ऐसा लगता है कवि ने अपने आपको पात्रों के हवाले कर दिया है। अतः उनकी मनोदशा के अनुकूल ही उनकी अभिव्यक्ति को रखा गया है। और काव्य की सहज अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह अत्यधिक सुष्ठु प्रयोग है।

वात्सल्य रति का प्रसार अधिक नहीं है, पर इस भाव की व्यंजना के जो कुछ भी स्थल है उनमें बाल-स्वभाव और मातृ-हृदय का बहुत सुन्दर परिचय कराया गया है। माता के लिए पुत्र-जन्म और उसकी बाल-चेष्टाएँ तो आनन्द का कारण होती है किन्तु वह चाहती है कि उसके पुत्र को सुन्दर वधू प्राप्त हो। और जहाँ उसे ऐसा सम्भव नहीं प्रतीत होता वहाँ वह मुरझा जाती है। 'स्याम-सगाई' का सम्पूर्ण आधार यही है। मातृ-हृदय सोलह आने अपनी सन्तान के लिए है, यह यशोदा, कीर्तिकुमारी और रूप-मंजरी की माँ की मनोदशा-परिचय से भली-भाँति ज्ञात हो जाता है।

यह है नन्ददास के काव्य का भावात्मक परिचय, जो उनके रसिक रूप को पुष्ट करता है। उनके काव्य में भाव-विस्तार यह सिद्ध करता है कि वे सौन्दर्य और यौवन के कवि है। अतः उन्हे केवल भक्त कहना समीचीन न होगा। वे निश्चय ही कवि है पर अपने ढंग के। प्रेम-तत्त्व की व्यजना उन्होने की पर किसी प्रकार का बन्धन स्वीकार नही किया। उनकी प्रेम-साधना गोपनीयता मे विश्वास नहीं करती। इसीलिए भक्त होते हुए भी वे रसिक कहे जाने योग्य हैं। रस-साधना में भक्त के लिए प्रयुक्त यह शब्द भक्त-कवि नन्ददास के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

कलाकार

कला अमूर्त भावों को मूर्त रूप देने की एक प्रक्रिया है। कवि का अनुभव चाहे कितना ही विस्तृत क्यों न हो पर वह तब तक बोधगम्य नहीं हो सकता जब तक उसे रूपात्मक स्थिति में न ले आया जाये। क्योंकि अमूर्त भावों के सहृदय तक सम्प्रेषण के लिए मूर्त आधार अनिवार्य है। यही कारण है कि कवि अपनी अनुभूतियों को आस्वाद्य बनाने के लिए उन्हें रूपात्मक आधार देकर प्रस्तुत करता है। भावों को रूपात्मक आधार में प्रस्तुत करने की इस प्रक्रिया में कवि अपनी अनुभूतियों तथा विचारों की यथासम्भव रक्षा ही नहीं करता किन्तु उन्हें इस ढंग से सजाता है कि वे अधिक सरल, सरस और सुग्राह्य हो सकें। अतः भावों के व्यक्तीकरण की इस प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए कवि को प्रबुद्ध कलाकार कहना समीचीन ही है।

भारतीय और पाश्चात्य विद्वान् कवि-कर्म के इन दो पक्षों—अनुभूति और अभिव्यक्ति—के बारे में पूर्णतया सहमत हैं। पंडितराज जगन्नाथ के 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यं',[1] विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्य'[2]—आदि में प्रतिपादित आशय का समर्थन पश्चिमी विद्वानों की काव्य-परिभाषा सम्बन्धी इन उक्तियों—(१) कला सुन्दर भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति है, और (२) 'संवेदनात्मक अनुभूति के क्षणों में सत्य की रक्षा और उस अखण्ड सत्य की शब्दों द्वारा अभिव्यक्ति कविता है'[3]—से हो जाता है। कवि-कर्म के इन दोनों पक्षों में से किसी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तुतः दोनों पक्ष समवेत रूप में ही काव्य-सौन्दर्य को स्थायी बना सकते हैं। इसी आधार पर कालिदास की इस उक्ति—वागार्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये"[4] को सार्थक कहा जा सकता है। यह सत्य है कि कवि भौतिक, सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश से अपने व्यक्तित्व के अनुकूल जो कुछ भी ग्रहण करता है वह मानव-समाज के लिए महत्त्वपूर्ण है किन्तु उसकी महत्ता तब तक ज्ञात नहीं होती जब तक वह अपनी संवेदना तथा कल्पना के सहारे उस अनुभूत सत्य की प्रतिकृति का निर्माण नहीं कर

---

१. रसगंगाधर

२. साहित्य-दर्पण

३. Form in Modern Poetry—Herbert Read, p. 44

४. रघुवंश, मंगलाचरण

देता । पर फिर भी श्रेष्ठ कवि सच्चे कलाकार के रूप में इस मूर्त और अमूर्त का सुन्दर, सरस और ग्राह्य समीकरण प्रस्तुत करता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका यह आशय कदापि नही कि अमूर्त को मूर्त रूप देने की यह प्रक्रिया—कला प्रयत्न-साध्य है । वस्तुतः कला कवि की सहज सिद्धि है । जहाँ ऐसा नही है वहाँ काव्य का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत नही होता । फिर भी कला के व्यक्तिपरक अंश को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । यही कारण है कि कलाकार के व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण योग होने से कहीं काव्य का अनुभूति पक्ष और कही कला-पक्ष अधिक प्रधान हो उठता है, पर इसे दूसरे पक्ष की उपेक्षा कहना उचित न होगा । कलाकार नन्ददास के सम्बन्ध में हमें इसी दृष्टिकोण से विचार करना होगा ।

नन्ददास की रचनाओं में उनके व्यक्तित्व का कलाकार रूप उतना ही व्यक्त है जितना कि प्रेम-लीला वर्णन-पटु रसिक रूप । प्रेम-लीला में व्यक्त भावों को तीव्र संवेदना तथा कल्पनापूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने का श्रेय नन्ददास के कलाकार रूप को ही है । जैसा कि आगे उनकी रचनाओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जायेगा नन्ददास अत्यधिक सजग कलाकार हैं । अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से नन्ददास के सम्बन्ध में कही गई इस उक्ति 'और कवि गढिया नन्ददास जड़िया' का समर्थन किया है । कोई उनकी सरस और अनुप्रासात्मक भाषा का प्रशंसक है तो कोई शब्दों की ध्वनि, झंकार, नाद, संगीत और गति तथा अर्थ की गम्भीरता का । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, 'अनुप्रास और पद-विन्यास की दृष्टि से सूर भी नन्ददास के सम्मुख नही ठहर पाये हैं ।'[1] इसी आशय की पुष्टि डॉ० दीनदयालु गुप्त ने अधिक स्पष्ट रूप से इन शब्दो में की है—'केवल पद-लालित्य और भाषा-माधुर्य की दृष्टि रखी जाये तो नन्ददास अपने कुछ चुने हुए ग्रन्थों की भाषा के कारण प्रथम स्थान···पर रखे जायेगे ।'[2] इन उद्धरणों द्वारा नन्ददास की काव्य-कला का पूर्ण आभास हमे प्राप्त नही होता । क्योंकि ये उक्तियाँ केवल तुलनात्मक है, विशेषताओं की प्रकाशक नहीं । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी तुलना के क्षेत्र से कुछ ऊपर उठे हैं । उनकी दृष्टि में, 'नन्ददास शब्दानुप्रासों की झंकार से ऐसे वातावरण की सृष्टि करते है कि पाठक अभिभूत हो जाता है । शब्दो की ध्वनि और अर्थ की गम्भीरता एक-दूसरे से स्पर्धा करती हुई आगे बढ़ती है । अष्टछाप के किसी भी दूसरे कवि मे शब्द-गठन और ध्वनि-निर्माण की ऐसी क्षमता नही है ।''[3] शब्दों की ध्वनि और अर्थ की गम्भीरता की पुष्टि करते हुए डॉ० रामकुमार वर्मा ने कुछ और भी कहा है—"प्रत्येक पद मानो अगूर का एक गुच्छा है, जिसमे मीठा रस भरा हुआ है । शब्दों में कोमलता भी बहुत है । पंक्तियो मे न तो संयुक्ताक्षर है, न लम्बे-लम्बे समास ही । शब्दों की ध्वनि ही अर्थ का निर्देश करती है । जो कुछ कहा गया है, वह भी बहुत थोड़े शब्दों मे सुन्दरता के साथ—'अर्थ अमित आखर

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १७५
२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ८९५
३. हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १९१

अति थोरे।"[1] इसी प्रकार पं० उमाशंकर शुक्ल ने नन्ददास की आदर्श साहित्यिक भाषा के गुणों में सरस प्रवाह, अद्भुत संगीत और हृदय पर चोट करने की शक्ति की चर्चा की है।[2] तथा डॉ० सुधीन्द्र ने उन्हें शब्द-शिल्पी और भाव-शिल्पी की संज्ञा दी है।[3] स्पष्ट है कि विभिन्न विद्वानों के अनुसार नन्ददास की भाषा प्रौढ़ और मार्जित है। उसमें सरस प्रवाह, संगीत, भावात्मकता, अर्थ-गाम्भीर्य, अलंकारिता, चित्रमयता आदि अनेक गुणों का निर्देश किया जा सकता है। इन्हीं गुणों के आधार पर नन्ददास को कलाकार कहा गया है। विभिन्न रचनाओं के आधार पर उनके कलाकार-रूप का परिचय प्राप्त करना ही यहाँ हमारा अभीष्ट है

ऊपर नन्ददास की कलात्मकता के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों द्वारा की गई प्रशंसा से यह नितान्त स्पष्ट है कि काव्य-कला का मूल आधार भाषा है। वस्तुतः भाषा वह माध्यम है जिससे कवि अपनी मनःसृष्टि को रूप देता है। इस अमूर्त को मूर्त रूप में प्रस्तुत करने की प्रक्रिया कल्पना की सहायता द्वारा सम्पन्न होती है। भाषा की सजावट, समृद्धि और प्रभावपूर्णता कल्पना के ही कारण सम्भव है। अरस्तू ने कला के सम्बन्ध में जिस निर्माण-शक्ति का उल्लेख किया है वह कल्पना का ही रूप है। कहने का तात्पर्य यह है कि कलात्मक पूर्णता के लिए केवल भाषा का ज्ञान पर्याप्त नहीं है, उसका भावानुरूप निर्माण करने के लिए भाषा पर पूर्ण अधिकार की आवश्यकता है। और भाषा पर इस अधिकार की प्राप्ति केवल वही कलाकार कर सकता है जिसकी कल्पना एवं 'निर्माण-शक्ति' उर्वरा हो। अतः स्पष्ट है कि सच्चा कलाकार अपनी कल्पना द्वारा भाषा को सँवारकर इतना सक्षम बना देता है कि वह भाव को मूर्त रूप देने में समर्थ हो जाती है।

काव्य-कला की दृष्टि से भाषा के जिन सौन्दर्य-साधक तत्वों की चर्चा की जाती है उनमें से प्रधान है—

१. वर्ण-योजना,
२. शब्द-सौन्दर्य,
३. चित्र-योजना,
४. शब्द-समृद्धि और
५. संगीत।

वर्ण-योजना—भाषा के प्रमुख उपकरण है शब्द और शब्दों का आधार है वर्ण। भाषा को सुन्दर, सरस, स्निग्ध एवं सुकोमल बनाने के लिए कवि वर्ण-योजना पर विशेष ध्यान देता है। यहाँ कवि का उद्देश्य भाषा को सँवारने तथा उसका ललित रूप प्रस्तुत करने की ओर होता है उसके शुद्ध अथवा संस्कृत रूप की ओर नहीं। इसीलिए कई बार वह शब्दों को खराद पर चढाकर उन्हें मसृण बना देता है और इस प्रकार

---

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ७६२
२. नन्ददास, भूमिका, पृष्ठ १११
३. रासपंचाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ ४१

उन्हें अपने भावों के अनुरूप बना देता है। वर्ण-याजना का ही प्रभाव है कि भावानुभूति अधिक तीव्र हो जाती है। क्रोध, उत्साह, शोक, रति—सभी भाव अनुकूल वर्ण-योजना में अधिक संवेद्य हो जाते है। यही बात काव्य-गुणों—प्रसाद, माधुर्य और ओज के बारे में कही जा सकती है। वर्ण-योजना का चमत्कार शब्दालंकारों में विशेष रूप से लक्षित होता है। अनुप्रास तो वर्ण-योजना पर ही टिका है और यमक तथा वीप्सा में इसी का वैभव है।

इस प्रकार वर्ण-योजना द्वारा—

१. भाषा की स्निग्धता, कोमलता, लालित्य आदि सिद्ध होते है।
२. भावों को अधिक संवेद्य बनाने मे सहायक काव्य-गुणो के अनुरूप भाषा की सिद्धि होती है। और
३. भाषा को सजाने-सँवारने में सहायक शब्दालंकारों की सृष्टि होती है।

इन सभी उद्देश्यों की सिद्धि के लिए वर्ण-संगीत, वर्ण-मैत्री, वर्ण-संगति आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

शब्द-सौन्दर्य—उपयुक्त शब्दों का चयन भाषा को केवल सुन्दर नहीं बनाता किन्तु उसकी अभिव्यक्ति-क्षमता को भी बढ़ाता है। शब्द और अर्थ के अभिन्न सम्बन्ध की बात हम ऊपर कह आए हैं। इसलिए भाषा का अर्थ-गाम्भीर्य तथा सौरस्य शब्दों के प्रयोग पर निर्भर करता है। शब्द-सौन्दर्य का आधार है—शब्द-शक्ति। लक्षणा-व्यंजना के प्रयोग द्वारा भाषा अधिक सशक्त, वैदग्ध्यपूर्ण और मर्मस्पर्शी बन जाती है। सामान्य शब्द भी इन शक्तियों के सहारे भाषा के केवल बाह्य रूप को नहीं वरन् उसके मर्म को भी अधिक सुन्दर और प्रभावपूर्ण बना देते है। शब्द-चित्रों की स्थिति लक्षणा-व्यंजना शक्ति पर निर्भर है। स्पष्ट है कि शब्द-शक्ति काव्य-शिल्प का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

इसके अतिरिक्त विशेषण और पर्याय शब्दों के प्रयोग द्वारा भाषा का सौन्दर्य-वर्द्धन किया जा सकता है। साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग से अनुभूति की अधिक गहराई का ज्ञान होता है। केवल इतना नही, विशेषण का प्रयोग भाव को अधिक ग्राह्य बनाने में भी सहायक होता है। इसी प्रकार पर्याय शब्दों का निपुणतापूर्वक प्रयोग भाषा को अधिक समर्थ बना देता है क्योंकि प्रत्येक शब्द समानार्थक होते हुए भी प्रसंग के अनुकूल भिन्न अर्थ और भिन्न ध्वनि देता है। शब्द-सौन्दर्य के इस प्रसार में मूलतः शब्द-शक्ति का ही विस्तार है।

चित्र-योजना—भाषा द्वारा अमूर्त भावों को मूर्त रूप देने की बात कही जा चुकी है। वस्तुतः चित्र-योजना इसी उद्देश्य का प्रमुख साधन है। कवि अपनी अनुभूति को जब अधिक स्पष्ट और ग्राह्य बनाना चाहता है तो वह रेखाओं और वर्णों के योग से अपने भावानुरूप चित्र अंकित कर देता है। किन्तु अनुभव-तीव्रता, चित्र-योजना की सफलता के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है। इन चित्रों की सामग्री उसे समाज और प्रकृति से प्राप्त होती है। इन्ही सामाजिक और प्राकृतिक तत्त्वों का आश्रय लेकर वह अपनी भावना को साकार कर देता है। उमंग, उल्लास, वेदना, शोक, भय—सभी को

कवि अपनी रेखाओं में ऐसा मूर्तित करता है कि उनको ग्रहण करना सहज हो जाता है।

डॉ० सावित्री सिन्हा ने चित्र-योजना के दो रूप स्वीकार किए हैं[1]—(१) लक्षित चित्र-योजना और (२) उपलक्षित चित्र-योजना। लक्षित चित्र-योजना का आधार चित्र-कला स्वीकार की जानी चाहिए। इसमें रेखाओं और वर्णों का विशेष योगदान रहता है। चित्र को मूर्तिमान करने के लिए वह विभाव, अनुभाव, प्रकृति और वातावरण को आकार देता है। इन चित्रों के भी दो वर्ग हो सकते हैं—व्यक्ति-चित्र और सामूहिक चित्र। व्यक्ति-चित्रों में पात्र-विशेष का विभाव-रूप में अथवा उसकी भाव-सूचक चेष्टाओं का चित्र होता है। सामूहिक चित्रों में उत्सवों के चित्र विशेष रूप से हैं।

उपलक्षित चित्र-योजना का आधार अप्रस्तुत-योजना है। कवि अपने सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर समाज, प्रकृति और शास्त्रों से अनेक सादृश्य लेकर चित्रों का निर्माण करता है। रूप, गुण और भाव को इन चित्रों द्वारा विशेष रूप से ग्राह्य बनाया जाता है। इसीलिए काव्य में अप्रस्तुत योजना एवं अलंकार-विधान का अत्यधिक महत्त्व है।

भाषा समृद्धि—भाषा-समृद्धि के दो रूप हैं—(१) शब्द-समूह और (२) लोकोक्ति-मुहावरों का प्रयोग। यह सत्य है कि प्रत्येक कवि एक स्वीकृत भाषा में काव्य की रचना करता है किन्तु उसके द्वारा प्रयुक्त शब्द अन्य भाषाओं से भी लिये जा सकते हैं। यही शब्द-समृद्धि उसकी भाषा को अधिक समर्थ बनाने में सहायक हुआ करती है। काव्य की भाषा में बहुधा चार प्रकार के शब्द प्रयुक्त होते हैं—तत्सम, अर्द्धतत्सम, तद्भव और देशज। इनके अतिरिक्त कुछ विदेशी संस्कृति तथा भाषा के आदान-प्रदान से गृहीत शब्द होते हैं। कुछ अन्य का निर्माण कवि स्वयं करता है। इन्हें अनुकरणात्मक शब्द कहा जाता है। अनुकरणात्मक शब्द शब्द-चित्र के निर्माण में सबसे अधिक सहायक सिद्ध होते हैं। अनुकरणात्मक शब्द तीन प्रकार के हैं—(१) अनुभूति-व्यंजक, (२) कार्य-व्यापार और रूप-व्यंजक और (३) ध्वनि-व्यंजक। इन शब्दों के प्रयोग से भाषा की बिम्बग्राहिका शक्ति अत्यधिक बढ़ जाती है।

भाषा की समृद्धि और सजीवता में लोकोक्ति-मुहावरों का विशेष योगदान है। इनके प्रयोग से भाषा सरल, स्पष्ट, प्रवाहपूर्ण और मार्मिक बन जाती है। लोकोक्ति लोकप्रचलित वे उक्तियाँ हैं जो समय की सीमा पार करके आज भी समाज में जीवित हैं और दूसरी ओर मुहावरे चमत्कार और विदग्धता पर अधिक आश्रित हैं। किसी पर फब्ती कसने में इनकी विशेष सहायता ली जाती है। इसलिए वक्रता इनका विशेष लक्ष्य होता है।

संगीत-छन्द—काव्य को शब्द और अर्थ के रूप में ही पहचाना गया है। किन्तु संगीत से उसका संबंध जन्म से रहा है। प्राचीनकाल में वेद-पाठ की विशेष विधि को स्वीकार करके कविता से संगीत का सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया। छन्द-योजना इसी का परिणाम है। कविता में गेयत्व हो अथवा न हो पर लय उसका अनिवार्य अंग है। लय

---

१. ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति-काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प, पृष्ठ १९६

ाभाव में कविता और गद्य में कोई अन्तर नहीं रहता। छन्द-योजना द्वारा लय और
र की सृष्टि में विशेष सहायता मिलती है और इन दोनों का अनुभूति को तीव्र कर
द्य बनाने में विशेष योगदान रहता है। किन्तु गेय काव्य में संगीत-तत्त्व अनिवार्य
ा में स्वीकार किया जाता है। वास्तव में संगीत भाव के अनुकूल वातावरण की अनुपम
ष्टि करता है जिससे भावोद्बोधन में विशेष सहायता मिलती है। यद्यपि संगीतशास्त्र
ड समृद्ध शास्त्र है पर काव्य में उसका उपयोग केवल भावोत्कर्ष में सहायक साधन
रूप में किया जाता है। जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ भावानुभूति में बाधा पहुँचती है।
तः शास्त्रीय-संगीत काव्य-शिल्प के अन्य उपकरणों की भाँति ही ग्राह्य है—वह काव्य
ा साध्य कभी नहीं हो सकता।

ऊपर भाषा-सौन्दर्यवर्धक जिन उपकरणों की चर्चा की गई है मुख्यतः उन्हीं को
आधार मानकर काव्य-कला पर विचार किया जाता है। किन्तु इनके अतिरिक्त काव्य-
रूप का भी सम्बन्ध काव्य की कला से है। काव्य के दो रूप प्रधान हैं—प्रबन्ध
और निर्बन्ध। कथा पर आधारित काव्य-रचना प्रबन्धकाव्य है। इसमें कवि की दृष्टि
वस्तुनिष्ठ तथा अधिकतर बाह्यार्थ निरूपिणी होती है। कथा-प्रधान होने के कारण
इसका आधार अधिक विस्तृत और विशाल होता है। इसके विपरीत केवल प्रसंग अथवा
भाव-विशेष पर आधारित निर्बन्ध काव्य अंतःवृत्ति प्रधान होता है। विभाव अथवा
अनुभाव चित्रण के रूप में इसमें बाह्य-पक्ष का अभाव तो नहीं माना जा सकता किन्तु
भाव की व्यंजना इसमें प्रधान होती है। निर्बन्ध काव्य के भेदों में मुक्तक की अपेक्षा
गीतिकाव्य में संवेदनात्मक तत्त्व की प्रधानता अधिक व्यक्त होती है। और इस संवेदना-
त्मकता को संगीत से विशेष प्रश्रय प्राप्त होता है। प्रबन्ध और निर्बन्ध के आगे कई
भेद है जिनकी चर्चा यथासमय आवश्यकतानुसार आगे की जायेगी।

यहाँ हम नन्ददास के कलाकार रूप का उक्त विभिन्न काव्य-कला-उपकरणों के
अनुसार परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे।

कला की दृष्टि से नन्ददास के सभी ग्रन्थ समान नहीं है। रासपंचाध्यायी
रूपमंजरी, भ्रमरगीत, रुक्मिणीमंगल और पदावली में नन्ददास उत्कृष्ट कलाकार के रूप
में हमारे सामने आते है। इनके अतिरिक्त सिद्धान्तपंचाध्यायी, रसमंजरी, विरहमंजरी
का कलात्मक पक्ष उपेक्षणीय नहीं है। शेष रचनाओं में से 'श्यामसगाई' और 'नाम-
माला' के अतिरिक्त अन्य सभी ग्रंथ कलात्मक दृष्टि से बहुत साधारण है—लेकिन इन
ग्रंथो में भी ऐसे स्थल है जहाँ कवि के कलाकार रूप की झलक मिल जाती है। 'श्याम-
सगाई' की भाषा-शैली सभी ग्रन्थों से पृथक् है। उसमे कवि ने भाषा के सहज-माधुर्य
को प्रस्तुत किया है। अतः उसका अपना सौन्दर्य है। इसलिए कलापूर्ण न होते हुए भी
वह पाठक का मन मुग्ध करने में समर्थ है। इसी प्रकार 'नाममाला' का महत्त्व उसके
रचना-कौशल में है। यद्यपि कोष-ग्रन्थ के रूप में लिखी गई इस रचना में कलात्मकता
के लिए अधिक अवसर नहीं था पर कवि ने प्रत्येक प्राप्त अवसर का उपयोग किया है।
उसके कौशल का परिचय इसी में है कि उसने कोष-ग्रन्थ के साथ मानवती-प्रसंग को
बहुत सुन्दर ढंग से गूँथा है। वैसे भी ऐश्वर्य-वर्णन, रूप-वर्णन, मान छुड़ाने के प्रसङ्ग

में वचन-विदग्धता आदि ऐसे अनेक अवसर हैं जहाँ कवि का कला-कौशल देखा जा सकता है ।

वर्ण-योजना

वर्ण-योजना के जिन साधन तत्त्वों—वर्ण-संगीत, वर्ण-मैत्री, वर्ण संगति और अर्थ-सौरस्य की हमने ऊपर चर्चा की है उन सभी का उद्देश्य है—भाषा के सौन्दर्य की वृद्धि । इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वर्ण-योजना के समय तीन बातों को ध्यान में रखा जाता है—

१. भाषा का लालित्य—अर्थात् संगीत और लय का समावेश ।

२. भाव को अधिक ग्राह्य बनाने के लिए अनुकूल भाषा का निर्माण ।

३. भाषा की सजावट—शब्दालङ्कारों के रूप में ।

इस दृष्टि से नन्ददास के तीन ग्रन्थों—रासपंचाध्यायी, रुक्मिणीमंगल और पदावली की भाषा का स्थान विशिष्ट है । अतः हम पहले क्रमशः इन तीन रचनाओं की भाषा में वर्ण-योजना पर प्रकाश डालेंगे ।

रासपंचाध्यायी : भाषा-लालित्य के लिए समान स्वर तथा व्यंजनों की योजना अत्यधिक सहायक हुआ करती है । कभी-कभी यह समानता आसपास के कुछ शब्दों तक सीमित रहती है और कहीं यह समानता पूरी पंक्ति में फैली हुई होती है । प्रथम को हम वर्ण-मैत्री कहते हैं और दूसरे को वर्णसंगति । दोनों का ही प्रयोजन सस्वरता उत्पन्न करके भाषा के लालित्य को बढ़ाना होता है । नन्ददास की काव्य-भाषा का यह बहुत बड़ा गुण है कि उसमें वर्ण-मैत्री समान वर्णों की भिन्न रूप वाली योजना को लेकर आगे बढ़ती है । शुकदेव की अवस्था का वर्णन करते हुए नन्ददास कहते हैं—

हरि लीला रस मत्त मुदित नित विचरत जग में ।
अद्भुत गति कतहूँ न अटक ह्वै निकसत नग में ।[१]

इस छन्द की प्रथम पंक्ति में 'मत्त मुदित' द्वारा आद्यानुप्रास से कवि ने आरम्भ किया है । किन्तु शीघ्र ही उसने अन्त्यानुप्रास को ग्रहण कर 'मुदित नित विचरत' में वर्ण-मैत्री स्थापित की । यहाँ दो बातों की ओर हम ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे—(१) एक ही शब्द 'मुदित' द्वारा वर्ण-मैत्री के दो वर्गों की स्थापना और (२) 'विचरत' शब्द का प्रथम वर्ण केवल स्वर-मैत्री प्रस्तुत करता है और अन्तिम वर्ण स्वर तथा व्यंजन-मैत्री । इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्ण-मैत्री के विभिन्न वर्ग एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए आगे बढ़ते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं । इसी सन्दर्भ में कवि ने आगे कहा है—

सुन्दर उदर उदार रोमावलि राजति भारी ।
हिय-सरवर रस-पूरि चली मनु उमगि पनारि ॥[२]

---

१. न० ग्रं०, रासपंचाध्यायी, १-२

२. वही, १-१०

इस छन्द के अधिकाश शब्दो मे 'र' का प्रयोग किया गया है। किन्तु वर्ण-योजना का अन्तर है। 'सुन्दर उदर उदार' वर्ण-योजना का एक वर्ग है और 'रोमावलि-राजति' दूसरा वर्ग। किन्तु 'र' वर्ग दोनो को परस्पर मिलाए हुए है। और यही वर्ण अगली पंक्ति को भी सस्वर बनाने में प्रयत्नशील है। स्पष्ट है कि वर्ण-मैत्री का एक नवीन रूप कवि ने इस छन्द में प्रस्तुत किया है। सम्पूर्ण रासपंचाध्यायी वर्ण-मैत्री के ऐसे उदाहरणों से भरी पड़ी है। वास्तविकता तो यह है कि वर्ण-मैत्री का जितना साधिकार प्रयोग नन्ददास ने अपने काव्य में किया, ऐसा अन्य किसी कवि के काव्य में मिलना सरल नहीं है। वे इसका प्रयोग इतनी सहजता से करते है कि पाठक चकित रह जाता है। ऐसे अनेक वर्णन जो इतिवृत्तात्मकता के कारण उपेक्षणीय हो सकते थे उनको भी नन्ददास ने अपनी वर्ण-मैत्री के सहारे सजीव कर दिया है। रासपंचाध्यायी की रचना के सम्बन्ध में कही गई यह उक्ति किसका ध्यान आकर्षित नहीं कर लेगी !

तातें मैं यह कथा जथामति भाषा कीन्हीं।[1]

यहाँ 'कथा' के साथ 'जथा' शब्द को ऐसा बिठाया गया है जैसे सामान्य धातु की अँगूठी में नग बिठा दिया जाता है और इस प्रकार कथा की शुष्कता उतने क्षण के लिए दूर हो जाती है जब तक वह अगले सस्वर स्थल पर नही पहुँच जाता। वर्ण-मैत्री के ऐसे छोटे-छोटे रूप सम्पूर्ण रासपंचाध्यायी मे फैले हुए है। नन्ददास ने वर्ण-मैत्री के ऐसे भी प्रयोग किये है जहाँ वर्ण-मैत्री द्वारा उत्पन्न सस्वरता में अलग दीख पड़ने वाले शब्द भी संगुफित हो जाते है।

जब दिनमनि श्रीकृष्ण दृगनि तें दूरि भए दुरि।
पसरि परयो अंधियार सकल संसार घुमड़ि घुरि॥[2]

इस छन्द की अन्तिम पंक्ति विशेप ध्यान देने योग्य है। 'पसरि परयो' वर्ण-मैत्री का एक वर्ग है। दूसरा है 'सकल संसार' और तीसरा 'घुमड़ि घुरि'। केवल एक शब्द बाकी बचता है 'अंधियार'। किन्तु कवि का 'संसार' शब्द का प्रयोग उसके स्वर को आत्मसात् करके अपने अनुरूप बना लेता है। इस प्रकार वर्ण-मैत्री की इस शृंखला की यह कड़ी भी उसी में जुड़ जाती है। ऊपर की पंक्ति का भी अपना चमत्कार है। यहाँ प्रत्यक्ष रूप मे वर्ण-मैत्री का कोई भी वर्ग स्थापित नही किया जा सकता। किन्तु कवि ने 'द' वर्ण के प्रयोग द्वारा सारी पंक्ति में स्वर का सन्तुलन बनाए रखने का सफल प्रयत्न किया है।

रासपचाध्यायी में वर्ण-मैत्री का जितना अधिक वैभव दृष्टिगत होता है उतना वर्ण-संगति का नही। ऐसे अनेक स्थल यहाँ मिल जायेंगे जहाँ एक ही वर्ण किसी न किसी रूप मे सम्पूर्ण छन्द मे अनुस्यूत हो किन्तु उसका क्रम सर्वत्र समान ही हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। मुरली-वादन द्वारा गोपिकाओं का आवाहन करने के समय श्रीकृष्ण का मानसिक चित्र प्रस्तुत करते हुए कवि कह रहा है—

---

१. वही, १-१६
२. वही, १-१३

नागर नवल किसोर कान्ह कल-गान कियो अस ।
वाम विलोचन वालन को मन-हरन होइ जस ॥[1]

यहाँ प्रथम पंक्ति में 'क' वर्ण का प्रसार है और दूसरी पंक्ति में कवि एक साथ दो प्रकार का प्रयोग करता है—'वाम विलोचन वालन' और 'विलोचन बालन को मन-हरन'। इनमे से किसको प्रधान माना जाय, किसको अप्रधान, यह पाठक स्वयं निर्णय कर सकता है। किन्तु कवि के कौशल के बारे किसी को सन्देह नहीं है। उक्त दोनों पंक्तियों में वर्ण-संगति का बहुत अंश तक निर्वाह किया गया है। इसी प्रकार का प्रयोग अन्य स्थलों पर भी दृष्टिगत होता है। रास का समापन और जल-क्रीड़ा के आरम्भ का दृश्य है—

इहि विधि विविध विलास विलसि निसि कुंज सदन के ।
चले जमुन जल क्रीड़न व्रीड़न वृन्द मदन के ॥[2]

ऊपर की पंक्ति मे 'विधि विविध विलास विलसि' के साथ स्वर-मैत्री के आधार पर पहला शब्द 'इहि' भी जुड जाता है और 'विलसि निसि' की वर्ण-मैत्री के बारे में कोई अस्पष्टता नहीं है। दूसरी पंक्ति मे वर्ण-संयोजना का अन्य रूप है। किन्तु कवि का उद्देश्य स्वर और लय को रूप देना यहाँ भी सिद्ध है। नन्ददास को विलास का आभास देनेवाली शब्दावली अत्यधिक प्रिय है। उन्होने प्रथम पंक्ति की शब्दावली को कई स्थलो पर विभिन्न रूप में प्रस्तुत किया है। रास का ही एक अन्य दृश्य है—

बैठे तँह सुन्दर सुजान सब गुननिधान हरि ।
बिलसत बिबिध बिलास रास रस अति हुलास भरि ।[3]

यहाँ पर कवि का वर्ण-योजना-कौशल अपने चरमबिन्दु पर है। चाहे आप किसी भी रूप मे उसे पढ़ लें किन्तु उसकी सस्वरता एवं माधुर्य में सन्देह नही किया जा सकता। इस प्रकार नन्ददास ने वर्ण-मैत्री एव वर्ण-सगति की योजना में स्वर और व्यंजन—दोनो का उपयोग किया है।

वर्ण-योजना द्वारा संगीत-सृष्टि के उदाहरण भी 'रासपंचाध्यायी' मे उपलब्ध हो जाते हैं। यह केवल इसलिए नहीं कि प्रस्तुत रचना में रास का वर्णन है किन्तु रास से इतर स्थलों पर भी कवि ने भाषा को संगीतात्मक बनाने का प्रयास किया है। इस प्रकार के प्रयास में सबसे अधिक सहायता अनुस्वरात्मक, ध्वन्यात्मक और नादात्मक शब्दों द्वारा प्राप्त हुई है। गोपियाँ मुरली का वादन सुनकर श्रीकृष्ण के पास जा रही है किन्तु मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। इन बाधाओं को स्वर के आघात-प्रतिघात से यहाँ स्पष्ट किया गया है—

सुनत चलीं ब्रजवधू गीत-धुनि को मारग गहि ।
भवन भीति द्रुम कुंज पुज कितहूँ अटकीं नहि ॥[4]

१. वही, १-४८
२. वही, ५-२५
३. न० ग्रं०, पृष्ठ ३२
४. रा० पं०, १-४६

प्रथम पंक्ति 'गीत-धुनि' के मार्ग की विशदता का अनुकरण करती है। किन्तु दूसरी पंक्ति की वर्ण-योजना समतल नहीं है। महाप्राण शब्द 'भ' से आरम्भ होकर फिर 'वन' इन कोमल वर्णों की योजना है। उसके बाद यही क्रम 'भीति' में दोहराया गया है। स्पष्ट है कि स्वर का उत्थान विघ्न और पतन उनकी समाप्ति का सूचक है। गोपियाँ एक बाधा पारकर आगे बढ़ती है तो दूसरी बाधा उनके सम्मुख आ उपस्थित होती है और यह क्रम 'पुंज' शब्द तक चलता है। और 'कितहूँ' शब्द के अन्तिम वर्ण का खिचाव एक ओर बाधा के विस्तार का सूचक है और दूसरी ओर अन्तिम व्यवधान की सूचना देता है। 'अटकी नहिं' मे मार्ग की सहजता और गोपियो की दृढ़ता की व्यंजना है। तात्पर्य यह कि कवि ने स्वर के आरोह-अवरोह की सहायता से भाषा को संगीत का रूप दिया है तथा भाव को अधिक ग्राह्य एवं सरस बना दिया है। एक अन्य बात की ओर यहाँ ध्यान जाता है। वह यह कि कवि ने बाधाओं के रूप का भी सकेत कर दिया है—भवन, भीति, द्रुम और कुंज-पुंज। अनुस्वरात्मक शब्दों का यहाँ सीमित प्रयोग दृष्टिगत होता है।

ध्वन्यात्मक शब्दो के आधार पर संगीत उत्पन्न करने का विशेष अवसर नन्ददास को कृष्ण-गोपी-मिलन के अवसर पर मिला है। गोपियाँ एक-एक करके श्रीकृष्ण के सम्मुख उपस्थित हो रही हैं। उस समय का वर्णन है—

झुनक मुनक पुनि छबिलि भाँति सब प्रगट भई जब।
पिय के अंग अंग सिमिटि मिले, छबिले नैनन तब ॥[1]

यहाँ दो ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'झुनक मुनक' गोपियों की पद गति के सूचक हैं जो नूपुर धारण कर 'झुन-मुन' करती चली आयी है। 'झुनक मुनक' शब्द विशेष रूप से नूपुर-झंकार की ही ध्वनि देता है। अन्य आभूषणो के सूचक ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग नन्ददास ने अन्यत्र किया है। 'सिमिटि' शब्द ध्वन्यात्मक नही है पर फिर भी इसका महत्त्व है। नूपुरों से निकलते हुए स्वर को सुनने के लिए सावधान हो आए नेत्रों का चित्र यह खीच देता है।

उक्त तीनों प्रकार के अनुस्वरात्मक, ध्वन्यात्मक और नादात्मक शब्दों का प्रयोग रास के प्रसंग मे बहुत अधिक हुआ है। इन शब्दों के प्रयोग के आधार पर कलाकार नन्ददास ने आभूषण, वाद्य-यन्त्र की ध्वनि और संगीत उत्पन्न करने के अतिरिक्त नृत्य की पदगति, ताल और स्वर के साथ-साथ पक्षियों के मधुर-स्वर का भी परिचय कराया है। आभूषणो और वाद्य-यन्त्रों द्वारा उत्पन्न संगीत का भँवर की गुञ्जार के साथ अत्यधिक सुन्दर समन्वय निम्न पंक्तियों मे प्रस्तुत किया गया है—

कल किंकिनि गुंजार तार नूपुर बीना पुनि।
मृदुल मुरज टंकार भँवर झंकार मिली धुनि ॥[2]

प्रत्येक आभूषण और वाद्य-यन्त्र का अपना सगीत और स्वर होता है। कवि ने

---

१. वही, १-६७
२. नं० ग्रं०, पृष्ठ २७

इस बात का ध्यान सर्वत्र रखा है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता किन्तु विभिन्न प्रकार की ध्वनियों को समवेत रूप में यहाँ उपस्थित किया गया है। किंकिनि गुंजार' में स्वर-विरोध है। पर इस प्रकार विरोध सर्वत्र नहीं है। कवि ने प्रायः वाद्य-यन्त्रों के अनुरूप स्वर-सूचक शब्दों का प्रयोग किया है।

मृदुल मुरज टंकार तार झंकार मिली पुनि।
मधुर जंत्र की सार भँवर गुंजार रली पुनि॥[1]

संगीत-सृष्टि के अनुरूप नृत्य के चित्रों में नादात्मक शब्दों का प्रयोग अत्यधिक अवसरानुकूल बन पड़ा है।

तैसिय मृदु पद पटकनि चटकनि कठतारन की।
लटकनि भटकनि झलकनि कल कुंडल हारन की।[2]

प्रस्तुत छन्द में वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि के अनुरूप पदगति, शरीर-संचालन और हस्त-क्षेपण का आभास शब्दों की नादात्मकता द्वारा दिया गया है। इस प्रकार से अनुस्वरात्मक, ध्वन्यात्मक और नादात्मक वर्णों का प्रयोग उमंग-उल्लास को सूचित करने वाले अवसर के समय सर्वथा उपयुक्त कहा जायेगा।

वर्ण-योजना के द्वारा अर्थ-सौरस्य-सिद्धि के उदाहरण 'रासपंचाध्यायी' के उस प्रसंग मे विशेष रूप मे उपलब्ध होते हैं जहाँ गोपियाँ अन्तर्धान हुए श्रीकृष्ण को ढूंढने की चेष्टा में एक-एक वृक्ष से उनका पता पूछ रही हैं। ऐसे अवसर पर वर्ण-योजना के द्वारा उन्होंने प्रकृति के साथ केवल तादात्म्य स्थापित नही किया है वरन् उस परिगणनात्मक वर्णन को सजीव भी बना दिया है। मुक्ता-बेलि से गोपियाँ पूछ रही हैं—

हे मुकताफल बेलि! धरें मुकता-मनि-माला।
देखे नैन बिसाल मोहनै नंद के लाला॥[3]

ऊपर से देखने मे ये पंक्तियां साधारण-सी लगती है। किन्तु यदि 'मुक्ता' शब्द के दुहरे प्रयोग पर ध्यान दिया जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि किसी अन्य के बारे में हमे पहचान भले ही न हो किन्तु जो हमारी सन्तान है उसे हम कैसे नही पहचानेंगे। अतः मुक्ताफल धारण करने वाली वल्लरी को मुक्ता-माला पहने श्रीकृष्ण के बारे मे पूछा जाना अत्यधिक स्वाभाविक है और वर्ण-योजना के समय कलाकार की कल्पना के सुन्दर विधान का परिचायक है। ऐसी ही शब्दावली का प्रयोग गोपियाँ मंदार और चन्दन वृक्ष के लिये करती हैं—

हे मंदार उदार बीर करवीर महामति।
देखे कहुँ बलवीर धीर मन-हरन धीर गति॥
ए चंदन। दुख कंदन सब कहुँ जरत सिरावहु।
नँदनंदन-जगबंदन-चंदन हमहिं मिलावहु॥[4]

---

१. वही, रासपंचाध्यायी, ५-७
२. वही, ५-८
३. वही, २-८
४. वही, २— ९-१०

प्रस्तुत पंक्तियों में गोपियों ने अवसरानुकूल विशेषणों के प्रयोग द्वारा अपने प्रिय श्रीकृष्ण को पुनः प्राप्त करने के लिए इन पेड़-पौधों से सहायता माँगी है। इसी आशय से वे मंदार को उदार, करवीर को वीर (भाई) और चन्दन को दुख-कंदन शब्द द्वारा सम्बोधित करती हैं। वस्तुतः इन जड़ वनस्पतियों के प्रति इस प्रकार की आत्मीयता स्थापित करने का प्रयत्न उनकी तत्कालीन मानसिक अवस्था का परिचायक है। विरह की इस तीव्रता में जड-चेतन के बीच अन्तर का प्रतीत न होना स्वाभाविक है। क्योंकि अन्तर एव भेद मद, अभिमान या गर्व का सूचक है जो हर्ष, उल्लास-विलास के क्षणों में प्राणी को घर दबाता है। गोपियों की विरहकालीन इस मानसिक अवस्था का परिचय नन्ददास ने प्रसंग आरम्भ होने से पूर्व ही दिया है।[1]

वर्ण-योजना द्वारा अर्थ-सौरस्य की ऐसी सृष्टि नन्ददास ने रास-भूमि के प्राकृतिक-सौन्दर्य का वर्णन करते समय की है। यद्यपि यहाँ परिगणन का प्रभाव अधिक है पर अर्थ-सौरस्य के कुछ उदाहरण भी उपलब्ध हो जाते हैं।

इत महकति मालती चारु चंपक चित चोरत।
इत घनसार तुसार मलय मंदार झकोरत॥[2]
इत तुलसी छवि हुलसी छांडति परिमल लपटैं।
इत कमोद अमोद गोद भरि भरि सुख दवटैं॥[3]

यह प्रसंग उल्लास का प्रसंग है—रतिभाव के उद्दीपक वातावरण की सृष्टि का प्रसंग है। अतः यहाँ प्रयुक्त विशेषण विरही गोपियों द्वारा प्रयोग किए गए विशेषणों से सर्वथा भिन्न है। प्रत्येक विशेषण अपनी मादकता, मोहकता और आह्लाद के प्रसार द्वारा वातावरण को मधुमय बना रहा है। इसी का परिणाम है कि चपक 'चित चोरत' है और मंदार मन 'झकोरत' है। दूसरी ओर 'छवि हुलसी' तुलसी खड़ी है और 'कमोद की गोद' आमोद से भरी है। यद्यपि 'रासपंचाध्यायी' मे प्राकृतिक-सौन्दर्य का वर्णन करने के अन्य अवसर नन्ददास को प्राप्त हुए है किन्तु वहाँ वे इस प्रकार की वर्ण-योजना द्वारा प्रसंग को सजीव नही बना पाये हैं। परिगणन उसका एक कारण है और प्रकृति के अलौकिक रूप को सामने लाने का प्रयत्न दूसरा। वृन्दावन-शोभा-वर्णन ऐसा ही प्रसंग है। किन्तु जहाँ अर्थ-सौरस्य की ओर तनिक भी ध्यान दिया गया वहाँ लय और अर्थ-सौरस्य का समवेत रूप सामने आता है।

अमृत फुही सुख गुही अति सुही परति रहति नित।
रास रसिक सुंदर पिय को स्रम दूर करन हित॥[4]

यहाँ कवि ने अलौकिकता को नही छोड़ा है परन्तु अमृत की फुहार के लिए

---

१. ह्वै गईं बिरह बिकल तव बूझत द्रुम बेली-बन।
को जड़ को चैतन्य कछु न जानत बिरही जन॥ वही, २-५

२. वही, १-९२

३. वही, १-९४

४. वही, १-२८

'सुख गुही' का विशेषण 'स्रम दूर करन' के सन्दर्भ में बहुत उपयुक्त है।

वर्ण-योजना के इस प्रसार के परिणामस्वरूप शब्दालंकारों का समावेश 'रास-पंचाध्यायी' में अनायास हो गया है। यद्यपि अनुप्रास के विविध रूपों की यहाँ प्रधानता है किन्तु पुनरुक्ति, यमक और वीप्सा अलंकारों के उदाहरण भी उपलब्ध हो जाते हैं।

पुनरुक्ति—

१. वीचि-वीचि में कटु अम्ल तिक्त अतिसय रुचिकारी।[1]

२. कामधेनु पुनि कोटि-कोटि बिलुठत रज माँही।[2]

यमक—

१. मानहुँ करतल फिरत लट्टू लखि लट्टू होत पिय।[3]

२. जहँ पिय सुसुम कुसुम लै सुकर गुही है वेनी।[4]

३. तहँ राजत नँदनंद कंद कंदर्प-दर्प-हर।[5]

वीप्सा—

१. कुहुकि-कुहुकि मनो नाचत मंजुल मोर भर्‌यो रस।[6]

इस प्रकार स्पष्ट है कि रासपंचाध्यायी' वर्ण-योजना की दृष्टि से अत्यधिक सफल रचना है। भावाभिव्यंजना के अनुरूप भाषा का निर्माण, भाषा में लय और संगीत, अर्थ-सौरस्य और भाषा का अलंकरण—सभी इस रचना की वर्ण-योजना के लक्ष्य है। वर्ण-योजना द्वारा भाषा की यह सरसता भावों की अभिव्यंजना मे अत्यधिक सहायक हुई है।

रुक्मिणीमंगल—वर्ण-योजना की दृष्टि से नन्ददास की यह रचना भी सुन्दर है। यह सत्य है कि इसमें वर्ण-योजना का वैसा प्रसार नही है जैसा कि 'रासपंचाध्यायी' में लक्षित होता है किन्तु वर्ण-योजना की दृष्टि से इस रचना का योग कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह आगे के निरूपण से स्पष्ट हो जायेगा कि 'रुक्मिणीमंगल' एक कथात्मक काव्य है। इस कारण कवि का ध्यान कथा के विकास पर भी रहा है। 'रासपंचाध्यायी' मे वर्ण-योजना के लिए उसे जितना अवसर प्राप्त हुआ था, उतना यहाँ प्राप्त नही हो सका। लेकिन जहाँ अनुकूल अवसर उपस्थित हुए है वहाँ उसने वर्ण-योजना सम्बन्धी अपनी कला का पूर्ण प्रदर्शन किया है।

रचना के आरम्भ मे 'मिटै जम त्रास, वास हरि के पद' कहकर नन्ददास ने कथा की महत्ता से पाठक को परिचित कराया है। उसके तुरन्त बाद ही स्तब्ध रुक्मिणी का चित्र प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है—

---

१. वही, २-१
२. वही, ५-२
३. वही, ५-१२
४. वही, २-२४
५. नं० ग्रं०, पृष्ठ २५
६. वही, पृष्ठ २७

चकित चहूँ दिसि चहति, बिछुरि मनु मृगी मालतें ।
भयौ वदन कछु मलिन, नलिन जनु गलित नालतें ॥[1]

वर्ण-मैत्री का यह सुन्दर उदाहरण है। प्रथम पंक्ति मे वर्ण-मैत्री के दो वर्ग है—'चकित चहूँ दिसि चहति' और 'मनु मृगी माल'। इसी प्रकार दूसरी पंक्ति में 'मलिन-नलिन' का प्रयोग वर्ण-मैत्री का स्पष्ट परिचायक है किन्तु उसके साथ 'गलित' को भी इस वर्ग में सयुक्त करने का प्रयत्न किया गया है। वर्ण-मैत्री और वर्ण-संगति के प्रसार का अवसर कवि को द्वारकापुरी के वर्णन में प्राप्त हुआ है। वहाँ के उद्यान-वर्णन मे कवि ने वर्ण-योजना से ही भाषा को सरस बनाया है—

ललित-लतनि की फूलनि, भूलनि अति छबि-छाजैं ।
जिन पर अलि वर बाजैं मधुरे जंत्र से बाजैं ।[2]

यहाँ कवि की प्रथम पंक्ति विभिन्न वर्ग की वर्ण-मैत्री से सजी है। 'ललित-लतनि' एक वर्ग है, 'लतनि की फूलनि भूलनि' दूसरा वर्ग है और 'छबि-छाजैं' मे तीसरा वर्ग है। प्रथम दो वर्ग समान शब्द से परस्पर सम्बद्ध हैं। अन्तिम पंक्ति मे भी कवि बाजै को राजै के अनुरूप प्रस्तुत कर सस्वरता की वृद्धि करता है। स्वर-साम्य के आधार पर लय-सृष्टि का यह उदाहरण वर्ण-मैत्री का सुन्दर परिचायक है—

कुंज-कुंज प्रति पुंज भँवर गुंजत अनुहारे ।
मनु रवि-डर तम भजे तजे रोवत हैं बारे ।[3]

कवि की कल्पना यहाँ दो रूपों में कार्य कर रही है। प्रथम पंक्ति के द्वारा उसने लय की सृष्टि की और दूसरी पंक्ति मे अप्रस्तुत योजना द्वारा एक सादृश्य प्रस्तुत किया है। वर्ण-संगति की दृष्टि से ये पंक्तियाँ सुन्दर हैं—

खान पान, बहु मान, पान निज पानि खवाये ।
कहौ कहाँ ते आये, बोले बचन सुहाये ॥[4]

वर्ण-योजना द्वारा भाषा को संगीतात्मक बनाने के उदाहरण भी इस काव्य में उपलब्ध हो जाते है। ऐसे एक स्थल पर अनुस्वरात्मक और ध्वन्यात्मक वर्णो के प्रयोग से संगीत की सृष्टि की गई है—

किधौं कमल-मंडल मैं अमल दिनेस बिराजैं ।
कंकन, किंकिनि, कुंडल करन महा छबि छाजैं ।[5]

किन्तु इस प्रकार के ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग बहुत सीमित है। यहाँ तक कि रुक्मिणी-सौन्दर्य के वर्णन मे भी कवि ने इनका प्रयोग नहीं किया है। इसकी अपेक्षा केवल अनुस्वरात्मक शब्दों के द्वारा संगीत-सृष्टि के अधिक उदाहरण प्राप्त होते है।

---

१. नं० ग्रं०, रुक्मिणीमंगल, ४
२. वही, ३०
३. रुक्मिणीमंगल, ३४
४. वही, ५१
५. वही, ४६

श्रीकृष्ण द्वारा ब्राह्मण की वन्दना-सम्बन्धी इस पंक्ति में—

उठि नंदनंदन, जगवंदन, पगवंदन करि कै।[1]

केवल अनुस्वरात्मक वर्णों द्वारा उत्पन्न संगीत है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-वर्णन के समय कही गई ये पंक्तियाँ श्रवणों में संगीत-लहरी का पूर्ण आभास देती है—

ललित लसै सिर पागु तकै तक तँह तँह मुरझै।[2]

अथवा

कोउ श्रवननि कुंडल मंडल चंचल जोती।[3]

नादात्मक वर्णों का प्रयोग अधिक नही है। वस्तुतः ऐसे वर्ण नृत्य आदि का वर्णन करने के लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध होते है। फिर भी कवि ने रुक्मिणी के अश्रु-मोचन के समय इस प्रकार के वर्णो का प्रयोग किया है—

टप-टप टप-टप टपकि नैन सों अँसुआ दरहीं।
मनु नव नील कमल-दल तें भल मुतिया झरहीं॥[4]

वर्ण-योजना द्वारा अर्थ-सौरस्य की सिद्धि अनेक अवसरों पर लक्षित होती है। रुक्मिणी सब कुछ सोच-विचारकर द्विज के हाथ श्रीकृष्ण को पत्र भेजने का निश्चय करती है। उस पत्र मे क्या लिखा गया, यह न बताते हुए भी कवि ने वर्ण-योजना के सहारे उसके आशय का आभास दिया है—

इहि विधि धरि मन धीर चीर अंसुवन सिरायकै।
लिख्यो पत्र सु विचित्र चित्र रुक्मिनी बनायकै॥[5]

इस छन्द में पत्र के लिए प्रयुक्त विचित्र और चित्र विशेषणों का प्रयोग उसे अर्थ-सौरस्य प्रदान करता है। पत्र विचित्र है क्योंकि उसका विषय साधारण नही है। रुक्मिणी की विचित्र अवस्था का संकेत भी इससे मिलता है। भाई की ज़बरदस्ती और हृदय की आसक्ति दोनो ने मिलकर हृदय मे एक द्वन्द्व खड़ा कर दिया। यह सत्य प्रकाशित करने के लिए रुक्मिणी ने अपने मन का पूरा चित्र उस पत्र मे प्रस्तुत किया होगा। अतः वह पत्र विचित्र भी है और चित्र भी। आगे श्रीकृष्ण की शोभा प्रस्तुत करने के आशय से कवि ने कहा है—

मनौ छबीली छटा रही थकि सुन्दर घन पर।[6]

यहाँ 'छबीली छटा' की वर्ण-योजना विशेष ध्यान देने योग्य है। छटा शब्द स्वतः शोभा का सूचक है। किन्तु कवि उससे सन्तुष्ट न होकर छबीली शब्द का प्रयोग

---

१. वही, ४८
२. वही, ८६
३. वही, ८९
४. वही, १६
५. रुक्मिणीमंगल, २
६. वही, ९१

करता है। पर इससे उसका कृष्ण-सौन्दर्य पर विमुग्ध मन सन्तुष्ट नहीं होता। इसीलिए 'छवीली छटा रही थकि' का प्रयोग कर देता है। इस प्रकार उसने कृष्ण-सौन्दर्य की अतिशयता का आभास दिया है। रुक्मिणी-हरण के उपरान्त शिशुपाल की दीनतापूर्ण अवस्था का चित्रण करते हुए की गई वर्ण-योजना अर्थ-सौरस्य का दूसरा पक्ष प्रस्तुत करती है।

चपल चखन को काजर वहि मुख कारौ कीनौं।[1]

यहाँ 'चपल' शब्द शिशुपाल की मानसिक अवस्था का पूर्ण चित्र सामने ले आता है। निराश, अपमानित, तिरस्कृत होकर भी उसका मन स्थिर नहीं है। आँसू बहकर उसके मुँह को काला कर रहे हैं पर नेत्रों में उत्सुकता है—आशा है कि अभी कोई मेरी साध का साधन ढूँढ निकालेगा।

'रुक्मिणीमंगल' की वर्ण-योजना शब्दालङ्कारों की सृष्टि मे अधिक सफल हुई है। यद्यपि अनुप्रास की प्रधानता यहाँ भी है, पर पुनरुक्ति, यमक और वीप्सा के अच्छे उदाहरण मिल जाते हैं।

पुनरुक्ति—

१. सुभग कुसुम की माल सखी जब जब गुही लावैं।[2]
२. जगमग जगमग ज्योति होति रवि ससि सों अरई।[3]
३. वगर वगर सब नगर रहीं नव गुड़ी उड़ी छवि।[4]
४. मंद मंद पग धरै चंदमुख किरन विराजै।[5]

यमक—

१. पति परिहरि हरि भजत भई गोकुल की गोपी।[6]
२. बसन-छोरि तै छोरि, विप्र श्रीधर कर दीनों।[7]
३. माँखिन-आँखिन-धूरि-पूरि मधुहा मधु जैसे।[8]

वीप्सा—

१. उर थर थर अति कंपत जपत जब कुँवर कन्हाई।[9]
२. जरि-मरि धरि-धरि देह न पैहौं, सुन्दर हरि वर।[10]

---

१. वही, १२६
२. वही, ६
३. वही, ३५
४. वही, ३८
५. वही, १०७
६. वही, २२
७. वही, ५२
८. वही, ११६
९. वही, १३
१०. वही, ७०

'रुक्मिणीमंगल' की वर्ण-योजना सम्बन्धी चर्चा से यह स्पष्ट है कि कथात्मक काव्य होने के कारण इस रचना में भाषा-लालित्य एवं संगीत का अधिक विस्तार तो नहीं हो सका है किन्तु नन्ददास की रचनाओं में वर्ण-योजना की दृष्टि से 'रुक्मिणीमंगल' का अपना स्थान है। यदि वर्णन के अवसर यहाँ और अधिक होते तो शायद प्रस्तुत रचना की भाषा में कवि और अधिक निखार ला सकता था। इस बात की पुष्टि 'पदावली की वर्ण-योजना पर विचार करने से स्पष्ट हो जायेगी।

पदावली—इसमें ऐसे अनेक प्रसङ्ग हैं जिनमें कवि भाषा की अलंकृति द्वारा सौन्दर्य का विस्तार कर सका है। जन्मोत्सव, रास, झूलन, होरी—ऐसे ही प्रसङ्ग हैं। इनके अतिरिक्त अन्य प्रसङ्गों में भाव-व्यंजना की विशदता पर विशेष बल है, भाषा के अलङ्करण पर नहीं। हाँ, उसकी कोमलता और माधुर्य सर्वत्र है। 'पदावली' के कुछ पद नन्ददास की आरम्भिक रचनाएँ है। इन पदों में भी भाषा की वह प्रौढ़ता दृष्टिगत नहीं होती जो रास, जन्मोत्सव सम्बन्धी पदों की भाषा में है।

श्रीकृष्ण का जन्म सम्पूर्ण गोकुल में हर्ष का सञ्चार कर देता है। उसी प्रसङ्ग के वर्णन में कवि की उक्ति है—

परम धाम, जग-धाम स्याम अभिराम श्री गोकुल आए।
'नंददास' आनंद भयो ब्रज हरषित मंगल गाए।[1]

सम्पूर्ण प्रथम पंक्ति को एक ही स्वर में ढालकर नन्ददास ने प्रस्तुत किया है। इस स्वर-साम्य से भाषा में प्रवाह और लय दोनों का समावेश हुआ है। वर्ण-मैत्री के इस प्रकार के उदाहरण 'पदावली' में विरल नही हैं। हर्ष के इस माङ्गलिक अवसर पर वाद्य-यन्त्रों का बजना स्वाभाविक है। कृष्ण की अलौकिकता के कारण राग-रागिनियाँ भी उस वातावरण में उमङ्ग का प्रसार करने में सहयोग देती हैं।

आनन्द घन ज्यों गाजत राजत बाजत दुंदभि भेरी।
राग-रागनी गावत हरषत, बरषत सुख की ढेरी॥[2]

वर्ण-मैत्री का प्रसार दोनो पंक्तियों में लक्षित होता है। वर्ण-योजना द्वारा वाद्य-यन्त्र-स्वर का आभास भी यहाँ दिया गया है।

जन्म के बाद झूलन के प्रसङ्ग मे वर्षा का वर्णन लीजिए। कवि ने घटनाओं के गर्जन और भामिनी के चौंकने को वर्ण-मैत्री के आधार पर अत्यधिक सजीव रूप में प्रस्तुत किया है।

आगम गहरि, गहरि गरजन सुनि, चौंकत औचक बालसलौनी।[3]

यहाँ वर्ण-मैत्री द्वारा भाषा के लालित्य के अतिरिक्त अर्थसौरस्य को भी प्रस्तुत किया गया है। 'गहरि गरजन' के सन्दर्भ मे 'चौंकत औचक' का प्रयोग बहुत उपयुक्त है। इस प्रकार के उदाहरण होरी के प्रसङ्ग में भी उपलब्ध होते है। इसी प्रसङ्ग में

---

१. नं० ग्रं०, पदावली, २३
२. वही, पद २६
३. वही, पद १४६

वर्ण-संगति का निम्न उदाहरण लिया जा सकता है—

नव-गुन, नवल-रूप, नव-जोवन, नवल-नेह हुलसाइ ।[1]

यह सत्य है कि वर्ण-मैत्री का जितना प्रयोग नन्ददास ने अपने काव्य में किया है उतना वर्ण-संगति का नहीं । सम्पूर्ण ग्रन्थावली में शायद ही ऐसी कोई पंक्ति हो जिसमें एक वर्ण सभी शब्दों में समान रूप में छाया हुआ हो । किन्तु ऊपर उद्धृत पंक्ति से यह नितान्त स्पष्ट है कि कभी-कभी नन्ददास ने ऐसी शब्द-क्रीड़ा करने का प्रयास किया है । श्रोर सत्य तो यह है कि भाषा की सस्वरता में वर्ण-मैत्री का योगदान वर्ण-संगति से किसी प्रकार कम नहीं है ।

वर्ण-संगीत की योजना कवि ने रास और होली के वर्णन मे की है । भाषा मे संगीत का स्वर लाने के लिए पिछली रचनाओं के समान ही अनुस्वरात्मक, ध्वन्यात्मक और नादात्मक शब्दों का प्रयोग एक साथ और अलग-अलग किया गया है । तीनों प्रकार के वर्णो का एक साथ प्रयोग फाग-उत्सव के इस वर्णन में देखा जा सकता है—

सखी पंग, आवज, सुर-वीन, अनाघात गति बाजहीं ।
सखि ताल मृदंग उपंग, रुंज, मुरज, डफ गाजहीं ।।[2]

फाग का उत्सव उल्लास का उत्सव है । रङ्ग और राग दोनो का जैसा मिश्रण इस उत्सव में दृष्टिगत होता है वैसा अन्यत्र नही । वर्ण-संगीत के अवसर राग के समय उपस्थित होते हैं किन्तु रङ्ग के खिलाड़ियों का शोर भी संगीतमय वातावरण से कम नही है । वर्ण-योजना द्वारा उसे संगीत के अनुरूप बनाया जा सकता है । नन्ददास का फाग-वर्णन इस तथ्य का सुन्दर उदाहरण है ।

सुर-मंडल, किन्नरी, झाँझ, डफ, बाजत अति रङ्ग झीने ।
बिच बिच बजत बँसुरिया सबकों नेह पाग बल कीने ।।
बाजत चट सौं पटरी तारन ग्वारन गावत संग ।
नाचत है मधु मंगल हँसि-हँसि सुन्दर बाढ्यो रंग ।।
कुंकुम, चन्दन वन्दन केसर सारव, मृग-मद घोरी ।
छवि सों छबिलों, छोरत डोलत, बोलत हो हो होरी ।।[3]

कुछ स्थलों पर तो कवि ने मनुष्य, वाद्य-यन्त्र और पक्षियो के संगीत का अद्भुत संयोग उत्पन्न किया है । नृत्य करते पुरुष-युवतियो के आभूषणों और वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि के साथ पक्षी अपना मधुर संगीत मिला देते हैं और इस प्रकार जिस संगीत-मय वातावरण की दृष्टि होती है वह अपूर्व है । उसे सुनकर ऐसा कौन होगा जो मस्ती से झूम न उठे । होली के वातावरण का इतना सजीव रूप नन्ददास की उत्कृष्ट कला का परिचायक है ।

---

१. वही, पद १८३
२. वही, पद १७८
३. वही, पद १८२

केकी, कीर, कल गुन-गम्भीर पिक, डफ, मृदंग धुनि कर मंजीर ।
पग-मंजीर, कर लै अबीर, केसर की तीर, छिरकत हैं चीर ॥[1]

भाषा की इतनी सरसता और प्रवाहशीलता देखकर नन्ददास के कलाकार रूप के सम्बन्ध में कौन सन्देह करेगा । एक-एक शब्द मृदङ्ग की थाप का अनुसरण करते हुए आगे बढ़ता है । रास का प्रसङ्ग इसी प्रकार के सामूहिक उल्लास का प्रसङ्ग है । किन्तु वहाँ वर्ण-योजना मृदङ्ग की थाप से कहीं अधिक नृत्य-गति को ध्यान में रखते हुए की जाती है । नन्ददास पद-गति के साथ वर्ण-संगीत की सृष्टि भी करते हैं ।

बाजत अनहद मृदंग ताल बिना गति सुगन्ध
अंग-अंग लग्यो निरखि जग्यो रंग राग री ।
तत्थेइ शब्द करत सकल नृत्य भेद सहित ।
सुलफ सची डरप तिरप लेत नागरी ॥[2]

पहली दो पक्तियों में जहाँ वर्ण-संगीत का विधान करते हैं वहाँ अन्य दो पंक्तियों में नृत्य गति का । अन्तिम पंक्ति की वर्ण-योजना पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि 'सुलफ' शब्द समगति का सूचक है, 'सची' में वर्तमान का आभास है और 'डरप तिरप' में आवर्तन-प्रत्यावर्तन द्वारा मण्डलाकार नृत्य को ध्वनित किया गया है। वर्ण-योजना का सफल प्रयोग स्पष्ट है ।

'पदावली' की वर्ण-योजना में अर्थ-सौरस्य के कई अच्छे उदाहरण उपलब्ध होते है । ऊपर वर्ण-मैत्री के सन्दर्भ मे हमने ऐसे एक स्थल का संकेत किया था । पूर्वानुराग के प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण का मन-हरण करने वाली किशोरी के सम्बन्ध मे बताते हुए नन्ददास कहते है—

चंचल, लै चली री चित चोर ।[3]

'चंचल' शब्द का प्रयोग यहाँ अर्थ की सरसता का वर्धक है । चंचल युवती की सजीवता, नटखटपन और आकर्षण सभी इस एक शब्द से व्यंजित हो जाते हैं । सरल-सीधी भोली बालिका में किसी का चित्त चुराने की सामर्थ्य कहाँ है । वह अपने घर (हृदय) की रक्षा कर ले—वही काफ़ी है । और फिर उस व्यक्ति के चित्त को चुराने के लिए जो 'मन-मोहन' शब्द से प्रसिद्ध है चञ्चल होना अनिवार्य है । चञ्चल शब्द के प्रयोग बिना भी चित्त चोरी की बात कही जा सकती थी किन्तु तब शायद इतनी सजीवता न आ पाती । और यह बात कोई कलाकार ही पहचान सकता था ।

शब्दालंकारों का प्रयोग 'पदावली' की वर्ण-योजना की प्रमुख विशेपता रही है। कवि ने अपने प्रिय शब्दालंकार—अनुप्रास, पुनरुक्ति, यमक और वीप्सा का भाषा-सौन्दर्य-वर्धन के लिए यथावसर प्रयोग किया है । अनुप्रास के उदाहरण देना तो अनावश्यक विस्तार कहा जायेगा । क्योंकि उसका प्रसार सर्वत्र है । अतः यहाँ क्रमशः

---

१. वही, पद १७४
२. वही, पद १२४
३. वही, पद ५६

पुनरुक्ति, यमक और वीप्सा के उदाहरण पर्याप्त होंगे।

पुनरुक्ति—

(क) अंग-अंग राँचे कुंज बिहारी।[1]

(ख) बार-बार फुही बरखावति अंबुद अम्बर छायो।[2]

(ग) जाको जस गाइ-गाइ मुनि भए मगना।[3]

(घ) झूम-झूम रही देखि राधिका।[4]

(च) हीरा रतनन बिच-बिच मानिक पुनि-पुनि मुक्तन भर।[5]

यमक—

(क) लट लुरि लटकि छबीली छवि सो, बेसरि रहि अरुझाई।[6]

(ख) पेंचहू संवारत, पै पेंचहू न आवत।[7]

वीप्सा—

(क) मंगल-कलस निकट दीपावलि, देखि देखि मन भूल्यो।[8]

(ख) मुनि हँसे हेरि हेरि हरि हँसै हर-हर।[9]

ऊपर की गई 'पदावली' की वर्ण-योजना-सम्बन्धी चर्चा से जो बात स्पष्ट होती है वह यह कि नन्ददास की कला का विकास उल्लास सूचित करने वाली लीलाओं के वर्णन में हुआ है। अभी तक हमने जिन रचनाओं की चर्चा की है उनमें ऐसी लीलाओं के वर्णन की प्रधानता दृष्टिगत होती है। 'सिद्धान्तपंचाध्यायी' मे रास-प्रसङ्ग का आधार कवि ने स्वीकार किया है किन्तु वहाँ उसका उद्देश्य सिद्धान्त की व्याख्या रहा है। विचार की प्रधानता के कारण भाषा की सरसता की ओर कवि का ध्यान अधिक नही जा सका है। यही बात हम 'भँवरगीत' के बारे मे कह सकते है। 'भँवरगीत' में तो तर्क-वितर्क, उपालम्भ और गोपियों की व्यथा व्यक्त करने की चेष्टा इतनी अधिक है कि वहाँ कवि या तो तर्क के अनुकूल शब्द ढूँढता रहा है या फिर व्यंग्य और व्यथा की अभिव्यक्ति के लिए अवसर खोजता रहा है। इसी प्रकार 'रूपमंजरी' मे कवि ने उपासना-पद्धति अर्थात् प्रेमतत्त्व की व्यंजना और कथा-विस्तार की ओर ध्यान दिया है। 'रसमंजरी' में काव्यत्व रसशास्त्र के आगे झुक गया है। 'विरहमंजरी' भी बहुत कुछ परम्परा-पालन होने के कारण भाषा की दृष्टि से कवि का ध्यान नही खीच सकी है।

---

१. वही, पद ६१
२. वही, पद २३
३. वही, पद ४०
४. वही, पद १११
५. वही, पद १४२
६. वही, पद १८३
७. वही, पद ९९
८. वही, पद २६
९. वही, पद ११६

शेष सभी ग्रन्थ केवल कथा कहनेवाले अथवा कोषग्रन्थ हैं। अतः वर्ण-योजना के लिए हमारा तीन ग्रन्थों पर झुकना स्वाभाविक है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि कवि की वर्ण-योजना सम्बन्धी कला अन्य रचनाओं में दृष्टिगत नहीं होती। इन रचनाओं में लिये गये कुछ उदाहरणों से हमारा यह आशय स्पष्ट हो जायेगा।

वर्ण-मैत्री और वर्ण-संगति—

१. नीरस विषय-विलास छिया करि छाँड़ि दये हैं।[1]

२. सब रस को निर्त्तास रास-रस कहिये सोई।[2]

३. अकथ कथा मनमथ विथा तथा उठी तन आगि।[3]

वर्ण-संगीत—

१. मनिमय नुपुर कंकन किंकिनि के झंकारा।[4]

२. घनन घनन घंटागन करें।[5]

अर्थ-सौरस्य—

१. कपट कोटि के परम कुटिल मानुस विषधारे।[6]

२. निपट असंत वसंत, मैन महामय मंत जँह।[7]

शब्दालङ्कार—

१. मास मास के दिवस करि, मास रह्यो नहिं देह।[8]

२. लटकि लटकि ब्रजबाला लाला उर जब फूली।[9]

३. अहो अहो गिरिधर परम उदारा।[10]

उक्त उदाहरण इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि नन्ददास के वर्ण-योजना कौशल के सम्बन्ध में सन्देह नहीं किया जा सकता। उनके विस्तार की अधिकता बहुत कुछ रचना की विषय-सामग्री पर निर्भर करती है।

काव्य-गुण

काव्य-गुणों का भी वर्ण-योजना से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः भावानुरूप अभिव्यंजना के योग्य भाषा का निर्माण काव्य-गुण का ही विषय है। कवि विषय को ध्यान

---

१. श्रीकृष्ण सिद्धान्तपंचाध्यायी, १३७

२. वही, १३

३. नं० ग्र०, रूपमंजरी, दोहा ३८०

४. सिद्धान्तपंचाध्यायी, ४६

५. नं० ग्र०, भाषा भागवत, पृष्ठ २३९

६. भ्रमरगीत, ५८

७. नं० ग्र०, विरहमंजरी, पृष्ठ १४४

८. नं० ग्र०, विरहमजरी, पृष्ठ १५०

९. सिद्धान्तपंचाध्यायी, १३०

१०. नं० ग्र०, रूपमंजरी, पृष्ठ ११०

में रखकर भाव को उद्दीप्त करने एवं ग्राह्य बनाने की दृष्टि से अपनी रचना में प्रसाद, माधुर्य और ओज गुण का समावेश करता है। इन्ही गुणों की पोषक क्रमशः कोमल, मधुरा और परुषा वृत्ति तथा पांचाली, वैदर्भी और गौड़ी रीति अनायास उसके काव्य का अङ्ग बन जाती हैं। प्रसाद गुण का सम्बन्ध किसी भाव-विशेष से नही है। वह सभी भावों में व्याप्त रहता है। उसका कार्य सरलतापूर्वक अर्थ का बोध कराना है। अतः ऐसे शब्द जो सरल और सुबोध हों, वे प्रसाद गुण के व्यंजक माने जाते हैं। अर्थ-बोध की दृष्टि से सभी काव्य-रचनाओं में इस गुण का समावेश होता है, उनका विषय चाहे किसी भाव से सम्बन्धित क्यो न हो। माधुर्य गुण अन्तःकरण को आनन्द से द्रवी-भूत करने वाला गुण है। इस गुण का प्रसार कोमल और मधुर वर्णों द्वारा सम्भव होता है। सभी संयुक्ताक्षर शब्द और कर्णकटु वर्ण माधुर्य गुण-युक्त रचना में स्थान नहीं पाते। रति, करुणा और शान्तभाव की रचनाओ में इस गुण का समावेश विशेष अनु-कूल सिद्ध होता है। ओज चित्त में स्फूर्ति लाने वाला गुण है। इसीलिए माधुर्य के विपरीत द्वित्व, संयुक्त और कठोर वर्णों के समावेश से रचना मे इसका अधिक प्रसार होता है। युद्ध और उत्साह के वर्णन ओजगुण की सहायता से अधिक प्रभावशाली बनाये जा सकते है।

नन्ददास की सभी रचनाओं का प्रतिपाद्य श्रीकृष्ण की मधुर-लीलाओं का वर्णन रहा है। यद्यपि लीलाओ का वैविध्य यहाँ अवश्य है किन्तु उनका मूल रूप किसी प्रकार भिन्न नही है। श्रीकृष्ण के चरित्र की ऐसी लीलाओंको जिनमें उत्साह की प्रधानता है, सामान्यतः नन्ददास की रचनाओं में स्थान नही मिला है। 'रुक्मिणीमंगल' में रुक्मिणी-हरण का प्रसङ्ग और भाषा-भागवत में असुर-मर्दन तथा गोवर्धन-धारण मे अवश्य उत्साह की झलक देखी जा सकती है। इनके अतिरिक्त कवि ने कहीं भी मधुर भाव को नहीं छोड़ा। अतः स्पष्ट है कि उसकी रचनाएँ माधुर्य गुणप्रधान रचनाएँ है। कोमलकान्त-पदावली उसे अत्यधिक प्रिय रही है। इसी कारण उसने अपनी भाषा को सर्वत्र मधुर बनाने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में नन्ददास अत्यधिक सजग हैं। उन रचनाओं में भी जिनमें उन्होंने सिद्धान्तों की व्याख्या की है, भाषा के माधुर्य की रक्षा की गई है। निम्न पंक्तियों में प्रेम-मार्ग का सरस प्रतिपादन हमारे आशय का पोषक है—

> ज्ञान बिना नहिं मुकति इह जु पंडित गन गायो।
> गोपिन अपनो प्रेम-पंथ न्यारोइ दिखरायो॥[1]

इस प्रकार की चर्चा में तत्सम शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक हो जाता है किन्तु नन्ददास ने सयुक्ताक्षर 'मुक्ति' की अपेक्षा 'मुकति' का प्रयोग अधिक उपयुक्त माना है। ऐसे उदाहरण 'भँवरगीत' में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते है। ज्ञान के प्रचारक उद्धव का कायाकल्प तब पूर्ण हो जाता है जब उनकी भाषा में भी मधुरता का समावेश लक्षित होता है—

---

१. सिद्धान्तपंचाध्यायी, ३८

कबहुँ कहै गुन गाय स्याम के इन्हैं रिझाऊँ ।
प्रेम-भक्ति तौ भले स्याम सुन्दर को पाऊँ ॥
जिहि किहि विधि वे रीझहीं सो हौं करौं उपाय ।
जातें मो मन सुद्ध होइ दुविधा ग्यान मिटाय ॥
पाय रस प्रेम को ॥'[1]

मधुर-भाव के प्रसङ्गों में कहीं-कहीं कवि ने कठोर वर्णों का समावेश किया है। किन्तु उनका संयोजन इस कुशलता से किया गया है कि उनके कारण माधुर्य-गुण को किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचा है। होरी, झूलन और रास के प्रसङ्ग ऐसे ही हैं। इनमें कुछ कठोर वर्णों का प्रवेश बहुत स्वाभाविक रूप में हुआ है। कवि ने उनको दूर करने का कोई प्रयास नहीं किया; और यह उचित भी है। भावोत्कर्ष में जब उनके प्रयोग से कोई बाधा नहीं पड़ती तो भाषा को कृत्रिम बनाना उपयुक्त नहीं है।

हिंडोरे झूलत गिरिधर लाल ।
मधुवन सघन कदंब की डारें झूलन झुकत गुपाल ॥
कंचन खंभ सुभग चहुँ डाँडी पटुली परम रसाल ।
सेत बिछौना बिछौ सु तापर बैठे मदन-गोपाल ॥
ताल मृदंग बजावत जुवती गावत गीत रसाल ।
'नन्ददास' नन्दसुवन-मुरलि-सुर मगन होति ब्रजबाल ॥[2]

रास के पदों में तो मृदंग आदि वाद्य-यन्त्रों की कठोर ध्वनि को साकार करने के लिए इस प्रकार के वर्णों का प्रयोग और भी आवश्यक हो जाता है। अतः कवि ने सभी प्रकार के वर्णों को स्वीकार कर उनके द्वारा भावानुरूप भाषा का निर्माण किया है।

ऊपर जिन ओजपूर्ण प्रसङ्गों का संकेत किया गया है उनके परीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नन्ददास ओज-गुणपूर्ण वर्णों की योजना सुचारू रूप से नहीं कर पाये हैं। सम्भवतः उपयुक्त वर्णों का आश्रय लेकर ओजगुण का अनुकूल प्रसङ्गों में समावेश कवि की सामर्थ्य से बाहर है। जहाँ उसने ऐसा प्रयत्न किया भी है वहाँ भाषा प्रभाव-हीन हो गई है। रुक्मिणी-हरण के बाद जरासंध आदि श्रीकृष्ण के पीछे भागते हैं।

जरासिंध तें आदि नृपति सजि-सजि कैं दौरे ।
महासिंह के पाछें कूकत कूकुर बौरे ॥[3]

हमारे विचार से कुत्तों का यदि भौंकना भी दे दिया जाता तब भी वर्णन को कुछ समीचीन कहा जा सकता था और इससे श्रीकृष्ण की अलौकिक शक्ति के परिचय में किसी प्रकार की हानि न पड़ती। पर 'कूकर' का 'कूकना' वर्णन को हास्यास्पद की सीमा से बाहर नहीं ले जा सकता। सम्भवतः ओजपूर्ण शब्दावली का निर्माण करने की साधना नन्ददास ने नहीं की थी। अतः ऐसे स्थलों पर वे भावानुकूल भाषा का

---

१. भ्रमरगीत, ४४
२. नं० ग्र०, पदावली १६२
३. रुक्मिणीमंगल, १२३

निर्माण नही कर सके ।

प्रसाद गुण नन्ददास की रचनाओं मे कही से भी चुना जा सकता है । भाव की स्पष्टता को बनाये रखने में नन्ददास को कोई प्रयत्न नही करना पड़ा । सम्पूर्ण रचनाओं मे से 'रूपमंजरी' का यह दोहा अवश्य 'क्लिष्टपदत्व' दोप से युक्त कहा जायेगा—

गुणि गण गुणाण गणियं मछामगा विहंग मारेहा ।
तिय रस पेम पमाणं जाणं जीघणं जपियं जीहा ॥[1]

अन्यथा उनकी भाषा मे सर्वत्र प्रसाद-गुण का समावेश हुआ है,और इसी प्रसाद-गुण के आधार पर नन्ददास इस प्रकार की स्पष्ट पदावली प्रस्तुत कर सके हैं—

नंद भवन को भूषन माई ।
जसुदा को लाल वीर हलधर को राधारमन सदा सुखदाई ॥
इन्द्र को इन्द्र, देव देवन को, ब्रह्मा को ब्रह्म महा बरदाई ।
काल को काल, ईस ईसन को, वरुन को वरुन महा वरुदाई ॥
सिव को धन, संतन को सरवस, महिमा वेद पुरानन गाई ।
'नंददास' को जीवन गिरिधर गोकुल-मंडल कुंवर कन्हाई ॥[2]

सारांश यह है कि नन्ददास ने वर्ण-योजना के आधार पर अपने काव्य मे माधुर्य और प्रसाद गुण का समावेश किया है । यद्यपि ओजगुण के अनुकूल प्रसङ्गों का नन्ददास की रचनाओ मे प्रायः अभाव है किन्तु जहाँ ऐसा अवसर उपस्थित हुआ है वह ओजपूर्ण शब्दावली का निर्माण नही कर सके हैं । इस दोप का बहुत कुछ समाहार नन्ददास ने भाषा में द्रुत लय उत्पन्न करके किया ।

शब्द-शक्ति

शब्द के अर्थ का ज्ञान कराने वाली शक्ति को शब्द-शक्ति नाम दिया गया है । कविता मे प्रत्येक शब्द सार्थक हुआ करता है । किन्तु उसका अर्थ-ज्ञान कभी सीधे ढग से हो जाता है और कभी कुछ जोड़-तोड़ करनी पड़ती है । जहाँ शब्द का अर्थ सीधे ढग से स्पष्ट हो जाता है वहाँ अभिधा शब्द-शक्ति अपना कार्य करती है । अभिधार्थ से जहाँ सन्दर्भ के अनुकूल अर्थ नही बैठता वहाँ लक्षणा की सहायता ली जाती है और व्यजना अर्थ का ज्ञान हो जाने के बाद सुन्दर अर्थ की प्रतीति कराने मे सहायक सिद्ध होती है । स्पष्ट है कि अभिधा सीधे और सहज अर्थ की प्रतीति का साधन है और लक्षणा-व्यंजना की पद्धति चमत्कारपूर्ण है । किन्तु अर्थ की प्रतीति मे तीनो शब्द-शक्तियों का अपना-अपना महत्त्व है । काव्यशास्त्रियो ने चमत्कारप्रियता के कारण लक्षणा-व्यंजना को शब्द-शक्तियो मे विशेष आदर दिया है पर अभिधा द्वारा स्वाभाविक ढंग से जिस प्रकार भावानुभूति होती है उसको देखते हुए अभिधा के महत्त्व को कौन अस्वीकार करेगा । कई बार तो सीधी-सादी उक्ति इतनी मर्मस्पर्शी होती है कि अनेक

---

१. नं० ग्र०, रूपमंजरी, पृष्ठ १२४
२. नं० ग्र०, पदावली, ५१

चमत्कारिक उक्तियाँ उसके सम्मुख नही ठहर पाती। मीरा के विरह की पीड़ा को क्या विहारी की विरह-सम्बन्धी उक्तियाँ पा सकती है ? अतः कवि का उद्देश्य भावोत्कर्ष होना चाहिए न कि केवल चमत्कार-प्रदर्शन। अलङ्कार भी सौन्दर्यवर्धक हो सकते हैं किन्तु उनको धारण करने में विशेष सावधानी बरतनी पड़ती है और जहाँ भाव सुन्दर है वहाँ सादगी उनको और अधिक ग्राह्य बना देती है। सम्भवतः इसीलिए कालिदास की इस उक्ति—'किमिव हि मधुराणा मण्डनं नाकृतीनां"[1] की सार्थकता है। हमारा विचार तो यही है कि भाव की गहराई तक उतारने में अभिधा शक्ति का योगदान किसी दृष्टि से कम नही है। पर इसके लिए अनुभव की तीव्रता अत्यधिक आवश्यक है। उसके अभाव में अभिधा-शक्ति नीरस काव्य की और लक्षणा-व्यंजना कोरे चमत्कार की सृष्टि करेंगे। अतः हमें भावोत्कर्ष की दृष्टि से ही तीनो शक्तियो के प्रयोग को नन्ददास के काव्य में देखना है।

भाव की स्पष्ट अभिव्यक्ति नन्ददास के काव्य का सबसे पहला उद्देश्य रहा है। इसी आशय से उन्होने काव्य मे विम्ब-योजना का समावेश किया है। विम्ब-योजना उनकी कविता की सबसे बड़ी विशेषता है।[2] सामान्यतः अलङ्कार चमत्कारपूर्ण माने गये है और यह सत्य है कि कल्पना का थोड़ा बहुत चमत्कार अलङ्कारों में सर्वत्र होता है किन्तु साम्य-योजना सभी स्थलों पर चमत्कारपूर्ण नहीं कही जा सकती। अतः वे सादृश्य जिन्हें कि भाव-स्पष्टता के लिए प्रस्तुत किया गया है, अभिधा शक्ति की सीमा से बाहर नहीं किये जा सकते।

अभिधा शक्ति : नन्ददास ने अपनी कविता में लक्षणा और व्यंजना शब्द-शक्ति का भी प्रयोग किया है किन्तु उनकी भावाभिव्यक्ति का प्रमुख आधार अभिधा-शक्ति रही है। नन्ददास के सम्पूर्ण काव्य को मुख्यतः तीन वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) कथापरक स्थल, (२) लीला-वर्णनपरक स्थल, और (३) विचारात्मक स्थल। इनमे से कथापरक स्थलों में अभिधा का ही प्रयोग हुआ है। किन्तु इसके द्वारा भावाभिव्यंजना न होने के कारण इतिवृत्तात्मकता की नीरसता ही उभरकर सामने आयी है। 'रूपमंजरी' जैसे प्रेम-तत्त्व व्यंजक काव्य में भी कथावर्णन सरस नही हो सका है—

> ब्याहन जोग जानि पितु माता। कीन्हेउ मंत्र बोलि सब ज्ञाता॥
> अस कोउ पइये राजकुमारा। ताकों दीजिये इहै बिचारा॥
> करि बिचार निज विप्र बुलायो। बार बार सब विधि समुझायो॥
> अहो विप्र धन लोभ न कीजै। या लाइक नाइक कौं दीजै॥[3]

कथा के विकास मे इतिवृत्त कथन अनिवार्य हो जाता है। किन्तु यह जितना

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, कालिदास, प्रथम अङ्क, श्लोक १८

२. ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति-काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प, डॉ० सावित्री सिन्हा, पृष्ठ १६१

३. नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पृष्ठ १०६

लम्बा होगा उतना नीरसता बढाने वाला सिद्ध होगा। इसीलिए कुशल कवि सङ्केत आदि के द्वारा कथा को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं और जहाँ तथ्य का स्पष्ट उल्लेख आवश्यक हो जाये वहाँ उसे अधिक से अधिक संक्षिप्त रखने का प्रयास करते हैं। किन्तु नन्ददास के काव्य में इस कला-कुशलता का परिचय नही मिलता है।

कथापरक स्थलों की कोटि में 'रसमंजरी' और 'विरहमजरी' के तथ्य-गणनात्मक स्थल रखे जा सकते हैं। क्योंकि भाव-व्यजना के अभाव में केवल तथ्य-परिचय के कारण ये स्थल बोझिल-से प्रतीत होते है। 'विरहमंजरी' मे कवि ने तथ्य-कथन को भाव-व्यंजना के साथ बड़ी कुशलता से मिलाया है। इसीलिए 'रसमंजरी' जैसी नीरसता यहाँ सर्वत्र व्याप्त नही है।

> विपत न बरनी जात, दई जु मास असाढ मोहि।
> औचक आधी राति पीव पीव पपिहा कर्‌यो ॥
> वह दुख वह रजनी ए जानैं। कासौं कहौं कहे को मानै।
> कौनहि भाँति मोर जब भयो। दुख ही मै दुख उपज्यो नयो ॥[1]

यहाँ अभिधा-शक्ति के द्वारा विरहजनित पीड़ा को व्यक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त यह वर्णन बारहमासे के अन्तर्गत होने के कारण वर्षा ऋतु का सङ्केत भी बराबर देता है। और सत्य बात यह है कि वातावरण-चित्रण को ही विरहजनित वेदना को तीव्र रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय है। 'रसमंजरी' मे इस प्रकार के भावपूर्ण स्थलों की सृष्टि की जा सकती थी। किन्तु कवि ने केवल परिचय तक अपने को सीमित रखा है। अन्यथा इस प्रकार के भावपूर्ण स्थलों का वर्णन हमे किसी और शैली मे प्राप्त होता।

> सापराध पिय कों जब लहै। विगि कोप के वचननि कहै।
> जग-निकुंज-पुज मै मोहन। तुम अति अमित भये पिय सोहन ॥
> बैठहु बलि काहे कौं खीजौ। नलिनी दल बिजना करि बीजौ।
> रंचक भौंह करेरी लहिये। सो तिय मध्या धीरा कहिये ॥[2]

यहाँ आशय की सरस व्यंजना की ओर उतना ध्यान नही है जितना कि उसके कथन की ओर। यदि इस प्रकार के प्रसङ्गों मे मानसिक अवस्था की व्यंजना की ओर अधिक ध्यान दिया गया होता तो काव्यत्व की दृष्टि से ये स्थल सुन्दर बन सकते थे।

लीला-वर्णन वाले प्रसङ्गों पर विचार करने से दो बातें स्पष्ट होती हैं। जहाँ भाव को प्रधानता है वहाँ भाषा सरल, स्पष्ट और सरस है किन्तु जहाँ कवि ने विषय को कल्पना के आधार पर और अधिक चमत्कारी बनाने के लिए अप्रस्तुत-योजना का आश्रय लिया है वहाँ भाषा की स्वाभाविकता नही रह पायी है। अप्रस्तुत योजना में भी कवि की प्रवृत्ति दो रूपों में सामने आयी है—(१) विषय या भाव का स्पष्टीकरण करने के लिए बिम्ब-विधान के रूप में, और (२) विषय को अधिक चमत्कारी रूप में

---

१. वही, विरहमंजरी, पृष्ठ १४६
२ नं० ग्रं०, रसमंजरी, पृष्ठ १२६

प्रस्तुत करने की चेष्टा में । प्रथम प्रवृत्ति में हम अभिधा का ही विस्तार मानते हैं । तात्पर्य यह कि वे सभी स्थल जहाँ लक्षणा-व्यंजना का स्पष्ट प्रयोग नहीं है, अभिधा के अन्तर्गत नहीं आ सकते । अभिधा में भाषा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति नितान्त आवश्यक है । जहाँ इस प्रकार की अभिव्यक्ति में तथ्य-कथन की अपेक्षा भाव को सवेद्य बनाने की चेष्टा होती है वहाँ अभिधा शक्ति का उत्कृष्ट प्रयोग हमारे सामने आता है ।

लीला-वर्णन करने वाले ग्रन्थों में 'रासपंचाध्यायी' 'पदावली' और 'श्यामसगाई' का स्थान विशेष है । किन्तु इनके अतिरिक्त 'रूपमंजरी' 'भ्रमरगीत' 'रुक्मिणीमंगल' तथा 'सिद्धान्तपंचाध्यायी' के अनेक स्थल भाव-व्यंजक हैं । अतः अभिधा का विस्तार नन्ददास के इन्हीं ग्रन्थों में लक्षित होता है । 'रासपंचाध्यायी' में दो ही स्थल ऐसे हैं जहाँ भाव-तीव्रता की सम्भावना है—(१) श्रीकृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर विरह-व्यथित गोपियों की अवस्था-चित्रण में, और (२) पुनर्मिलन के अवसर पर गोपियों की आनन्द-दशा के प्रकाशन में ।

इहि विधि वन घन बूझि ढूँढि उन्मत की नाईं ।
करन लगीं मन-हरण-लाल-लीला मन भाईं ॥
मोहन लाल रसाल कि लीला इनहीं सोहैं ।
केवल तनमय भईं कछु न जानति हम कोहैं ॥[1]

ये गोपियो की विरहतीव्रता-व्यंजक पंक्तियाँ है । कवि ने इनमें बहुत स्वाभाविक ढंग से प्रयत्न करके शिथिल हो गई गोपियों की मानसिक अवस्था की ओर सङ्केत दिया है तथा बताया है कि श्रीकृष्ण-प्रेम-तल्लीन गोपियाँ आत्म-सुधि तक भुला बैठती हैं । आत्म-सुधि-विस्मरण का दूसरा अवसर प्रिय की अनुकूलता के समय उपस्थित होता है । ऐसे अवसर पर वे असाधारण प्रिय से अभिन्न हो जाने में तत्पर हो जाती हैं और इस प्रकार सभी दुःखों का उन्मूलन कर डालती हैं ।

सुनि पिय के रस वचन सबनि गँसि छाँड़ि दयौ है ।
बिहँसि आपने उर सों लाल लगाय लियौ है ।
कोटि कलपतरु लसत वसत पद पंकज छाँही ।
कामधेनु पुनि कोटि कोटि विलुठत रज माँही ॥
सो पिय भए अनुकूल तूल कोउ भयो न है अब ।
निरवधि सुख को मूल सूल उनमूल करी सब ॥[2]

कही-कहीं तो रस-अवस्था का यह वर्णन आवश्यकता से भी अधिक स्पष्ट हो गया है । ऐसे प्रसङ्गों को पढ़कर रसिक भक्त भले विकार-रहित रह आनन्दोपलब्धि कर सके किन्तु साधारण पाठक के लिए ये स्थल कामोद्दीपक ही कहे जायेंगे ।

---

१. सिद्धान्तपंचाध्यायी, ७६-७७

२. रासपंचाध्यायी, ५—१-३

विलसत विविध विलास हास नीवी कुच परसत ।
सरसत प्रेम अनंग रंग नव घन ज्यों बरसत ॥[1]

अभिधा शक्ति द्वारा स्वाभाविक और सरस भाव-व्यंजना की दृष्टि से 'पदावली' का महत्त्व विशेष है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। यहाँ लीला के अनेक रूप उभर कर सामने आये हैं और उनमें संयोग-वियोगपरक ऐसे कई स्थल है जो केवल भाव-तीव्रता पर टिके हुए है। ऐसे ही एक स्थल पर नन्ददास ने श्रीकृष्ण की बाल-लीला का अत्यधिक मनोहारी चित्र अभिधा शक्ति के द्वारा प्रस्तुत किया है।

अति आछी तनक कनक की दोंहनी सोंहनी गढ़ाइ दै री मैया।
जाइ कहोंगो नंद-बबा सों, आछे पाट की नई दुहन सिखाइ दै गैया ॥
मेरी दांई के ढोटा सब छोटे, तेऊ सीखें री करत बन-धैया।
'नंददास' प्रभु हँसत, लोटत अस भरत नैनि-जलि जसुमति लेत बलैया ॥[2]

अपने समवयस्क बालकों को गाय दुहते देख श्रीकृष्ण के मन मे इस प्रकार के कार्य की इच्छा जागृत हो जाना स्वाभाविक है। अत. वे गाय-दोहन सिखाने के लिए माता से आग्रह करते है और छोटी-सी सोने की सुन्दर 'दोहनी' की माँग करते है। अपने आग्रह के तुरन्त पूरा न होने पर श्रीकृष्ण का भूमि पर 'लोटना' और नेत्रों को अश्रुओं से भर लेना बाल-स्वभाव के सर्वथा अनुकूल है। और श्रीकृष्ण की इस बाल-लीला से माता का मनोविनोद होने मे तो कोई सन्देह ही नही।

राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला के वर्णन में भी कुछ स्थलों पर उक्त स्वाभाविकता के साथ अनुराग की व्यंजना की गई है। प्रेम के दोनों छोर—दैन्य और मानजनित खीज—जिनके बीच प्रेमी झूलते है, यहाँ सहज लक्षित किये जा सकते है।

अरी प्यारी कें लाल लागे देन महाउर पाय।
जब भरि सींकहिं चहत स्याम घन दीजै चित्र बनाय।
रहत लुभाय चरन लखि इक टक बिबस होत रंग भर्यो न जाय।
'नंददास' खिजि कहत लाडली रहौ, रही तब पगनि दुराय ॥[3]

दोनों प्रेमियों की मानसिक अवस्था का यहाँ अच्छा परिचय प्राप्त होता है। तीसरी पंक्ति में चरणों के सौन्दर्य को देखकर स्तब्ध रह जाने वाले श्रीकृष्ण की महावर देने की असमर्थता स्वाभाविक है और राधा कब तक स्थिर बैठी रह सकती है। धैर्य की भी सीमा होती है।

होली आदि लीला-वर्णन के प्रसङ्ग में जहाँ पद अधिक लम्बे है वहाँ भावैक्य नष्ट हो जाने पर इतिवृत्त की-सी नीरसता उत्पन्न हो गई है, किन्तु ऐसा केवल कुछ ही पदों के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है।

'श्यामसगाई' नन्ददास की मात्र ऐसी रचना है जिसमे कवि ने अपने-आपको

---

१. वही, १-६६
२. नं० ग्रं०, पदावली, पद-संख्या ३६
३. वही, पद-संख्या ६२

चमत्कार से दूर रखकर सहज घरेलू वातावरण उत्पन्न किया है। डॉ० रामचन्द्र तिवारी के इस कथन से कि 'श्यामसगाई' की भाषा में सरलता, मार्दव और घरेलूपन अधिक है"[1]—हम सर्वथा सहमत हैं। इस रचना को यदि कवि ने कथा-रूप में प्रस्तुत न किया होता तो सम्भवतः भावों का सहज उच्छ्वास और भी बढ़ सकता था। लेकिन भाव-तीव्रता की सहज अभिव्यक्ति करने वाले स्थलों का यहाँ अभाव नहीं है। राधा की पूर्वराग-अवस्था को प्रस्तुत करने वाली इन पंक्तियों में वेदना, आतुरता, आत्मसुधि-विस्मृति, जड़ता आदि को बहुत स्वाभाविकता से व्यक्त किया गया है—

सखियन ऊँचे बैन कहे, पै कुंवरि न बोलै।
पूँछति विविध प्रकार, लड़ैती नैन न खोलै॥
बड़ी बेर बीती जबै, तब सुधि आई नैकु।
स्याम स्याम रटिबे लगी, एकुहि बेर जु व्हैकु॥
बदति ज्यौं बावरी।[2]

राधा की माँ कीर्तिकुमारी अपनी पुत्री को मूर्च्छित देखकर व्यग्र हो उठी हैं। मातृ-हृदय ऐसे समय क्या कुछ कर डालने के लिए प्रस्तुत नहीं हो जाएगा। यशोदा की जिस सगाई-सम्बन्धी बात को उन्होंने गर्व से ठुकराया था उसे पाँव पड़कर स्वीकार करने को वे अब प्रस्तुत हैं। मातृ-हृदय की व्याकुलता, आतुरता और दैन्य-भरा यह चित्र किस सहृदय पाठक का मन नहीं मोह लेगा।

अरी बीर! चलि जाउ, कही इहि बिनती मेरी;
जो जीवैगी कुंवरि, बीर मैं, करिहौं तेरी।
बेगि पठै नंदलाल कौं, जीउदान दै मोहि;
पाँय लगौं, बिनती करौं, जग जस आवै तोहि।
रावरी सरन हौं॥[3]

परिस्थिति-विशेष का आग्रह है कि कीर्तिकुमारी सभी से आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करती है। इस प्रकार का मानसिक परिवर्तन सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। भाव की इतनी सरल और स्वाभाविक अभिव्यक्ति नन्ददास के अन्य किसी ग्रन्थ में लक्षित नहीं होती। 'रूपमंजरी' की सम्पूर्ण कथा के बीच विरह[4] और मिलन[5] प्रसंग में से कुछ

१. मध्ययुगीन काव्य-साधना, पृष्ठ २०५
२. श्याम-सगाई, छन्द ११
३. वही, छन्द १६
४. मन सौं कहै कुटिल तू आही। अकिलौई उठि पिय पै जाही॥
रंचक नैनन हू संग लै रे। मोहन-मुख दिखि आवन दै रे॥
साँवरे पियहिं सुमिरि वर बाला। भरइ उसास दुसास बिहाला॥
नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पृष्ठ ११७
५. कछु छल कछु बल कछु मनुहारी। लै बैठे तहँ लालबिहारी॥
मन चह रम्यो चहै तन भग्यो। कामिनि के इक कौतुक लग्यो॥
नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पृष्ठ १२४

ही स्थल ऐसे मिलते है जिनमें भाव की तीव्रता सहज रूप मे सामने आ सकी है अन्यथा उत्प्रेक्षा की झंकार के साथ उन्हें प्रस्तुत किया गया है। 'भ्रमरगीत' के भी दो पक्ष है-- एक का सम्वन्ध विचार से है और दूसरे का गोपी-प्रेम की अभिव्यक्ति से। गोपी-प्रेम की अभिव्यक्ति वाले प्रसंग मे अभिधा शक्ति का मनोहारी प्रसार लक्षित होता है।

सुनत स्याम को नाम वाम गृह की सुधि भूली।
भरि आनंद रस हृदय प्रेम वेली द्रुम फूली॥
पुलक रोम सव अंग भए भरि आए जल नैन।
कंठ घुटे गद्गद गिरा वोल्यो जात न वैन।
विवस्था प्रेम की।[1]

किन्तु जहाँ इस प्रकार की स्पष्ट और सहज अभिव्यक्ति को छोड़कर उपालम्भ का आश्रय लिया गया है वहाँ वक्रता सामने आती है। अत: उपालम्भ सम्वन्धी छन्दो मे प्रेम की 'वाँको' अभिव्यक्ति पर वल है। इसके विपरीत उद्धव की प्रेम-दशा वर्णन करनेवाले छन्द अधिक सरल और स्वाभाविक हैं।[2] 'रुक्मिणीमंगल' मे भी कवि ने अभिधा का आश्रय लिया है। अपने भाई का हठ जानकर रुक्मिणी को एक ओर तो चिन्ता होती है किन्तु शीघ्र ही वह अपने अनुराग की तीव्रता के आधार पर एक निश्चय कर लेती है। इस चिन्ता और अनुराग की तीव्रता को नन्ददास ने अभिधा शक्ति द्वारा ही प्रस्तुत किया है।

कवहुँ मनहि मन सोचत मोचत स्वास-ठरारे।
मोहन सोहन-श्याम, न ह्वै हैं पिया हमारे॥
करत विचार मनहि मन अव धौं ऐसी कीजै।
लोक लाज कुल कानि किये मोहि सरबसु छीजै॥[3]

अन्य रचनाएँ कथात्मक होने के कारण अभिधा शक्ति पर आधारित है किन्तु अभिधा का योगदान यहाँ सरस काव्य की सृष्टि के रूप में नहीं हो पाया है।

विचारात्मक स्थलों की दृष्टि से 'श्रीकृष्ण सिद्धान्तपंचाध्यायी' और 'भ्रमरगीत' का उल्लेख किया जा सकता है। दोनों रचनाओं की विचार प्रस्तुत करने की शैली भिन्न है। 'श्रीकृष्ण सिद्धान्तपंचाध्यायी' में जहाँ नन्ददास स्वयं वक्ता-व्याख्याता है वहाँ 'भ्रमरगीत' मे उद्धव-गोपी 'वाद-विवाद' के रूप मे विचारो को व्यक्त किया गया है। इस-लिए 'सिद्धान्तपंचाध्यायी' की भाषा मे जहाँ अभिव्यक्तिजन्य सरलता और स्पष्टता लक्षित

---

१. भ्रमरगीत, छन्द ३

२. ऐसे मग अभिलाष करत मथुरा फिरि आयौ।
गदगद पुलकित रोम अंग आवेस जनायौ॥
गोपी-गुन गावन लग्यौ, मोहन-गुन गयौ भूलि।
जीवन कों लै का करौं पायौ जीवनमूलि॥
भक्ति को सार यह॥ वही, छन्द ६६

३. नं० ग्रं०, रुक्मिणीमंगल, १८-१६

होती है वहाँ 'भ्रमरगीत' में कहीं-कहीं व्रजभाषा से कार्य लिया गया है। फिर भी दोनों रचनाओं में अभिव्यक्ति के लिए अभिधा शक्ति का आधार मुख्य रूप से स्वीकार किया गया है। कुछ विचारात्मक बोझिलता तो स्वाभाविक है परन्तु वर्ण-योजना और सादृश्य के सहारे इसे बहुत कुछ दूर कर दिया गया है।

निश्य आतमानंद, अखंड स्वरूप, उदारा।
केवल प्रेम सुगम्य अगम्य अपर परकारा॥[1]

इसी प्रकार 'भ्रमरगीत' की गोपियों की भाषा का उदाहरण लिया जा सकता है जिसमे प्रतिवादी का वादी को पराजित करने के लिए उसके तर्कों का निरास और अपने पक्ष का सबल प्रतिपादन बड़ी सजीव शैली में प्रस्तुत किया गया है—

कर्म पाप अरु पुन्य, लोह सोने की बेरी।
पायन बंधन दोउ कोउ मानौ बहुतेरी॥
ऊँच कर्म ते स्वर्ग है, नीच कर्म तें भोग।
प्रेम बिना सब पचि मुए विषय-वासना रोग॥[2]

किन्तु भाषागत स्पष्टता दोनों में है। दोनों स्थलों पर ही अपने-अपने ढंग से भाषा को सरस बनाया गया है।

भाषा में अभिधा शक्ति के प्रसार की चर्चा के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नन्ददास वस्तुतः चमत्कारप्रिय कवि है। चमत्कार के लिये उन्होंने लक्षणा-व्यंजना की अपेक्षा उत्प्रेक्षा का आश्रय बहुत अधिक लिया है। उनके काव्य के जितने अंश इस चमत्कार से बचे रह सके है उनमे अभिधा शक्ति का प्रसार देखा जा सकता है। उत्प्रेक्षा कवि का अत्यधिक प्रिय अलकार रहा है और इसी कारण सभी प्रकार के वर्णनों—लीला-वर्णन, रूप-वर्णन, ऐश्वर्य-वैभव-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, उत्सव-वर्णन आदि में कवि ने उत्प्रेक्षा से ही चमत्कार उत्पन्न किया है। पर इसका आशय यह नहीं है कि लक्षणा-व्यंजना का कवि ने प्रयोग नहीं किया है। लक्षणा के विविध रूपों का विस्तार उनके काव्य में देखा जा सकता है। और व्यंजना तो उपालम्भ-काव्य 'भ्रमरगीत-काव्य' का प्राण है।

लक्षणा-शक्ति—लक्षणा-शब्द-शक्ति का प्रयोग पाठक के मन में वर्ण्य-विषय का बिम्ब जगाने के उद्देश्य से किया जाता है। इस बिम्ब को जगाने के लिए शब्द और वाक्य—दोनो का उपयोग किया जा सकता है। शब्द क्रिया, विशेषण और विशेष्य के रूप मे प्रयुक्त होते हैं और वाक्य मे भी "विशेष्य विशेषण और क्रिया के ही पद रहते है पर उनका अर्थ वाक्य में ही प्रादुर्भूत होता है।"[3] इस प्रकार की बिम्ब-योजना द्वारा अमूर्त भाव को मूर्त रूप देकर अधिक ग्राह्य बनाया जा सकता है। अर्थ की प्रतीति कराना तो सभी शब्दों का सामान्य धर्म है। किन्तु लक्षणा शक्ति द्वारा शब्द सामान्य

१. सिद्धान्तपंचाध्यायी, ८७
२. भ्रमरगीत, छन्द १६
३. काव्य में अप्रस्तुत योजना, पं० रामदहिन मिश्र, पृष्ठ ६३

अर्थ से इतर एक ऐसे अर्थ की प्रतीति कराता है जो प्रस्तुत सन्दर्भ में भाव और विषय के अधिक अनुकूल होता है और इस अर्थ के ज्ञान द्वारा विषय के सौन्दर्य को ग्रहण कर सकना अधिक सहज हो जाता है। बिम्ब-योजना नन्ददास की कविता का प्रमुख धर्म है। इसके लिए उन्होंने लक्षणा और सादृश्य-विधान—दोनों का उचित प्रयोग किया। यद्यपि सादृश्य-विधान को उन्होने अपने काव्य में विशेष स्थान दिया है पर फिर भी लक्षणा की उपेक्षा कहीं नही की है। आगे की पंक्तियों में हम लक्षणा के क्रिया, विशेषण और विशेष्य को ध्यान में रखकर अपने आशय को स्पष्ट करेंगे।

क्रिया-पद—

बरसै—प्रेमानन्द मिली सुमंद मुसकनि मधु बरसै।[1]
ग्रसति—तिमिर ग्रसति सब लोक ओक लखि दुखित दयाकर॥[2]
बिथुरित—बिथुरित कुंडल अलक तिलक झुकि झाईं लेहीं।[3]
गह्यो—अरु वह रूप अनूपम जेतौ। नैननि गह्यो गयो नहि तेतौ।[4]
मुरझावै—बिरह लहरि जब उठि मुरझावै। बाहु की बलय ढरकि कर आवै।[5]
चुचात—अहो अहो मोहन सोहन पिया। नव अनुराग चुचात है हिया।[6]
जरत—एक स्याम तन परसि के जरत आजु लौं अंग।[7]
सिरावत—श्री हरि हियो सिरावत लावत लै लै छाती।[8]
उरझे—जो अलकन छबि उरझे, ते अजहूँ नहिं सुरझे।[9]
बिकानी—ता दिन ते उन हाथ बिकानी।[10]
उघरौंगी—नंददास प्रभु कछु न रहैगी, जब बातन उघरौंगी।[11]

नन्ददास की विभिन्न रचनाओं से उद्धृत इन क्रियापदों से उनकी लाक्षणिक प्रयोगों की विशेषता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। 'बरसै' क्रिया के द्वारा आनन्द की अजस्र धारा हृदय में प्रवाहित हो उठती है—इस बात की प्रतीति कराई गई है। 'ग्रसति' में चन्द्र ग्रहण एवं सूर्य-ग्रहण के बिम्ब-विधान द्वारा अन्धकार की व्याप्ति से एक दयनीय अवस्था का चित्र प्रस्तुत किया गया है। 'बिथुरित' कुण्डल और अलक की गतिशीलता

---

१. रासपंचाध्यायी, १-७
२. वही, १-१४
३. नं० ग्रं०, पृष्ठ २६
४. नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पृष्ठ ११३
५. नं० ग्रं०, रसमंजरी, पृष्ठ १३१
६. नं० ग्रं०, रसमंजरी, पृष्ठ १२९
७. भ्रमरगीत, छन्द ५८
८. नं० ग्रं०, रुक्मिणीमंगल, ५४
९. वही, रुक्मिणीमंगल, ८६
१०. नं० ग्रं०, पदावली, पद-संख्या ८४
११. वही, पद-संख्या ११५

को सामने लाने का प्रयास करना है। 'गह्यो' में रूपागमिन के आभास द्वारा प्रिय को आँखो में समा लेने की चेष्टा है। मूर्च्छित अवस्था के चित्र द्वारा 'मुरझावें' शब्द विरह के भयंकर प्रभाव को सामने लाता है। 'चुचात' क्रिया रस के स्रवित होने के अर्थ मे प्रयुक्त होती है। यहाँ अनुराग का रस-सूचक स्रवण भाव की तीव्रता को ओर पुष्ट कर देता है। विरह में जलन मानसिक है, किन्तु उसकी अनुभूति उसी को होती है जो विरही है। अतः 'जरत' के द्वारा शारीरिक 'जलन' का बिम्ब उपस्थित करके विरह-ज्वाला के अमूर्त रूप को मूर्त करने का प्रयत्न किया गया है। विरह जिस प्रकार तन-मन को जलाता है उसी प्रकार प्रिय-मिलन अथवा प्रिय-सन्देश हृदय को शीतल करता है। 'सिरावत' क्रिया उस शीतलता को अनुभूति के धरातल पर ले आती है जो सामान्य अर्थ द्वारा सम्भव नहीं थी। 'उलझे' क्रिया जाल में फँसे प्राणी की विवशता आँखों के सामने प्रत्यक्ष कर देती है। कवि को रूप-सौन्दर्य में उलझकर अवश हो जाने वाले राजाओं का चित्र खींचना अभीष्ट है। रुक्मिणी-हरण के समय इसीलिए श्रीकृष्ण बिना किसी विरोध के अपने उद्देश्य में सफल हो जाते हैं। इस प्रकार कवि 'उरझे' शब्द के द्वारा रूप-सौन्दर्य के आधिक्य और राजाओं की अवशता दोनो का चित्र खींचने में समर्थ हुआ है। 'बिकानी' शब्द बहुत प्रसिद्ध है। गोपियों का अपने ऊपर कोई अधिकार नहीं रहा। जब उनका मन ही अपना न रहा तो वे उसकी उपेक्षा कर स्वतन्त्र मार्ग का अनुसरण कैसे कर सकती हैं। यह रूप-ठगौरी का अद्भुत प्रभाव है। 'उघरौगी' शब्द नग्नता का सूचक है। और इस अवस्था में कोई भी व्यक्ति सामने नहीं आना चाहता। लज्जा, सङ्कोच, सम्मान और न जाने क्या-क्या भाव उसको जकड़ लेते हैं। किन्तु जब कोई आपको इस अवस्था से खींचकर सबके सामने लाने को प्रस्तुत हो जाये तब आपकी विवशता स्वाभाविक है। कृष्ण की यह विवशता 'बता देना', 'व्यक्त कर देना', 'प्रगट कर देना'—आदि शब्दो द्वारा चित्रित नही की जा सकती। सारांश यह कि नन्ददास ने क्रिया-पद के प्रयोग के समय सन्दर्भ और शब्द के संस्कार का पूर्ण ध्यान रखा है। इसीलिए उनकी भाषा का चित्र-धर्म कलाकार की क्षमता को व्यक्त करने में समर्थ हुआ है।

विशेषण—शब्दों के अर्थ को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए लक्षणा शब्द-शक्ति का दूसरा आधार विशेषण शब्दों का प्रयोग है। नन्ददास ने अपने काव्य में वर्ण्य विषय का स्वरूप-सौन्दर्य बढ़ाने के लिये विशेषणों का प्रयोग किया है। ये विशेषण रूढ़ि और प्रयोजन दोनो दृष्टियों से अर्थ-विस्तारक सिद्ध हुए हैं। कुछ प्रयोग इस प्रकार हैं—

कुटिल अलक मुख-कमल मनो अलि-अवलिविराजें।[1]
तदपि रंगीली सरद समय मिलि अति छवि पाई।[2]
बंक चहनि पुनि कहनि बंक अति रसहि बढ़ावैं।[3]

---

१. नं० ग्रं०, रासपंचाध्यायी, १-३.
२. वही, रासपंचाध्यायी, १-३८
३. वही, रासपंचाध्यायी, १-७१

राजत कटि किंकिनि रसाला ।[1]
कंचन थार हाथ चंचल छवि ।[2]
तौ ये चपल परान, पिय तुम ही पै आयहैं ।[3]

इन विशेषणो मे 'कुटिल' शब्द का प्रयोग रूढ़ि से अलकों के घुँघरालेपन का सूचक है । 'रंगीली' शब्द केवल शरद्कालीन रजनी की शोभा को नही बढाता परन्तु उसके साथ सम्पूर्ण वातावरण की मादकता और आनन्द प्रसारक शक्ति को व्यक्त करता है । 'वंक चहनि' और 'वंक कहनि' में कवि ने यह स्पष्ट किया है कि किसी बात में विलक्षणता आकर्षण को बढाती है । यदि हमारी चाह—प्रेम मे 'चटपटापन' है तो हमारी सारी क्रियाएँ आकर्षक हो जायेंगी । स्वयं कवि ने इसके रसवर्धक रूप को आगे स्पष्ट कर दिया है । 'रसाल' में मिठास का पूर्ण आभास प्राप्त होता है । कवि ने उसी का आश्रय लेकर किङ्किणि से उत्पन्न होने वाले मधुर-स्वर को पाठक तक इस शब्द द्वारा पहुँचाया है । शोभा की चंचलता की बात केवल आकर्षण, सजीवता और नटखटपन को सम्मुख रखकर कही गई है । प्राणों की चंचलता द्वारा विरहिणी की व्याकुलता सूचित की गई है । घायल पक्षी का फड़फड़ाता हुआ चित्र पाठक के सम्मुख खींच देना इस विशेषण के प्रयोग की विशेषता है । इस प्रकार विशेषणों के प्रयोग मे किसी प्रकार से बात का सांकेतिक रूप खड़ा करना नन्ददास का उद्देश्य नही रहा है । उनकी कला भाव को सरस और स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करने का लक्ष्य बनाकर ही आगे बढती रही है ।

विशेष्य—लक्षणा शब्द-शक्ति के अन्तर्गत विशेष्य शब्दों का भी अभीप्सित अर्थ मे प्रयोग किया जाता है । नन्ददास ने श्रीकृष्ण और गोपियों के लिए अनेक विशेष्यों का प्रयोग किया है किन्तु उनके प्रयोग मे किसी प्रकार के सन्दर्भ का ज्ञान नहीं होता । सभी विशेष्य प्रत्येक सन्दर्भ में प्रयुक्त हो जाते है । यहाँ तक कि सम्पूर्ण 'भ्रमरगीत' में गोपियों के लिए प्रायः एक ही विशेष्य—व्रजनागरी का प्रयोग किया है । चाहे सन्दर्भ विचारात्मक है अथवा प्रेम भाव-व्यंजक । कवि ने कृष्ण के लिये विभिन्न सन्दर्भो मे गिरिधर शब्द का प्रयोग किया है । वस्तुतः इससे किसी विशेष अर्थ की प्रतीति की अपेक्षा साम्प्रदायिक इष्ट का ज्ञान होता है । इसके अतिरिक्त नन्ददास की वर्ण-मैत्री मे जो उपयुक्त बैठ जाये उसी का प्रयोग उसने कर दिया है । 'कान्हर कपटी' भी हैं और 'कान्ह कलगान' करने वाले भी है । सामान्यतः विशेष्य बिना विशेषणों के स्वतन्त्र अर्थ का द्योतन नही करते । 'सुन्दर नन्द कुँवर', 'नागर-गुरु नंद-नंद', 'गोपीजन मन-मोहन-मोहन'—आदि प्रयोग हमारे इसी आशय के पोषक है ।

लक्षणा के अन्य प्रयोग—

साम्य के रूप मे : उर बर पर अति छविकी भीर कछु बरनि न जाई ।[4]

---

१. वही, रूपमंजरी, पृष्ठ १०८
२. वही, पदावली, पद-संख्या २६
३. वही, विरहमंजरी, पृष्ठ १४८
४. नं० ग्रं०, रासपंचाध्यायी, १-९

मूर्त के लिए अमूर्त रूप में : (१) सुभग सुगंध सरोवर निरमल मुनि मन जैसे ।[1]
(२) नासिक नय जनु मनमथ पासी ।
हासी हरि देय की माया सी ॥[2]

मानवीकरण के रूप मे : मंद मंद चलि चारु चन्द्रिका अस छवि पाई ।
उझकति हैं पिय रमा-रमन कौं मनु तकि आई ॥[3]

वाक्य के रूप में : (१) नव फूलनि सों फूलि फूलि अस लगत लुनाई ।
सरद छबीली छपा हँसति छवि सों मनु आई ॥[4]
(२) सूधो जो कुछ उर गड़े, सो न कढ़ दुख होय ।
ललित त्रिभंगी जिहि गड़ें, सो दुख जानै सोय ॥[5]

नन्ददास के काव्य में प्राप्त होने वाले लक्षणा-प्रयोग के ये कुछ रूप हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि नन्ददास के काव्य में शब्द-शक्ति के इस रूप का उचित प्रयोग हुआ है । जैसा कि आरम्भ में स्पष्ट कर दिया गया है कि नन्ददास ने लक्षणा आदि के प्रयोग का कोई प्रयास नहीं किया । किन्तु लक्षणा के जो रूप स्वाभावतः उनकी भाषा में प्रवेश पा चुके हैं उनको उन्होंने उचित स्थान दिया है ।

व्यंजना-शक्ति—व्यंजना शब्द की वह शक्ति है जिससे साधारण अर्थ के अतिरिक्त भाव-तीव्रता-बोधक अर्थ की प्रतीति कराई जाती है । किन्तु यह प्रतीति अभिधार्थ के ज्ञान होने पर ही हो सकती है । अतः व्यंजना मे लक्षणा की भाँति मुख्यार्थ की बाधा आवश्यक नही है । व्यजना-शक्ति से कवि की रसदशा का ज्ञान होता है । इस शक्ति का प्रयोग वह ऐसे क्षणों मे करता है जब शब्द की अभिधा और लक्षणा उसके रसावेग को अभिव्यक्त करने मे असमर्थ हो जाती है । अतः यह कहना कि व्यंजना का प्रयोग केवल वक्र-अभिव्यजना के क्षेत्र में ही हुआ करता है, समीचीन नही कहा जा सकता । यदि यह सत्य होता तो रागप्रधान कृष्ण-लीलापरक रचनाएँ व्यंजना से शून्य होतीं । परन्तु ऐसा नही है । सूरदास, नन्ददास आदि कवियों के काव्य इस बात का प्रमाण है कि बाललीला, प्रणय-लीला आदि के बहुत से मधुर प्रसङ्गों में व्यंजना-शक्ति का प्रयोग केवल भाव की तीव्रता का बोध कराने के लिये हुआ है । यह सत्य है कि 'भ्रमरगीत' आदि उपालम्भपूर्ण स्थलों पर व्यजना वक्रता का रूप धारण कर लेती है पर वहाँ किसी प्रकार का चमत्कार-प्रदर्शन उनका उद्देश्य नही है, भाव का तीव्र रूप ही उनके द्वारा व्यंजित हुआ है । इसी आशय को स्पष्ट करने का प्रयत्न हम आगे की पंक्तियों मे करेंगे ।

नन्ददास के काव्य को व्यंजना-शक्ति के प्रसार की दृष्टि से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) लीला-वर्णन सम्बन्धी काव्य, और (२) उपालम्भ-सम्बन्धी

---

१. वही, रुक्मिणीमंगल, ३३
२. नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पृष्ठ १०८
३. वही, रासपंचाध्यायी, १-४५
४. वही, रासपंचाध्यायी, १-४१
५. वही, रूपमंजरी, पृष्ठ ११७

काव्य । लीला-वर्णन सम्बन्धी काव्य भाग में व्यंजना का प्रयोग आनन्दातिरेक की सूचना, सौन्दर्य की उत्कृष्टता और विरह की वेदना को व्यक्त करने के लिए किया गया है । आनन्दातिरेक-सूचक स्थल मिलन के प्रसंगों में प्राप्त होते हैं । रास मे नृत्य के उपरान्त पूर्ण तृप्ति का अनुभव सूचित करने वाली निम्न पंक्तियों में व्यजना का प्रयोग बहुत स्पष्ट है ।

इहि विधि विविध विलास विलसि निसि कुंज सदन के ।
चले जमुन जल क्रीड़न ब्रीड़न वृंद मदन के ।
उरसि मरगजी माल चाल मद गज जिमि मलकत ।
घूमत रस भरे नैन गंडस्थल श्रमकन झलकत ॥
धाय जमुन जल धँसे लसे छवि परति न बरनी ।
बिहरत मनु गजराज संग लिये तरुनी करनी ॥[1]

'विविध विलास विलसि' में 'विलसि' शब्द का प्रयोग विशेष ध्यान देने योग्य है । रति भाव की तीव्रता में प्रेमी-युगल की विलास से कभी तृप्ति नही होती । परिणामतः वे विविध प्रकार की क्रियाओं का आश्रय लेते हैं । क्योंकि यह अलौकिक विलास है, अतः इसमें क्रियाओं का प्रसार और वैविध्य दोनों लौकिक विलास से भिन्न हैं—इसी की सूचना अगली पंक्ति में 'ब्रीड़न वृंद मदन के'—इस शब्दावली द्वारा दी गई है । 'विलसि' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि कवि 'क्रीड़ा', 'संभोग', 'रति' आदि शब्दों से अपने भाव की अभिव्यक्ति नही कर पा रहा है, अतः उसने ऐसे शब्द का प्रयोग किया जिसमें मन को पूर्ण रूप से रमा देने का भाव व्यक्त होता है । इस प्रकार 'विलास विलसि' के प्रयोग द्वारा विलास में ही अपने को लीन कर देने का भाव व्यक्त किया गया है । व्यंजना की दृष्टि से 'रस भरे नैन' का भी महत्त्व है । पूर्ण तृप्ति की व्यंजना के अतिरिक्त आनन्द से जो प्रफुल्लित हो रहे हैं ऐसे नेत्रों का परिचय मिलता है । स्पष्ट ही ये नेत्र काम-क्रीड़ा से थके हुए शिथिल और अलसपूर्ण नेत्रों से भिन्न है । इसी प्रकार 'धँसे' शब्द उमङ्ग-उल्लास की व्यंजना करने वाला है । जल में स्नान करने के लिए व्यक्ति प्रवेश करता है और क्रीड़ा के लिए धँस जाता है । कवि ने श्रीकृष्ण और गोपियों के मन की अवस्था को पहचानकर ही इस शब्द का प्रयोग किया है । इसी प्रकार रूपमंजरी की इस उक्ति—'साँवरे उर घुरि सोयो चहै ।' में 'घुरि' शब्द का प्रयोग नायिका की विशिष्ट मनःस्थिति का सूचक है । इसमे नायिका संयोग की उस रस-दशा का अनुभव करना चाहती है जिसमें पृथक् अस्तित्व की सत्ता ही विलीन हो जाये, ठीक वैसे जैसे जल में नमक घुल जाता है । शायद इसी रस अवस्था को सूचित करने के लिए बौद्धों ने युगनद्ध की कल्पना की होगी । किन्तु हमारे विचार से 'घुरि' शब्द युगनद्ध की कल्पना से कहीं अधिक व्यंजनापूर्ण है । पदावली मे तो एक स्थान पर 'बानी को गम ना' कहकर इस भाव की व्यंजना की गई है कि रस अनुभूति जन्य है, उसका वाणी द्वारा कथन सम्भव नही ।[2]

१. वही, रासपंचाध्यायी, ५—२५-२७
२. वही, पदावली, पद-संख्या १६८

सौन्दर्य की उत्कृष्टतासूचक व्यंजना शक्ति के प्रयोग के उदाहरण रासपंचाध्यायी, रूपमंजरी, रुक्मिणीमंगल और पदावली में उपलब्ध होते हैं। गोपियों में यौवन की व्याप्ति व्यंजित करने के आशय से कवि कहता है :

कबहुँक सेव मिलि बाल लाल को छिरकति, छवि अस ।
मनसिज पायो राज आजु अभिषेक होत जस ॥[1]

अवस्था के अनुसार सभी प्राणियों में यौवन का प्रवेश होता है और उसका आगमन कामदेव के राज्य-प्रसार की सूचना है। यह साधारण-सी बात है किन्तु यदि यौवन आये और चुपचाप चला जाय तो इसमें क्या सौन्दर्य। इसलिए कवि ने उसके अभिषेक की बात की है। सभी को कामदेव के राज्य करने की बात का पता तो चले। इस अवस्था में मानव-मात्र में जो उमङ्ग और उल्लास की क्रियाएँ हुआ करती हैं वे काम-प्रसार-सूचक ही हैं। गोपियों का जल-क्रीड़ा में मस्त हो जाना इसी भाव का सूचक है। 'राज्य पा लेना' से यह भी सूचित किया गया है कि गोपियों के हृदय पर कृष्ण-रति अन्य सभी भावों को हटाकर एकछत्र रूप से आ विराजी है। रूपमंजरी के रूप-सौन्दर्य की चर्चा में भी कवि ने 'जुवन राव' के राज्य-प्राप्ति का उल्लेख किया है।[2] एक स्थल पर तो रूपमंजरी के अज्ञात-यौवना पद्मिनी नायिका होने की व्यंजना बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की गई है। स्नान के लिए आई हुई रूपमंजरी के शरीर की गंध पाकर भँवर कमल छोड़कर उसी के पास मंडराने लगते हैं।[3] और भौंहों के सम्बन्ध में कही गई कवि की यह उक्ति निश्चित रूप से वैदग्ध्यपूर्ण है—

भुव-धनु देखि मदन पछितयो। हर के समर समय किन भयो ॥[4]

आकर्षण और सौन्दर्य की उत्कृष्ट अभिव्यंजना इस पंक्ति में लक्षित होती है। आभूषण-सौन्दर्य की ऐसी ही व्यंजना रुक्मिणी के कुण्डलों के वर्णन में की गई है।[5] श्रीकृष्ण के सौन्दर्य और गोपियों के स्नेह की व्यंजना कवि ने पदावली में एक साथ की है। एक सखि दूसरी अन्तरङ्गा को भेद की बात बता रही है—

इहि काहू को ढोटा, स्याम-सलौने गात है ।
आई हौं देखि खिरक ढिग ठाड़ो, न कछु कहन की बात है ।
कमल फिरावत नैन नचावत, मो तन मुरि मुसिक्यात है।[6]

---

१. वही, पृष्ठ २९
२. जुवन राव जब उरपुर लयो। सैसव-राव जघन-बन गयो ॥
अरन लगे तब दोऊ नरेसा। छीन पर्यौ तब तिय-मधि देसा ॥
नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पृष्ठ १०७
३. तिय तन परिमल जो लखि पावै। अंबुज तजि सब अलि चलि आवै ॥
इंदुमती जब भँवर उड़ावै। इंदुबदनि अन्हान तब पावै ॥
पौंछे डारति रोम की धारा। मानति बाल सिवाल की डारा ॥ वही, पृष्ठ १०७
४. वही, रूपमंजरी, पृष्ठ १०७
५. श्रवननि सुन्दर खुभी, चुभी सबके मन ऐसे। वही, रुक्मिणी मंगल, पद ११२
६. वही, पदावली, पद-संख्या १५

यहाँ 'काहू' शब्द सबसे पहले ध्यान आर्कापित करता है। इसके द्वारा गोपी ने अपने मन की उपेक्षा व्यक्त करनी चाही है। जिससे कोई जान नहीं पहचान नहीं, उसके बारे में एकदम लगाव तो व्यक्त किया भी नहीं जा सकता। पर उसका रूप-सौन्दर्य किसी को इस प्रकार उपेक्षा करने ही नहीं देता। अतः उसी की चर्चा करते हुए वह 'स्याम-सलौने-गात' का प्रयोग करती है। वर्ण तो उसका श्याम है पर है 'सलौना'। इससे अधिक तो वह कहती भी क्या। सलौना' शब्द सामूहिक आकर्षण का सूचक है, किसी अंगविशेष के सौन्दर्य का नहीं। उसके बाद अगली पंक्ति में उसने अपनी सफाई देते हुए 'आकस्मिक-दर्शन' की बात कही है। किन्तु उसके हृदय का भाव इतने से ही बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। पर आगे जब वह 'कमल फिरावत......' वाली बात कहती है तो सभी पर यह व्यक्त हो जाता है कि गोपी अपने भाव का कृष्ण पर आरोपण करके उसकी चेष्टाओं को देखने का प्रयत्न कर रही है। इस प्रकार सौन्दर्य, आकर्षण और रति के उदय को इन पंक्तियों में कवि ने बहुत सहज ढंग से गोपिका की उक्ति द्वारा व्यंजित किया है।

विरह का प्रसंग रासपंचाध्यायी, रूपमंजरी, विरहमंजरी, भ्रमरगीत और रुक्मिणीमंगल में वर्णित है। किन्तु इनमें से व्यंजना की दृष्टि से रूपमंजरी और विरहमंजरी ही उल्लेख्य है। इन दोनों में षड्ऋतु और बारहमासे का आश्रय लेकर कवि विरह-व्यंजना में आगे बढ़ा है। वस्तुतः आसपास के वातावरण का चित्रण विरही की मानसिक अवस्था की व्यंजनामें अत्यधिक सहायक हुआ करता है। होली के उल्लास और संयोगपूर्ण वातावरण में कवि की निम्न उक्ति जहाँ समय के उद्दीपन पक्ष को सामने लाती है वहाँ नायिका के मन में उठने वाली विरह-वेदना को भी। संयोग के अभाव में नायिका की अवस्था कही नही जा सकती। अतः उसकी व्यंजना ही उचित है।

> रंग रंग छिरके बसन, बरनत बनति न बात।
> जनु रति व्याहन रहसि भरि, आई बितनु बरात॥[1]

'बितनु-बरात' से अधिक संयोग-व्यंजक शब्द और क्या होगा। नन्ददास ने नायिका का उल्लेख न कर केवल वातावरण परिचय द्वारा भाव-तीव्रता व्यक्त की है। 'विरहमंजरी' में इसी प्रकार की उक्ति नायिका द्वारा कही गई है। अपने मिलन की बात वह नही कहती। केवल यही कहती है—

> **द्रुमनि सौं लपटि प्रफुल्लित बेली। जनु मोंहि हँसति है देखि अकेली॥[2]**

लता और वृक्ष का परस्पर मिलन साधारण-सी बात है। पर विरही के लिये नहीं। उसकी अन्तःव्यथा 'लपटि', 'प्रफुल्लित', 'हँसति' और 'अकेली' शब्द से व्यंजित होती है। सौभाग्यशाली है वे लोग जो मिलन की इस अवस्था में है। वे अकेले लोगो पर हँस सकते है। वे हंसे न हँसे किन्तु नायिका का यह सोचना उसके मन की अवस्था को अच्छी तरह व्यंजित कर देता है। विरहमंजरी मे इस प्रकार की तीव्र भावाभिव्यंजक

---

१. नं० ग्रं०, रूपमंजरी, दोहा ३६१
२. नं० ग्रं०. विरहमंजरी, पृष्ठ १४५

उक्तियाँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो जाती हैं। इनमें से कुछ को यहाँ देना अनावश्यक विस्तार न होगा। व्यंजक शब्द रेखांकित हैं—

(१) रही न तनक अमेठ, तुम बिन नंदकुमार
निपट निलज इह जेठ, धाय-धाय वघुवनि गहै।[१]

(२) मकर जु दारुन सीत, कहियो ससि पिय सों रहसि।
घर आवहु हरि मीत, छिन छिन छति सों लागि कै॥[२]

(३) विपत न बरनी जात, दई जु मास असाढ़ मोहि।
औचक आधी राति, पीव पीव पपिहा कर्यो॥[३]

ऊपर दिये गए लीला-सम्बन्धी काव्य-भाग के व्यंजनापूर्ण स्थलों में पदावली के बाल-लीला-वर्णन का भी समावेश किया जा सकता है। यद्यपि नन्ददास ने इस लीला का अधिक विस्तार नहीं किया है किन्तु कुछ पदों में गोपियों के मन में श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग की व्यंजना लक्षित की जा सकती है।[४]

उपालम्भ-सम्बन्धी काव्य-भाग में नन्ददास की दो रचनाएँ आती हैं—भ्रमरगीत और पदावली। भ्रमरगीत में उपालम्भ के दो प्रसंग हैं- कृष्ण के प्रति उपालम्भ और भ्रमर के प्रति उपालम्भ। पदावली में दानलीला, खण्डिता और मान उपालम्भ के प्रसंग हैं। इन सभी प्रसंगों में कवि ने व्यंजना का आश्रय लेकर उक्ति को मार्मिक और अधिक तीखा बनाने का यत्न किया है। भ्रमरगीत में प्रयुक्त छन्द की अन्तिम टेक इस कार्य के लिए विशेष रूप से सुरक्षित है। शायद ही कोई ऐसी पंक्ति होगी जो निशाने पर सीधी चोट न करती हो। श्रीकृष्ण की निष्ठुरता से गोपियाँ आरम्भ करती हैं। विरह के कारण उनमें प्रेमजनित दैन्य पूर्ण रूप से है किन्तु उद्धव द्वारा उन्हें श्रीकृष्ण का जो सन्देश प्राप्त होता है उससे गोपियो का धैर्य टूट जाता है। इस कारण दैन्य-व्यंजक पदावली में कठोरता का आभास मिल जाता है।

अहो नाथ ! रमानाथ और जदुनाथ गुसाईं।
... ...
दुःख जलनिधि हम बूड़हीं कर-अवलंबन देहु।
निठुर ह्वै कहा रहै॥[५]

श्रीकृष्ण को निष्ठुर जानकर वह यही कहती हैं कि हम तुम्हारे बिना उसी प्रकार नहीं रह सकतीं जैसे जल के बिना मीन। स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण को कठोर कहने में उनका प्रेम ही व्यक्त होता है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को प्रसाद जी ने 'और क्रोध होता उस पर ही जिससे कुछ नाता है'[६] कहकर स्वीकार किया है। उपालम्भ का

१. वही, विरहमंजरी, पृष्ठ १४५
२. वही, विरहमंजरी, पृष्ठ १५०
३. वही, विरहमंजरी, पृष्ठ १४६
४. चित्र सराहत चितवत मुरि-मुरि गोपी अधिक सयानी। नं० ग्रं०, पदावली, पद ३५
५. भ्रमरगीत, छन्द ३०
६. कामायनी, जयशंकरप्रसाद

आधार तो प्रेम ही है। दैन्य-निवेदन के क्षणों में उन्हें ध्यान आता है कि श्रीकृष्ण ने उन्हें त्याग दिया है। इसे प्रभुता का मद कहा जाये अथवा बल का घमण्ड। अपने लिए 'अवला' शब्द के प्रयोग द्वारा श्रीकृष्ण के व्यवहार पर उन्होंने करारी चोट की है।[1] और इसके वाद व्यंग्य का सिलसिला शुरू हो जाता है। व्यग्य-वचनों के इस कठोर प्रहार में प्रत्येक गोपी अपना योगदान देती है। इस प्रसंग में उनके मन का क्षोभ, आक्रोश, व्यथा, ईर्ष्या—सभी कुछ उभरकर सामने आ जाता है।

कोउ कहै ये निठुर इन्हैं पातक नहिं व्यापै।
पाप पुन्य के करनहार ये ही हैं आपै॥
इनके निरदै रूप मैं नाहिन कोउ चित्र।
पय प्यावत प्रानन हरे पुतना बाल चरित्र
मित्र ये कौन के॥[2]

प्रथम दो पक्तियों में 'पाप पुन्य के करनहार' और 'इन्हें पातक नहिं व्यापैं' कहकर श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व पर व्यंग्य किया गया है। सम्भवतः नन्ददास को तुलसी की यह उक्ति स्मरण रही हो—'समरथ को नहिं दोस गुसाईं'। किन्तु ईश्वरत्व का मतलब मनमानी करना स्वीकार नही किया जा सकता। आगे पूतना के उदाहरण द्वारा स्त्रियों के प्रति निर्दयता को इन्होंने अपने प्रति किये गए व्यवहार से सम्बद्ध करके प्रस्तुत किया है। यह सत्य है कि इस प्रकार का सम्बन्ध विठाना उपयुक्त नही है परन्तु आवेश की अवस्था में विवेक की रक्षा कर सकना कठिन हुआ करता है। अतः इस प्रकार के आरोप से केवल यही व्यंजित होता है कि प्रेम मे पागल गोपियों की बुद्धि श्रीकृष्ण-सन्देश सुनकर लड़खड़ा गई है। स्त्री के प्रति किये गए व्यवहार की पुष्टि 'ताड़का-वध' का उदाहरण देकर की गई है और उसके वाद की यह पंक्ति—'बाल ही रीति यह' बहुत मार्मिक है।[3] सूरदास ने कहा था, 'लरिकाई को प्रेम कहौ अलि कैसे छूटे'[4] और नन्ददास ने उसी सिद्धान्त को यह कहकर पुष्ट किया कि स्त्रियो के प्रति निर्दयता का व्यवहार इनका बचपन का स्वभाव है। इसी प्रसंग को गोपियाँ आगे वढ़ाती है। 'इस्त्रीजित' शब्द का प्रयोग करने के वाद 'सीताजू के कहेते' कहकर उनके स्त्री लम्पट स्वभाव पर करारा व्यंग्य किया गया है। सम्भवतः उन्हें श्रीकृष्ण-सन्देश मे कुब्जा की प्रेरणा का कुछ आभास मिला हो। स्त्री-लम्पट कहने से ही उन्हें सन्तोप नहीं होता। 'लोगनि

---

१. कोउ कहै अहो स्याम कहा इतराय गये हौ।
मथुरा कौ अधिकार पाय महाराज भए हौ।
ऐसे कछु प्रभुता अहो जानत कोऊ नाहिं।
अवला बुधि सुनि डरि गई बली डरैं जग माहिं॥
पराक्रम जानिकै॥ भ्रमरगीत, छन्द ३३

२. भ्रमरगीत, छन्द ३५

३. भ्रमरगीत, छन्द ३६

४. भ्रमरगीत, सूरदास

लज्जा लोपि । कहा ताकी कथा"[1] कहकर वे अपने आरोप की पुष्टि करती हैं । 'कहा ताकी कथा' में जो तिरस्कार व्यंजित है वह आरोप की कटुता को और भी तीव्र कर देता है । सम्भवतः इसी प्रकार की उक्तियो को देखकर ही डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव ने गोपियों को स्त्री-समाज के प्रतीक के रूप में स्वीकार करते हुए उनके उपालम्भ को पुरुष समाज की लम्पट वृत्ति के प्रति दिया गया उलाहना कहा है ।[2] पर यह तो सत्य है कि इन सभी उपालम्भों में गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम व्यंजित होता है ।

इसके बाद गोपियों ने व्याज-स्तुति का आश्रय लिया है । किन्तु इस प्रकार की व्यंजनापूर्ण शब्दावली—'लोभ की नाव ये',[3] 'रुचित ग्रास मुख काढि', 'आपुने स्वारथी'[4]—कृष्ण के प्रति कहे गए उपालम्भ वचनों मे उपलब्ध हो जाती है ।

भ्रमर के प्रति उपालम्भ में गोपियाँ अपने को कृष्ण की भ्रमर-वृत्ति तक सीमित रखती हैं । कृष्ण का कुब्जा-प्रेम उनकी इस उपालम्भ भावना को उद्दीप्त करता है, अतः 'कूबरीदास' कृष्ण से ही वे शुरू करती हैं—

> कोऊ कहै रे मधुप तुमैं लाजो नहिं आवत ।
> स्वामी तुम्हरो स्याम कूबरीदास कहावत ॥
> इहाँ ऊँचि पदवी हुती गोपीनाथ कहाय ।
> अब जदुकुल पावन भयो दासी जूठन खाय ।
> मरत कहा बोल कों ॥[5]

यह सम्पूर्ण छन्द व्यंजना-पदों से गुंथा हुआ है । 'लाजो नहिं आवत' में गोपियों का पहला व्यंग्य फिर 'स्वामी तुम्हरो' और 'कूबरीदास' का व्यंग्य-युग्म प्रस्तुत किया गया है । इसी सन्दर्भ में 'गोपीनाथ' का प्रयोग करके अन्तिम पंक्ति में 'पावन' के साथ 'दासी-जूठन' का जो मेल मिलाया गया है, क्या उसका प्रभाव कभी मिट सकता है ? और इस पर वे एक बार फिर दुहरा देती हैं, 'तुम्हें बोलते शरम नहीं आती ।' इस छन्द में यद्यपि कृष्ण के लिए कूबरीदास' और 'गोपीनाथ'—केवल इन दो शब्दों का समान अर्थ में व्यवहार किया गया है किन्तु ये दोनों शब्द भिन्न-भिन्न सन्दर्भानुसार अलग-अलग अर्थ की व्यंजना करते हैं । अतः इसे पर्याय-ध्वनि के उदाहरण-रूप में भी लिया जा सकता है ।

एक बार कुब्जा का स्मरण आ जाने पर तो गोपियाँ क्रोध से पागल हो जाती हैं । परिणामस्वरूप भ्रमर को 'जात किन पातकी'[6], 'पधारो रावरे' जैसी जली कटी

---

१. भ्रमरगीत, छन्द-संख्या ३७
२. नन्ददास का भँवरगीत, विवेचन और विश्लेषण, पृष्ठ ४१
३. भ्रमरगीत, छन्द ३८
४. भ्रमरगीत, छन्द ४१
५. भ्रमरगीत, छन्द ४७
६. भ्रमरगीत, छन्द ४८

सुननी पड़ती है । मधुप की लम्पट वृत्ति को ध्यान में रखकर वे 'वापुर गोरस चोरिकै'[1] की वात कहती हैं। उनका भ्रभर को यह कहना—'कहा तू रस की जानै'—उसके कामी स्वभाव पर व्यंग्य है। फिर भी उन्होने शालीनता की रक्षा की है। पर निम्न पंक्तियाँ इस दृष्टि से आक्षेप का आधार वनती रही है—

कोउ कहै रे मधुप होहिं तुम से जो संगी।
क्यों न होइ तन स्याम सकल वातन चतुरंगी॥
गोकुल में जोरी कोऊ पावत नाहिं मुरारि।
मनों त्रिभंगी आपु है करी त्रिभंगी नारि॥
रूप गुन सील की॥[2]

दग्ध-हृदय की इतनी मार्मिक व्यजना अन्यत्र शायद ही मिले। गोपियाँ श्रीकृष्ण और कुब्जा के सम्वन्ध को लेकर जितना कठोर प्रहार कर सकती थी, उन्होंने किया। चाहे पाठक उसे उनका स्वार्थ कहे अथवा द्वेप या अधिक उदार होकर इसे उनके श्रीकृष्ण-प्रेम की अभिव्यंजना माने। पर सत्य यही है, जैसा कि नन्ददास ने कहा भी है—कि गोपियाँ आवेश की अवस्था में हैं और इसीलिए 'सकल कुल लज्या लोपि'—वह सब कुछ कह जाती हैं। पर अन्त में उनकी वेदना फूट कर अपना असली परिचय दे देती है—'फाटि हिय दृग चल्यो'[3] और इसके द्वारा व्यंजित प्रेम-प्रवाह मे ऊधो भी वह जाते है। इस सीधी-सी वात को नन्ददास ने वड़े ही मार्मिक ढंग से 'कूल के तृन भये'[4]—द्वारा व्यंजित किया है।

'पदावली' के उपालम्भ-सम्वन्धी प्रसंगों में पहला खण्डिता का है। श्रीकृष्ण अन्यत्र रात्रि व्यतीत करके आते है। किन्तु मानिनी नायिका स्पष्ट शब्दों में भर्त्सना न करके एक 'नागरी' की भाँति व्यंजना का आश्रय लेती है—

भल जू भलै आए, मो-मन भाए,
प्यारे! रति के चिह्न दुराए।
... ...
'नन्ददास' प्रभु तुम वहु-नाइक,
हम गँवारि, तुम चतुर कहाए॥[5]

यहाँ अपने रोप को छिपा करके नायिका 'भलै आए' शव्द का प्रयोग करती है। 'भलै' शव्द उसके रोप को छिपाने में सफल नहीं हो रहा है। एक प्रकार की उपरामता इससे व्यंजित होती है। 'मन भाए' इसलिए कि लौटने का विचार तो तुमने किया। किन्तु धीरे-धीरे यह सयम का वाँध टूटता जाता है। और आवेग मे वह श्रीकृष्ण

---

१. भ्रमरगीत, छन्द ४६
२. भ्रमरगीत, छन्द ५४
३. भ्रमरगीत, छन्द ६०
४. भ्रमरगीत, छन्द ६१
५. नं० ग्रं०, पदावली, पद-संख्या १००

के लिए 'बहु-नाइक' तथा 'चतुर' और अपने लिए 'गँवारि' शब्द का प्रयोग करती हैं। इन शब्दों में श्रीकृष्ण की प्रशंसा व्यंजित नहीं है किन्तु अपनी उपेक्षा के लिए मानिनी का उलहना सूचित है। माखन-चोरी के एक पद में मानिनी का प्रेम-घुला उलाहना व्यक्त हुआ है।[1] दानलीला-प्रसंग में व्यंजना का रूप बहुत स्पष्ट है।

अहो तो सों नंद-लाडिले झगरोंगी।
मेरे संग की दूरि जाति हैं मटुकी पटकि कै डगरोंगी॥
भोरहि ठाढो कित करी मोकों, तुम जानों कछु काज न करोंगी।
संग के सकल सखान के देखत, अबहीं लाड़ उतारि धरोंगी।
सूधे दान लेहु किन मोपै और कहा कछु पाई परोंगी।
नन्ददास प्रभु कछु न रहेगी, जब बातन उघरोंगी॥[2]

श्रीकृष्ण के साथ गोपी का झगड़ना साधारण नहीं है—यह तो गोपियों का चिरकाम्य रहा है। अन्य सखियों के सामने संकोच कर जाने वाली गोपी आज अकेली रहकर सभी कामनाएँ पूर्ण कर लेना चाहती है।

'मानिनी' के मान की सार्थकता इसी में है कि उसके प्रियतम आकर मनुहार करे। जब तक ऐसा नहीं होता वह अपना मान नहीं त्यागती। यदि सखि के कहने से ही वह मान छोड़ दे तो सम्भवतः प्रिय की दृष्टि में वह अपना 'मान' नहीं बनाए रख सकती। 'नाममाला' मे भी मानवती की कथा में राधा जब तक यह नहीं जान लेती कि श्रीकृष्ण उसके लिये कितने व्याकुल है तब तक मान नहीं त्यागती। यही भाव पदावली के निम्न पद मे भी लक्षित होता है—

दौरी दौरी आवत, मोहि मनावत,
दाम खराचि मनों मोल लई री।
अँचरा पसारि कै मोहि खिजावत,
तेरे बाबा की का हौं चेरी भई री॥
जा री जा सखि भवन आपुने,
लाख बात की एकु कही री।
नन्ददास प्रभु क्यों नहि आवत,
उन पाँयन कछु मेंहदी दई री॥[3]

इस प्रकार ऊपर दिए गए व्यंजना के विविध प्रयोगों से स्पष्ट है कि नन्ददास

---

१. काहे आइ न देखियै रानी जू, अपने सुत के करम।
भाजन, भवन एकु नहि राख्यो, कह्यौं तो
आगें हँसि परे हैं ऐसें जाने का कोऊ मरम॥
दिन-दिन की हानि, दूजें राखत न नैंकों कानि,
कहो जू बसिबे कों कौन सों धरम॥ नं० ग्रं०, पदावली १०७

२. वही, पदावली, पद-संख्या ११५

३. वही, पदावली, पद-संख्या १२६

ने व्यंजना का प्रयोग चमत्कार के लिये नही, भाव-व्यजना को अधिक स्पष्ट और मार्मिक बनाने के लिए किया है। यद्यपि लीला-वर्णन के पदों में व्यजना का उतना विस्तार नही है जितना उपालम्भ के पदों में। पर उसका प्रयोग सभी स्थानों मे समान रूप से भाव-व्यंजक रहा है।

चित्र-योजना

काव्य-कला के सम्बन्ध मे विचार करते हुए ऊपर हमने यह स्पष्ट किया था कि भावाभिव्यक्ति के मुख्य साधन भाषा की समृद्धि और सजावट में कल्पना एवं निर्माण शक्ति का बहुत कुछ योगदान रहता है। कल्पना का यह सहयोग चित्र-योजना में सबसे अधिक लक्षित होता है। कल्पना वस्तुतः मूर्ति-निर्माण करनेवाली मानस क्रिया है। इसीलिए कल्पना की परिभाषा करते हुए श्री केदारनाथसिंह ने कहा है कि 'भाव के स्तर पर दृष्ट वस्तुओं में अदृष्ट सम्बन्ध-सूत्रों को खोज निकालने वाली मानस-क्रिया का नाम कल्पना है।'[1] सारांश यह कि कल्पना के द्वारा कवि अदृष्ट आन्तरिक अनुभूति को किसी ऐसे रूप या बिम्ब द्वारा प्रस्तुत करता है जिससे वह भावानुभूति सहजग्राह्य हो सके। स्पष्ट है कि चित्र-योजना मे कल्पना का योगदान बिम्ब अथवा मूर्ति-निर्माण करना है। कल्पना के जिन विभिन्न रूपों की विस्तार से चर्चा आइ० ए० रिचर्ड्स ने की है उनमें से बिम्ब-निर्माण अथवा मूर्ति-निर्माण सर्वप्रथम है।[2]

काव्य-बिम्ब एक प्रकार से ऐन्द्रिय शब्द-चित्र है जो कुछ अंशों तक अलंकारपूर्ण होता है, जिसके सन्दर्भ में मानवीय संवेदनाएँ निहित होती है तथा जो पाठक के मन में विशिष्ट रागात्मक भाव उद्दीप्त करता है।[3] बिम्ब की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि काव्य में अर्थ या भाव को अधिक स्पष्ट, ग्राह्य अथवा संवेद्य बनाने में बिम्ब-विधान का विशेष योग है। आचार्य शुक्ल ने भी काव्य-बिम्ब के इस महत्त्व को स्वीकारा है। उनके अनुसार काव्य की कोई उक्ति कान मे पड़ते समय जब कथावस्तु के साथ वक्ता या बोधक पात्र की कोई मूर्त्त भावना-सी खड़ी रहती है तभी पूरी तन्मयता प्राप्त हो सकती है।[4] अपने आशय को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते है—'काव्य में अर्थ-ग्रहणमात्र से काम नहीं चलता, बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्बग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त्त विषय का ही हो सकता है।'[5] बिम्ब विधान का महत्त्व स्वीकार करते हुए आचार्य शुक्ल ने यह स्पष्ट कर दिया है कि बिम्ब-विधान की प्रक्रिया अनुभूति की तीव्रता के बिना सम्भव नही है क्योंकि बिम्बों द्वारा जिस तथ्य को सामने लाने की चेष्टा की जाती है वह जीवनानुभूति द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। अतः स्पष्ट है कि

---

१. कल्पना और छायावाद, केदारनाथसिंह, पृष्ठ ३
२. Principle of Literary criticism, I. A. Richards
३. Poetic Image, C. D. Lewis, Page 22
४. चिन्तामणि, भाग १
५. वही, भाग १, कविता क्या है, पृष्ठ १४५

विम्ब विधान की सफलता जीवन और प्रकृति के निरीक्षण में सम्भव है।

कविता में स्थूल रूप से बिम्ब की दो उपयोगिताएँ हो सकती हैं[1]—

(१) इन्द्रियगत विशिष्टता—(Sensuous particularity) जो काव्य को संगीत तथा चित्रकला से जोड़ती है और दर्शन तथा विज्ञान से अलग करती है।

(२) अलंकृति—जो काव्य को संक्षिप्तता प्रदान करती है और उसमें व्यंजकता लाती है तथा सरसता प्रदान करती है।

इन दो उपयोगिताओं को सम्मुख रखकर बिम्ब के अनेक रूप माने गये हैं जिनके विस्तार में जाने की हमें आवश्यकता नहीं है। इनमें से प्रमुख वर्ग तीन हैं—[2]

(१) वस्तुप्रधान बिम्ब

(२) भावप्रधान बिम्ब और

(३) अलकारप्रधान बिम्ब

इन सभी में बिम्ब के तीन सिद्धान्तों का पूर्णतया पालन होता है—

(१) विषय या विषयी का प्रत्यक्ष चित्रण

(२) अनावश्यक शब्द का वर्जन

(३) रचना का आधार छन्द न होकर संगीत।

चित्र-योजना के सन्दर्भ में बिम्ब की चर्चा हमें इसलिए करनी पड़ी कि चित्र और बिम्ब का परस्पर सम्बन्ध दिखाया जा सके। उपर्युक्त तीन वर्ग के बिम्बों में से प्रथम का सम्बन्ध लक्षित चित्र-योजना से है और अलंकार की चर्चा उपलक्षित चित्र-योजना अथवा अप्रस्तुत योजना के अन्तर्गत की जाती है। किन्तु काव्य-बिम्ब का सर्वोत्कृष्ट रूप भाव बिम्ब में दृष्टिगत होता है जिसे चित्र की रेखाएं बांध नही पातीं। रेखाएँ चाहे स्पष्ट हों या न हों पर बिम्ब अमूर्त्त नहीं हो सकता। इसीलिए चित्र-विधान के लिए बिम्बविधान शब्द का भी प्रयोग कर दिया जाता है। वैसे बिम्ब अथवा चित्र कवि के भावों को आकार एवं मूर्त्त रूप देकर अधिक संवेद्य बनाने के साधन हैं। आगे नन्ददास की चित्र-योजना पर हम लक्षित चित्र-योजना और अप्रस्तुत योजना शीर्षक के अन्तर्गत विचार करेंगे।

लक्षित चित्र-योजना—कवि जहाँ अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तु के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उनके आसपास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है—वहाँ लक्षित चित्र-योजना स्वीकार की जाती है। वस्तु के इस चित्रण में कवि की संवेदना ही प्रधान रहती है। संवेदना की यह प्रधानता व्यक्तिचित्र और सामूहिक-चित्र—दोनों में उपलब्ध होती है। संवेदना के अभाव में चित्र कभी सजीव नहीं हो सकते। स्पष्ट है कि चित्रण-कला का आधार यही संवेदना है जिसे शब्द-चित्र के द्वारा कवि पाठक या श्रोता के लिए संवेद्य बनाता है। जिस कवि में संवेदना अथवा भावानुभूति जितनी अधिक तीव्र होगी उसका चित्रण उतना ही सजीव होगा और उसमें हृदय को स्पर्श

१. कल्पना और छायावाद, श्री केदारनाथसिंह, पृष्ठ ७३

२. आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प, डॉ० कैलाश वाजपेयी, पृष्ठ ८०

करने और रसानुभूति कराने की उतनी ही अधिक सामर्थ्य होगी।

लक्षित चित्र-योजना मे कवि की चित्रण-कला विभावपक्ष, अनुभावपक्ष, प्रकृति और वातावरण के सम्यक् विधान द्वारा चित्र को मूर्तमान करने का प्रयत्न करती है। नन्ददास की अधिकांश काव्य-रचनाओं में उक्त सभी प्रकार के चित्र उपलब्ध हो जाते है। इन चित्रों के दो वर्ग हैं—(१) सामूहिक चित्र और व्यक्ति चित्र। इन्हीं के आधार पर नन्ददास की लक्षित चित्र-योजना पर प्रकाश डाला जा सकता है।

सामूहिक चित्र रास, होली, झूलन, जन्म-बधाई आदि उत्सवों के वर्णन मे देखे जा सकते हैं। रास एक सामूहिक नृत्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसका वर्णन रासपंचाध्यायी, सिद्धान्तपंचाध्यायी और पदावली में हुआ है। रास के इन चित्रों मे संगीत, नृत्य-गति, अभिनय आदि को मूर्त्तिमान करने का यत्न है।

मृदुल मुरज टंकार तार झंकार मिली धुनि।
मधुर जंत्र की सार भँवर गुंजार रली पुनि॥
तैसिय मृदु पद पटकनि चटकनि कठतारन की।
लटकनि भटकनि झलकनि कल कुंडल हारन की।[1]

रासपचाध्यायी में वर्णित इस सामूहिक नृत्य में प्रत्येक पात्र के व्यक्तिगत योगदान के चित्र भी नन्ददास ने प्रस्तुत किये है। विभिन्न रेखाओं द्वारा भावाभिनय का यह चित्र लिया जा सकता है।

कोउ नायक को भेद भाव लावन्य रूप सब।
अभिनय कर दिखरावति गावति गुन पिय के जब॥[2]

इन चित्रो में भाव और रूप को मूर्त्तित करने की चेष्टा में रेखाओं का ही योग-दान है, रंग का नही। सिद्धान्तपंचाध्यायी का रास-वर्णन अधिक विशद नहीं है पर जो दो-चार नृत्य-चित्र उपलब्ध होते हैं उनमें उपर्युक्त चित्रों की शैली का ही अनुकरण किया गया है। पदावली के रास-वर्णन में गोपी-कृष्ण और राधा-कृष्ण—दोनों के संयुक्त नृत्य प्रस्तुत किये गये है। संगीत और नृत्य गति के अतिरिक्त रूप-चित्रण में कवि ने रेखाओं के साथ रंग की भी योजना की है। नन्ददास का यह अत्यधिक प्रसिद्ध पद इसी बात को स्पष्ट करता है।

देखो री नागर नट निरतत कलिंदी-तट,
गोपिन के मध्य राजै मुख की लटक।
काछनी किंकनी कटि पीतांबर की चटक
कुडल-किरन रवि-रथ की अटक॥
तत थेई तत थेई सवद सकल घट
उरप तिरप मानो पद की पटक।

---

१. नं० ग्रं०, रासपंचाध्यायी, ५—७-८
२. वही, रासपंचाध्यायी, ५-१३

रास मध्य राधे राधे मुरली में येई रट
'नन्ददास' गावै तहाँ निपट निकट ॥[1]

इन पंक्तियों में रंग का समावेश पीताम्बर पट और रवि-किरणों के समान दीप्तिमान कुण्डलों के कारण हुआ। 'कालिन्दी-तट' भी इसमें सहयोग देता है क्योंकि कालिन्दी श्याम वर्ण की है और फिर वालुका का सामीप्य ज्योत्स्ना के प्रसार में सर्वदा सहायक होता है। इसी प्रकार राधा के रूप-वर्णन में 'दामिनी-सी दरसे रूप गुन आगरी'[2] कहकर राधा को विशिष्ट रंग द्वारा सूचित कराया गया है। रेखा और रंग के सहयोग से नृत्य संगीत, वातावरण और रूप का सुन्दर समन्वित चित्र रास-सम्बन्धी इस पद में देखा जा सकता है—

आली मंद मंद मुरली धुनि बाजत निरखत कुँवर कन्हैया।
जैसोइ सरद चाँदनी निर्मल तैसोई बनी है दुलहिया॥
चंदन खौर वनमाल हिये मनों कंचन बेलि उलहिया।
'नंददास' प्रभु को छबि निरखत दुहूँ की लेत बलैया॥[3]

रेखाओं के अङ्कन द्वारा मुरली बजाती हुई सखि और नृत्य करते हुए कृष्ण का चित्र बहुत सजीव है। रूप-वर्णन में कवि ने शरद चाँदनी के द्वारा गौर वर्ण सूचित किया है। 'चंदन खौर' और 'वनमाल'—दोनों अपने-अपने रङ्गों द्वारा चित्र की शोभा बढ़ाने में योग देते हैं।

रास के अतिरिक्त अन्य उत्सवों का वर्णन केवल पदावली में प्राप्त होता है। पुत्र-जन्म हिन्दी-जीवन में विशेष आनन्द का उत्सव है। गाँव में जहाँ उत्सवों की सामूहिकता अधिक लक्षित होती है, कृष्ण-जन्म-उत्सव भी उल्लास के साथ मनाया जा रहा है। नन्ददास ने उसी उल्लास को अपनी लेखनी द्वारा सजीव कर दिया है।

ठनगन तें सब बाम, बसनन सजि सजि कैं गई।
रोहिनि अति बड़ भाग, आदर दै भीतर लई॥
बिछुवन की झनकार, गलिन-गलिन अति ह्वै रही।
हायन कंचन थार, उर पर झमकन च्वै रही॥
... ...
निरखि कमल-मुख चारु, आनंद-मय मूरति भई।
अंचल चंचल छोर, मन-भाई आसिस दई॥
राइ चौक में घोरि, छिरकत दधि हरदी सकल।
पकरि पकरि कैं ग्वाल, बोलत भुज सों भुजन पल॥[4]

उक्त पद में तीन चित्र एक साथ प्रस्तुत किये गए हैं। आभूषण और विभिन्न

---

१. वही, पदावली, पद-संख्या ११६
२. वही, पदावली, पद-संख्या १२४
३. वही, पदावली, पद-संख्या १२५
४. वही, पदावली, पद-संख्या २७

रङ्गों के वस्त्र धारण किये हुए व्रजबालाएँ यशोदा के घर जा रही है और वहाँ रोहिणी उन्हें आदर दे-देकर घर के भीतर ले जा रही है। यहाँ रङ्ग और रेखा दोनो का उपयोग है। 'बसननि सजि सजि' में रङ्गों का उल्लेख न होते हुए भी यह संकेत अवश्य मिलता है कि गोपियों ने उत्सव के अनुकूल विविध रङ्गों के वस्त्र धारण किये हैं। 'कंचन थार' भी सुनहरे रङ्ग का सूचक है। गोपियों के आने का क्रम अटूट है यह बात गलियो में बजने वाली 'बिछुवन की झंकार' द्वारा व्यक्त की गई है। दूसरा चित्र घर के भीतरी भाग का है। श्रीकृष्ण-मुख देख गोपियों का वदन प्रसन्नता से खिल उठा है और वे श्रीकृष्ण को 'मन-भाई' आशीर्वाद देती खडी है। इसमें केवल रेखाओं का काय हैं। तीसरा चित्र पुरुष वर्ग का है जो उल्लास मग्न हो 'दधि-हरदी' छिड़कते हुए एक दूसरे को अपनी भुजाओं में ले रहे हैं। इस चित्र में दधि-हरदी द्वारा रङ्ग का प्रसार किया गया है और रेखाओं द्वारा गाँवों के गतिपूर्ण उल्लास को मूर्त्तित किया गया है। इस प्रकार उक्त तीनों चित्रों द्वारा सङ्गीत, गति और भाव को आकार देने की चेष्टा है।

होली के चित्रों में रङ्गों की तीव्रता स्वाभाविक है। इस उत्सव की सार्थकता ही दूसरे का कायाकल्प करने में है। अतः यहाँ रेखाएँ बहुत कम हैं—केवल रङ्ग का प्रसार और होली के खिलाड़ियों की गतिशीलता तथा सङ्गीत का सजीव चित्र प्रस्तुत करना नन्ददास का उद्देश्य है।

आजु साँवरे-सलौंने सों होरी खेलन जैऐ।
बड़े बड़े माँट भराइ रंग सों, पिचकारिन छिरकैऐ।
खेलत-खेलत रंग रह्यो अति, अबीर गुलाल उड़ैए।
'नंददास' प्रभु होरी गावत आनंद-सिन्धु बढ़ैए ॥[1]

होरी के चित्रों में रेखाओं का प्रयोग भी रूप की स्पष्टता के लिए हुआ है किन्तु वहाँ अप्रस्तुतो के कारण चित्र की स्वाभाविकता नही आ पाती। वैसे नन्ददास ने रङ्गों की ओर विशेष ध्यान दिया हैं।[2] झूलन के चित्रो का सौन्दर्य वातावरण चित्रण रहा हैं। यमुना तट, सघन-लता कुञ्ज, चारों ओर फूलों का प्रसार आदि वातावरण चित्रण के ही अङ्ग है। किन्तु ये चित्र स्थिर नहीं है। क्योकि राधा-कृष्ण का परस्पर अथवा सखियों से मधुर-मधुर बात करना एवं मुस्कराना भी शब्द चित्र का विषय है।

---

१. वही, पदावली, पद-संख्या १८७

२. आजु हरि खेलत फागु बनी।
इत गोरी रोरी भरि भोरी, उत गोकुल को धनी।।
चोवा कों ढोवा भरि राख्यो, केसर-कीच घनी।
अबिर गुलाल उड़ावत गावत, सारी जात सनी ॥
हाथन लसत कनक पिचकारी, ग्वालन छूट छनी।
'नंददास' प्रभु होरी खेलत, मुरि मुरि जात अनी ॥
वही, पदावली, पद १८१

वातावरण और पात्रों के परस्पर व्यवहार के सूक्ष्म निरीक्षण और अभिव्यक्ति ने चित्र को सजीव बनाया है।

झूलत राधा-मोहन कालिन्दी के कूल।
सघन-लता सुहावनी चहुँ दिसि फूले फूल।
सखी सबै चहुँ दिसि तें आई कमल-नैन की ओर।
बोलत बचन सुहावने 'नंददास' चित-चोर ॥[1]

यहाँ वातावरण-चित्रण में जहाँ रंग का उपयोग है वहाँ सखियों की मुख-मुद्रा और राधा-कृष्ण का आकर्षक रूप चित्रित करने में रेखाओं का विशेष रूप से सहारा लिया गया है। जहाँ फूलों से हिंडोरा तैयार करवाया गया है वहाँ की रंगीन-शोभा विशेष आकर्षक बन पड़ी है। किन्तु नन्ददास ने रंग की विविधता का होली-जैसा परिचय यहाँ कहीं नहीं दिया और कहीं-कहीं तो रंग की एकता चित्र के सौन्दर्य को बहुत कुछ कम भी कर देती है।

आली सावन की फून्यो हरियारी, हरी भूमि
सोहत पिय संग झूलौंगी नवल-हिंडोरैं
बरषत मेह, लागत प्यारी मोहि,
सखी आजु प्रीतम को प्रेम-रँग बोरैं।
पीत कुलह राजैं, चूनरी सुपीत साजैं,
लहँगा पीत, कंचुकी पीत सोहे तन गोरैं।
झूलन में लोट-पोट होत दोऊ रंग-भरे,
निरखि छबि 'नन्ददास' बलि बलि तृन तोरैं ॥[2]

यहाँ पीत रंग का जो प्रसार राधा के वस्त्रों में दिखाया गया है वह चित्र के सौन्दर्य का साधक नहीं कहा जा सकता। यह वर्णन वसन्त का भी नहीं है। सम्भवतः कवि ने 'हरियारी' पृष्ठभूमि की तुलना में यह रंग स्वीकार कर लिया हो। वैसे चित्र में गति कम है—रेखाओं द्वारा भावचित्रण और हँसी को सूचित किया गया है।

व्यक्तिगत चित्रों में आलम्बन के अधिकांश चित्र रूप-सम्बन्धी हैं। साधारणतया रूप-चित्रण में नन्ददास ने अप्रस्तुत योजना का प्रयोग किया है। किन्तु ऐसे चित्र उपलब्ध हो जाते हैं जिनमें रंग और रेखा का आश्रय लेकर व्यक्ति-विशेष के सौन्दर्य को आकार दिया गया है। शरत्कालीन रात्रि के समय वंशी ध्वनि सुनकर प्रियतम श्रीकृष्ण से मिलन के लिए जाती हुई एक युवती का सौन्दर्यपूर्ण गत्यात्मक चित्र निम्न छन्द में प्रस्तुत किया गया है।

चलत अधिक छबि फबी स्रवन में कुंडल झलकैं।
संकित लोचन चपल ललित छबि विलुलित अलकैं।[3]

---

१. नं० ग्रं०, पदावली, पद १५८
२. वही, पदावली, पद १६१
३. नं० ग्रं०, पृष्ठ २१

यहाँ रेखाओं के सहारे ब्रज-सुन्दरी के अभिसार की अवस्था का सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है। संकित लोचन'—ये दो शब्द उसकी मुख-मुद्रा की एक-एक रेखा उभार कर सामने ले आते हैं। और 'विलुलित अलकै' उसके मुख की ललित छवि को और भी अधिक शोभायुक्त बनाकर प्रस्तुत करती है। इस प्रकार नन्ददास ने मुख पर अंकित सजगता, शोभा और उल्लास को रेखाओं के माध्यम से मूर्त्तित कर दिया है। अनेकार्थभाषा में श्रीकृष्ण की ललित छवि का ऐसा ही चित्र हलकी-गहरी रेखाओं द्वारा प्रस्तुत किया गया है।[1] पर यह चित्र रास के चित्र की भाँति गतिशील न होकर स्थिर चित्र है। श्रीकृष्ण-सौन्दर्य का एक अन्य स्थिर चित्र भाषा दशमस्कन्ध में प्राप्त होता है। इसमें रंग और रेखा का बहुत उपयुक्त समन्वय प्रस्तुत किया गया है। रंगों में भी विविधता लक्षित होती है।

पीत बसन बनमाल रसाल। मोरचन्द छवि छाजति भाल ।।
सखा अंस बाई भुज दिये। केलि-कमल दच्छिन कर किये ।।[2]

श्रीकृष्ण के इस चित्र मे वस्त्र का पीलापन बनमाला की बहुरंगिमा और मोर-मुकुट की नीलिमायुक्त श्यामता एक उत्तम रंगीन चित्र प्रस्तुत करती है। दूसरी पंक्ति में रेखाओं का विस्तार है। भाषा-दशमस्कन्ध के अन्य स्थल पर पूतना के रूप में नारी सौन्दर्य का चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस सौन्दर्य की अपूर्वता को देखकर सभी गोप-ग्वाल स्तब्ध रह जाते है। नारी सौन्दर्य का इतना सजीव चित्र सम्भवतः नन्ददास ने राधा का भी नहीं खीचा है।

अद्भुत बनिता वेष बनाइ। अंग-अंग रूप अनूप चुवाइ।
ललित सुभूषन ललित दुकूल। खसि खसि परत सीस ते फूल ।।
कंठ में हीरा, आनन बीरा। पाइनि बाजत मंजु मँजीरा ।।
लटकि चलति तब को छबि गनौ। परिहै टूटि लटी कटी मनौ ।।
कमल फिरावति नैन दुरावति। मधुर-मधुर मुसकति छवि पावति ।।[3]

शृंगार अपने सभी सहयोगी हाव-भावों से युक्त हो वेष धारण कर प्रस्तुत हो गया है। सौन्दर्यप्रिय कवि नन्ददास स्वयं इस रूप-चित्रण में इतने खो गये है कि वे सन्दभ बिल्कुल भूल गए हैं। यदि माता के रूप मे पूतना का चित्र प्रस्तुत किया गया होता तो वह अधिक औचित्यपूर्ण और भावोत्कर्षक हो सकता था। किन्तु सौन्दर्य और यौवन नन्ददास की बहुत बड़ी कमजोरी है। दोनों का वर्णन उन्हे अत्यधिक प्रिय है। अतः अवसर प्राप्त होने पर वे अपने को संयमित नही रख पाते। उन्होने केवल युवावस्था के सौन्दर्य का ही चित्रण अपने काव्य में नही किया है। श्रीकृष्ण की बाल-छवि के भी

---

१. दल बरही के चंदसिर, धरे श्याम अभिराम ।। अनेकार्थभाषा, २५
२. नं० ग्रं०, भाषा दशमस्कन्ध, पृष्ठ २६१
३. वही, भाषा दशमस्कन्ध, पृष्ठ २०७

अनेक गत्यात्मक[1] और स्थिर चित्र[2] उनके काव्य में प्राप्त हो जाते हैं। सजीवता की दृष्टि से यह गत्यात्मक चित्र अत्यधिक मनोहारी हैं।

नंद को लाल, ब्रज पालनें झूलें।
कुटिल अलकावली, तिलक गोरोचन, चरन-अंगुठा मुख किलक-किलक फूलें ॥
नैननि अंजन सुरेख, भेष अभिराम साँचे, कंठ केहरि-नख, फिकन कटि झूलें।
'नंददास' के प्रभु नँद-नंदन, कुंवर निरखि नागरि देह, गेह भूलें ॥[3]

निरीक्षण की सूक्ष्मता का परिचय इस पद की विशेषता है। श्रीकृष्ण का किलकारी भर कर हाथ-पाँव फेंकना चित्र को गति प्रदान करता है। रेखाएँ बहुत स्पष्ट हैं। कृष्ण के प्रत्येक अंग को उनके आभूषण-सहित आकार दिया गया है। चित्र में रंग-योजना भी 'अलकावली', 'गोरोचन' और 'अंजन' शब्द के द्वारा की गई है। इस प्रकार रंग-रेखायुक्त कृष्ण की शैशवावस्था का यह चित्र नन्ददास के सूक्ष्म सौन्दर्य-निरीक्षण का परिचायक है। सौन्दर्य के इन चित्रों के अतिरिक्त कवि ने मिलन[4], कामदेव-मूर्च्छा[5], सम्भोग-तृप्ता नायिका[6] और परस्त्री-संभोगरत नायक[7] का चित्र भी खींचा है।

अनुभाव चित्र की योजना 'रुक्मिणी मंगल' और 'पदावली' में देखी जा सकती

---

१. जसुदा गहति धाइ वैयाँ, मोहन करत,
न्हैयाँ न्हैयाँ 'नंददास' बलि जाइ रे ॥ वही, पदावली, पद ३६

२. माधो जू ! तनिक सो वदन-सदन-सोभा कों
तनिक भृकुटि पै तनिक दिठौना। वही, पदावली, पद ४०

३. वही, पदावली, पद ३४

४. कोउ चटपटि सों उर लपटीं कोउ कर वर लपटीं।
कोउ गल लपटी कहति भलें भलें कान्हर कपटी ॥
नं० ग्रं०, रा० पं०, पृष्ठ १५

५. मुरछि पर्‌यो तब मैन कहूँ धनु कहुँ निषंग सर।
लखि रति पति की दसा भीत भई मारति उर कर ॥
नं० ग्रं०, रासपंचाध्यायी, पृष्ठ ६

६. सेज ते उठति सुरत रस माती। सखि तन मधुर-मधुर मुसकाती।
सगबगि अलकें श्रमकन झलकें। सोहति पीक पगी द्रग पलकें ॥
राजत नैन पीक रस पगे। हँसि हँसि हरि प्रीतम मुख लगे ॥
नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पृष्ठ १२५

७. अंजन अधर, ललाट महावर, राजत पीक कपोल ॥
घूम रहे रजनि जागे से, दुरत न काम कलोल ॥
नख निसान राजत छतियन पै, निरखौं नैन निहार।
झूम रहीं अलकें अलबेली, पाग के पेंच संवार ॥
नं० ग्रं०, पदावली, पृष्ठ ३०७

है । 'रुक्मिणी मंगल' में ये चित्र अधिक व्यक्त नहीं है—अपूर्ण हैं ।[1] किन्तु पदावली के चित्रों की रेखाएँ काफी गहरी होने के कारण रूप-विधान को बहुत स्पष्ट कर देती हैं। पूर्वानुराग सम्बन्धी पदों में श्रीकृष्ण के रूप-सौन्दर्य को देख बावरी हो जाने वाली गोपिका का चित्र हमारे आशय को भली-भाँति स्पष्ट कर देता है ।

> कृष्ण नाम जब तें स्रवन सुन्यौ री आली,
> भूली री भवन हौं तो बावरी भई री।
> भरि भरि आवें नैन, चितहूँ न परे चैन,
> मुखहू न आवे बैन, तन की दसा कछु और भई री ॥[2]

इस चित्र द्वारा कवि ने शारीरिक चेष्टाओं द्वारा मन की व्याकुलता का बहुत स्पष्ट चित्र प्रस्तुत किया है । अश्रुप्रवाह, वाणी का मूक हो जाना आदि अवस्थाएँ 'तन की दशा और भई' की पोषक है । भ्रमरगीत में 'सुनत स्याम को नाम बाम गृह की सुधि भूली'[3]—कहकर कवि ने ऐसी ही मानसिक विकलता व्यंजित की है । किन्तु यहाँ कवि का ध्यान शरीर की उन दशाओं की ओर रहा है जिन्हें रेखाएँ अपनी सीमा में नहीं बाँध सकती । कम्प, स्वेद, कण्ठ का गद्गद् होना—ऐसे ही सात्विकी भाव हैं ।

रूप-ठगौरी के कारण व्याकुल दशा को प्राप्त गोपिका का विशद चित्र ब्रज-बालाओं के प्रेम-प्रसंग में प्राप्त होता है । पनघट-लीला के अन्तर्गत इन पदों की चर्चा की जाती है । इनमें प्रेमरता गोपी की जड़ता, व्याकुलता, विस्मृति आदि अनेक मानसिक दशाओं को रूप दिया गया है ।[4] प्रेम-तीव्रता और सकोच के बीच समझौता करने वाली गोपिका का यह चित्र अत्यन्त मधुर है ।

> बन तें जु आवत मारग में भई भेंट,
> सकुच रही री हौं इन लोगन के लीने ॥
> कोटि जतन करि हारी मोहन निहारिबे को
> अचरा की ओट दै-दै कोट स्रम कीने ।

---

१. इहि विधि धरि मन धीर चीर अँसुवन सिराय कै ।
लिख्यो पत्र सु विचित्र, चित्र रुक्मिनी बनाय कै ॥
नं० ग्रं०, रुक्मिणीमंगल, पृष्ठ १७६

२. नं० ग्रं०, पदावली, पृष्ठ २९७

३. नं० ग्रं०, भ्रमरगीत, छन्द ३

४. आवत ही जमुना भरि पानी ।
स्याम रूप काहू कों ढोटा, बाँकी चितवन मेरी गैल भुलानी ॥
मोहन कह्यौ तुमको या ब्रज में, नहि जानी पहिचानी ।
ठगि सी रही, चेटक सों लाग्यो, तब तें व्याकुल फुरत न बानी ॥
जा दिन तें चितयो री मो तन, ता दिन तें उन हाथ बिकानी ।
'नंददास' प्रभु यौ मन मिलि गयो, ज्यों सारंग में पानी ॥
वही, पदावली, पद ८४

'नंददास' प्रभु प्यारी वा दिन तें मेरे नैन.
उनहीं के अंग संग, रंग रस भीने ॥[1]

संकोच का ऐसा आह्लाद-भरा चित्र होली के प्रसङ्ग मे कवि ने प्रस्तुत किया है। राधा सखियों से कृष्ण के प्रति अपने सम्बन्ध की मधुर बात सुनकर हँसती भी है, लजाती भी है।[2] यह दृश्य बहुत मनोहर है।

प्रकृति और वातावरण के चित्र कोष-ग्रन्थों को छोड़कर प्रायः सभी काव्य रचनाओं में उपलब्ध हो जाते है। रासपंचाध्यायी में यमुना का यह चित्र कितना स्वाभाविक और मनोहारी है—

कल विटपनि सों लपटि लता फूली झूलीं जल।
विलसत सारस हँस वँस विगसत अंवुज दल ॥[3]

दो पंक्तियों मे ही कवि ने यमुना की छवि को साकार कर दिया है। वृक्षों से लिपटी लताएँ, तैरते सारस एवं हँस और जल मे खिले कमल—एक संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करते है। रेखा के साथ रंग की योजना केवल विभिन्न प्राकृतिक तत्त्वों के कथन मात्र से हो जाती है। चित्र में स्थिरता-सी लगती है किन्तु यमुना की चञ्चल तरङ्गें और उसमें तैरते पक्षी—चित्र को गति प्रदान करते हैं। इसी प्रकार पुष्प-गंध से सुरभित कुञ्जें जिनमे भँवरे गुञ्जार कर रहे है, एक सामान्य परन्तु मादक चित्र प्रस्तुत करती हैं।[4]

नन्ददास ने रूपमंजरी में षड्ऋतु के द्वारा और विरहमंजरी में बारहमासा के रूप में सभी ऋतुओं और उसके प्रभाव का वर्णन किया है किन्तु इन सभी के वर्णन में अप्रस्तुत-योजना के माध्यम से उनके स्वरूप और विविध पक्षों को चित्रित किया गया है। पदावली में कुछ लक्षित चित्र प्राप्त होते है—यद्यपि वहाँ भी अप्रस्तुत-विधान की ओर कवि का ध्यान रहा है। विशिष्ट ऋतु के चित्रण में कवि ने उसके उपयुक्त सामग्री को एकत्र करके उस ऋतु के अनुकूल वातावरण तैयार किया है।

जँह तँह बोलत मोर सुहाए।
सावन रमन भवन बृंदावन, घुमड़ि-घुमड़ि-घन धाए ॥
नैन्हीं-नैन्हीं बूंदन बरखन लागे, ब्रजमंडल पर छाए ॥
'नंददास' प्रभु सखा संग लियें मुरली कुंज बजाए ॥[5]

इसी प्रकार वसन्त ऋतु के चित्र में रंग, सौरभ, संगीत और सौन्दर्य को एक

---

१. वही, पदावली, पद-संख्या ८१
२. गावन लागीं ग्वालिन गारी, सुन्दर लाल लगाइ।
राधा गारि सुनत हँसि हँसि कै हेरति हरिहि लजाइ ॥
वही, पदावली, पद १८३
३. नं० ग्र०, रासपंचाध्यायी, परिशिष्ट, दोहा ६८
४. कुसुम घूरि घूंघरि सुकुंजें। मधुकर निकर करत तँह गुंजें ॥
नं० ग्र०, विरहमंजरी, पृष्ठ १४५
५. नं० ग्र०, पदावली, पृष्ठ ३२६

साथ प्रस्तुत किया गया है । कोकिल और मोर की उपस्थिति मधुर संगीत का आभास दे देती है ।

> लहकनि लागी वसंत वहार सखि ! त्यों त्यों बनवारी लाग्यौ वहकनि
> फूले पलास नख-नाहर कैसे, तैसोई क लाग्यो री महकनि ।
> कोकिल, मोर, सुक, सारस, खंजन, भ्रमर देखि अँखियां लगीं ललकनि;
> नंददास प्रभु पिय-अगवानी, गिरिधर-पिय को निरखि भयों स्रमकनि ।[1]

प्रकृति एवं वातावरण के इन चित्रों मे कवि ने सौन्दर्य पर विशेष ध्यान रखा है । यद्यपि प्रकृति के विभिन्न उपादान मधुर लीला में सहायक हुआ करते हैं किन्तु उनका अपना सौन्दर्य भी होता है । नन्ददास ने जहाँ उनके उद्दीपक पक्ष को देखा वहाँ उनके सुन्दर रूप पर भी दृष्टि रखी है । इसीलिए उनके वातावरण-चित्रण का सौन्दर्य की दृष्टि से स्वतन्त्र महत्त्व है ।

नन्ददास की लक्षित चित्रयोजना जीवन और प्रकृति से उनके गहरे संस्पर्श को सूचित करती है । जीवन में उन्होंने यौवन को काव्य का आधार माना है किन्तु बाल्यावस्था के भी चित्र यहाँ उपलब्ध होते हैं । चित्रयोजना में रेखाओं का संयोजन करते समय उन्होंने कायिक और मानसिक—दोनों अवस्थाओं के चित्रण पर ध्यान रखा है। इसीलिए उनके चित्र सजीव चित्र है जिनमें रूप है, रंग है और संगीत है । वे स्थिर भी हैं पर गतिशील अधिक हैं। आवश्यकतानुसार इन चित्रों की रेखाओ मे गहराई और हलकापन लाया गया है । यह आदर्श व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार के चित्रो के लिये स्वीकार किया गया है ।

अप्रस्तुत योजना

अप्रस्तुत-योजना मूर्त्ति-विधान का महत्त्वपूर्ण साधन है । इसके द्वारा कवि सामान्यतया बाह्य-जगत् की वस्तुओं के साम्य अथवा वैषम्य से अभीष्ट अर्थ को अधिक स्पष्ट और ग्राह्य बनाने का प्रयत्न करता है । आचार्य शुक्ल के अनुसार अलंकार एवं अप्रस्तुत-योजना के दो लक्ष्य हैं—(१) भावों का उत्कर्ष दिखाना और (२) वस्तुओं के रूपानुभव, क्रियानुभव और गुणानुभव को तीव्र करना ।[2] इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जहाँ वह साम्य और वैषम्य का आश्रय लेता है वहाँ अतिशयता, औचित्य और वक्रता का भी सहयोग प्राप्त करता है । इनके अतिरिक्त कभी-कभी चमत्कार की भावना भी अलंकारों के नियोजन में लक्षित होती है । इसी बात को स्पष्ट करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने कहा है, 'अलंकारो के मनोवैज्ञानिक आधार है स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल । इनके मूर्त्त रूप है—साधर्म्य, अतिशय वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार (बौद्धिक) ।'[3] इसी आधार पर अलंकारों का विभिन्न

---

१. नं० ग्र०, पदावली, पृष्ठ ३२७

२. गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १२९

३. रीतिकाव्य की भूमिका, डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ८७

वर्गों में विभाजन किया जा सकता है।

अर्थ और भाव के साथ अलङ्कारों को सम्बद्ध करने से यह बात सिद्ध हो जाती है कि अलङ्कार काव्य के बाह्य-साधन नहीं हैं। उनका सम्बन्ध रसानुभूति में सहायक होने के कारण काव्य के अन्तरंग से है। यदि कवि काव्य के भाव को छोड़कर केवल चमत्कार की ओर अपना ध्यान देता है तो उसके द्वारा न तो भावों का उत्कर्ष सम्भव है और न ही अर्थ की प्रभावोत्पादकता। काव्य-रचना का उद्देश्य चमत्कार की सृष्टि करना नहीं है वरन् भावों को अधिक संवेद्य बनाना है और काव्य-रचना के अप्रस्तुत-योजना आदि विभिन्न अंग इसी में सहायक होते हैं।

अप्रस्तुत योजना का मूल आधार साम्य है। साम्य के आधार पर कवि रूप, गुण और भाव को संवेद्य बनाता है। इसीलिए साम्यमूलक अलङ्कारों का स्थान विशेष महत्त्व का है। इसके अन्तर्गत उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, दृष्टान्त आदि काव्य के प्रमुख अलङ्कारों की गणना होती है। दूसरा स्थान अतिशयोक्तिमूलक अलङ्कारों का है। यद्यपि इनमें चमत्कार का कुछ अंश सन्निविष्ट होता है फिर भी भाव से सम्बद्ध रहकर ये अलङ्कार प्रभावपूर्ण हो सकते हैं। अतिशयमूलक अलङ्कारों में अतिशयोक्ति की चर्चा की जाती है। अतिशयोक्ति के अनेक भेद स्वीकार किये गए हैं। वैषम्यमूलक अलङ्कार विरोध का आभास देकर अर्थ को प्रभावपूर्ण बनाने वाले सिद्ध होते हैं। विभावना और विरोधाभास की चर्चा इसी वर्ग के अन्तर्गत की जाती है। अगला स्थान वक्रता-मूलक अलङ्कारों का है। वक्रता का काव्य में अपना ही स्थान है। कुन्तक ने तो वक्रता को काव्य की आत्मा मानकर उसके प्रसार के विभिन्न रूपों पर प्रकाश डाला है। किन्तु अलङ्कारों के रूप में व्याजस्तुति, अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलङ्कारों को वक्रता पर आधारित स्वीकार किया गया है। कहीं-कहीं स्वभावोक्ति अलङ्कार को भी पृथक् रूप से स्वीकार किया गया है। इन विभिन्न रूपों में अप्रस्तुत-योजना का विस्तार देखा जा सकता है। उद्देश्य सभी का एक है—काव्य के विषय और वस्तु को अधिक ग्राह्य एवं आस्वाद्य बनाना। नन्ददास ने इसी आशय से अपने काव्य को अलङ्कारों से सजाया है। जीवन और प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा उन्होंने अपने प्रतिपाद्य के लिए अनेक सुन्दर साम्य प्रस्तुत किए हैं। इसी साम्य-योजना के परिणामस्वरूप उनके काव्य का सौन्दर्य पाठक का ध्यान आकर्षित करता है। वस्तुतः साम्य-योजना उनके काव्य का मूल आधार रहा है—यद्यपि अन्य वर्ग के अलङ्कारों का प्रयोग भी उनके काव्य में लक्षित किया जा सकता है। अतः हम क्रमशः साम्य, अतिशय, वैषम्य और वक्रता की दृष्टि से प्रयुक्त अलङ्कारों के आधार पर नन्ददास की अप्रस्तुत-योजना पर प्रकाश डालेंगे।

साम्यमूलक अप्रस्तुत-योजना—साम्यमूलक अप्रस्तुत-योजना के मुख्यतः तीन वर्ग हैं—(१) रूप साम्य, (२) गुण एवं धर्म साम्य और (३) प्रभाव साम्य। रूप-साम्य का आधार शारीरिक सौन्दर्य है। गुण—स्वभाव का अङ्ग होने से मानसिक सौन्दर्य-सूचक कहे जा सकते हैं और प्रभाव-साम्य भाव की तीव्रता पर आधारित हैं। यद्यपि तीनों का अपना महत्त्व है किन्तु प्रभाव-साम्य की सम्यक्-योजना के आधार पर काव्य में अप्रस्तुत-योजना की उत्कृष्टता देखी जा सकती है। उक्त तीन प्रकार के साम्यों के

अतिरिक्त काल्पनिक और व्यंग-साम्य की भी चर्चा की जाती है। नन्ददास के काव्य में यद्यपि रूप-साम्य और प्रभाव-साम्य को विशेष स्थान मिला है किन्तु अन्य प्रकार की साम्य-योजना भी यहाँ उपलब्ध हो जाती है।

रूप-साम्य—यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि नन्ददास यौवन और सौन्दर्य के कवि है। अतः रूप-साम्य में उनका लक्ष्य इस अवस्था-विशेष के सौन्दर्य का चित्रण रहा है। पुरुष और नारी—दोनों में से नारी-सौन्दर्य से वे अधिक प्रभावित प्रतीत होते है। पर पुरुष-सौन्दर्य की उन्होंने उपेक्षा नहीं की है। और यह सम्भव भी नही था। अन्यथा गोपियों की रूपासक्ति-सम्बन्धी उक्तियाँ अपना प्रभाव खो बैठती। 'रासपचाध्यायी' में शुकदेव, श्रीकृष्ण और गोपियों के सौन्दर्य-चित्रण को रूप-साम्य का लक्ष्य बनाया गया है। शुकदेव का चित्र परम रसिक का चित्र है। भावना के अनुरूप शारीरिक सौन्दर्य मे भी वे भागवत के शुकदेव से सर्वथा भिन्न है। परम भागवत वे अब भी है किन्तु उनकी वैराग्य-मूर्ति के स्थान पर अब सुन्दर और ललित छवि वाले रसिक की मूर्ति काव्य में उभर कर आई है। इस प्रकार स्वरूप और कल्पना में परस्पर एकरूपता लाने का प्रयत्न किया गया है।

नीलोत्पल दल स्याम अंग नवजोवन भ्राजै।
कुटिल अलक मुख-कमल मनों अलि-अवलि विराजै॥
ललित विसाल सुभाल दिपत जनु निकर निसाकर।
कृष्ण-भगति-प्रतिबंध तिमिर कहुँ कोटि दिवाकर॥[1]

इन दो छन्दों मे शुकदेव के मुख-सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। उनका शारीरिक वर्ण श्याम है—नीले कमल के समान (उपमा) और मुख पर अलकें ऐसी शोभायमान है मानो कमल पर 'अलि-अवलि' विराज रही हो (उत्प्रेक्षा)। इसी प्रकार दीप्तिमान भाल को चन्द्रमा कल्पित करने में भी उत्प्रेक्षा है। अगली पंक्ति में समानता-सूचक उपमालङ्कार का प्रयोग किया गया है। शुकदेव की नासिका और अधरों के वर्णन मे अन्यत्र प्रतीप अलङ्कार[2] की ओर 'हिय-सरोवर' में रूपक की योजना लक्षित होती है। वैसे नन्ददास ने उपमा और उत्प्रेक्षा का ही विशेष रूप से आश्रय लिया है।

श्रीकृष्ण का सौन्दर्य-वर्णन एक स्थल पर उत्प्रेक्षा[3] द्वारा किया गया है। सामान्यतया श्रीकृष्ण को गोपियों के साथ संयुक्त रूप में चित्रित किया गया है। गोपियों को कृष्ण के साथ देखकर कवि कल्पना करता हैं कि मानो विजलियो ने नव घन को घेर लिया हो।[4] कभी वह गोपियों को 'नवदल' और कृष्ण को कमल-कर्णिका के रूप

---

१. नं० ग्रं०, रासपंचाध्यायी १—३-४
२. उन्नत नासा अधर विम्ब सुक की छवि छीनी। नं० ग्र०, रासपंचाध्यायी, १-६
३. निकर विभाकर दुति मेटत सुभ मनि कौस्तुभ अस।
सुंदर नंद कुँवर उर पर सोई लागत उडु जस॥ वही, रासपंचाध्यायी, १-३३
४. अति आदर करि लई भई पिय पै ठाढ़ी अनु।
छबिलि छटनि मिलि छेक्यौ मंजुल घन मूरति जनु॥ वही, रासपंचाध्यायी, १-६६

में देखता है ।[1] इसी प्रकार श्रीकृष्णसहित नृत्य करती हुई गोपियों की कल्पना इसने घन-मंडल में खेलती हुई 'चपला माला' के साथ की है ।[2] जल-क्रीड़ा के समय गजराज और 'तरुनी करनी' के रूप में इसने श्रीकृष्ण और गोपियों को देखा है ।[3] ये सभी उत्प्रेक्षाएँ रूप-सौन्दर्य का विधान करने वाली हैं । गोपियों के सौन्दर्य चित्रण में कवि ने वेणी[4], उनके वर्ण[5] और उनके नेत्रों के सम्बन्ध में उत्प्रेक्षा की है । इन पात्रों के अतिरिक्त रजनी में मालती पुष्पों के सौरभ-प्रसार को गुनवती युवती के समान देखने में उदाहरण[6], चन्द्रमा की कोमल अरुणिम किरणों को मनसिज के फाग खेलने के रूप में[7] और ज्योत्स्ना के मन्द-मन्द प्रसार में युवती के प्रियतम को झाँकने की कल्पना[8] उत्प्रेक्षा द्वारा हुई है । चन्द्र-किरणों को 'फटिक छरी-सी' कहने में कवि ने उपमा का आश्रय लिया है ।

नाममाला में रूप-साम्य के कुछ सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते हैं । युवती के ललाट पर लाल बिन्दी की कवि ने सौभाग्य मणि के रूप में कल्पना की है ।[9] अपनी हथेली पर मुख रखकर बैठी हुई युवती की उत्प्रेक्षा कमल की शय्या बिछाकर सोने वाले चन्द्रमा से की गई है ।[10] प्रियतम से क्रुद्ध मानिनी नायिका का रङ्ग चूने में पड़ी हल्दी की भाँति बताना भी सुन्दर उत्प्रेक्षा है ।[11] भौंह पर कवि की उत्प्रेक्षा अरुन कमल पर पंख पसार कर बैठे हुए भँवर की कल्पना में प्राप्त होती है ।[12]

---

१. त्यों सब गोपिन सनमुख सुंदर स्याम विराजैं ।
ज्यों नवदलनि मंडलहि कमल कर्णिका भ्राजैं ॥ वही, रा० पं०, ४-१२

२. मनु घन-मंडल खेलत मंजुल चपला माला । वही, रा० पं०, ५-६

३. धाय जमुन जल धंसे लसे छवि परति न बरनी ।
बिहरत मनु गजराज संग लिये तरुनी करनी ॥ वही, रा० पं०, ५-२७

४. चंचल रूप लतनि संग डोलति जनु अलि-सैनी ।
छबिलि तियन के पाछें आछे बिलुलित बेनी ॥ वही, रासपंचाध्यायी, ५-१०

५. तियनि के तन जल-मगन बदन तहँ यों छवि छाये।
फूली हैं जनु जमुन कनक के कमल सुहाये ॥ वही, रासपंचाध्यायी, ५-२८

६. रजनी मुख सुख देत ललित मुकुलित जु मालती ।
ज्यों नव जोवन पाइ लसति गुनवती बालती ॥ वही, रा० पं०, १-४०

७. कोमल किरन अरुनिमा बन में व्यापि रही अस ।
मनसिज खेल्यो फागु घुमड़ि घुरि रह्यौ गुलाल जस ॥ वही, रा० पं०, १-४३

८. मंद मंद चलि चारु चंद्रिका अस छवि पाई ।
उझकति हैं पिय रमा-रमन कौं मनु तकि आई ॥ वही, रा० पं०, १-४५

९. मनो भालतें भाग्य-मनि, प्रगटी बाहर आय । नाममाला, दोहा ५४

१०. वर अरविंद बिछाय जनु, सोवत इंदु अडोल । वही, दोहा ६१

११. हरदी चूनो परत जिमि इमि देखत भई बाम । वही, दोहा ७७

१२. अरुन कमल पर प्रात जनु पंख पसारे भौंर । वही, दोहा ७८

रूपमंजरी में नायिका के आकर्षक और विरह से मुरझाए हुए—दोनों रूपों को रूप-साम्य का विषय बनाया गया है। आकर्षक रूप की अभिव्यक्ति में उसने युवती के रूप को उदाहरण अलङ्कार द्वारा चन्द्रकला के समान नित्य प्रति बढ़ते हुए देखा है।[1] उसका गौर वर्ण इतना उज्ज्वल है कि उसके सम्मुख कंचन का रूप भी फीका पड़ जाता है—यह बात प्रतीप अलङ्कार द्वारा स्पष्ट की गई है।[2] प्रतीप का सुन्दर उदाहरण नेत्रों के सौन्दर्य वर्णन में भी प्राप्त होता है।[3] दो लालिमा-युक्त अधरों के बीच की सुन्दर रेखा भी कवि की कल्पना से नही बच सकी है।[4] नाक का नथ अपने सौन्दर्य से सभी को आसक्त बना लेता है और हँसी जैसे जीव का ईश्वर की माया में फँस जाना है।[5] इसी रूप-वर्णन में शैशव रूप जल के घटने और मीन रूप नेत्रों के व्याकुल होने की भी चर्चा की गई है।[6] रूपमंजरी में श्रीकृष्ण-सौन्दर्य की चर्चा का भी अवसर उपस्थित हुआ है। पीत वसन उनके शरीर पर दामिनि-सा (उपमा) आकर स्थिर हो गया है।[7] उनके रूप-सौन्दर्य को देखकर रूपमंजरी की जो दशा होती है उसको कवि ने सांगरूपक द्वारा स्पष्ट किया है—

तिय-हिय-दर्पन तन रूई रही हुती पुट पागि।
प्रीतम-तरनि-किरनि परसि लागि परी तिहि आगि ॥[8]

इस प्रकार रूपमंजरी की विरहावस्था आरम्भ होती है। उसके विवर्ण तन की समता ग्रीष्म से मुरझाई हुई लता से करने मे रूपक और उपमा दोनों का प्रयोग किया गया है।[9] नायिका आकाश में चमकती हुई बिजली को देखकर नेत्र झुका देती है क्योंकि

---

१. तिय तन रूप बढ़त चल्यो ऐसे। दुतिया चंद कलनि परि जैसे ॥
नं० ग्रं०, रूपमंजरी पृष्ठ १०७

२. गौर बरन तन सोभित नीकौ। औटे कंचन कौ रंग फीकौ ॥
वही, रूपमंजरी, पृष्ठ १०७

३. मृगज लजे, खंजन लजे, कंज लजे छवि छीन।
दृगन देखि दुख दीन ह्वै, मीन भये जललीन। वही, दोहा ११६

४. अधर मधुर मधि रेख सुढारी। अरुन पाट जनु पुई पवारी ॥
वही, रूपमंजरी, पृष्ठ १०८

५. नासिक नथ जनु मनमथ पासी। हासी हरि देव कि माया सी ॥
वही, रूपमंजरी, पृष्ठ १०८

६. जिमि जिमि सैसव-जल उथुराने। तिमि तिमि नैन-मीन इतराने ॥
वही, रूपमंजरी, पृष्ठ १०७

७. पीत बसन दुति परति न कही। दामिनि सी कछु थिर ह्वै रही ॥
वही, रूपमंजरी, पृष्ठ ११३

८. वही, रूपमंजरी, दोहा २६६

९. विवरन तन अस देइ दिखाई। रूप बेलि जस घाम में आई ॥
वही, रूपमंजरी, पृष्ठ ११५

उसे अपने पीताम्बरधारी प्रियतम का स्मरण हो जाता है।[1]

रसमंजरी, विरहमंजरी और भ्रमरगीत में रूप-साम्य के अवसर बहुत कम हैं। जहां भी साम्य की योजना हुई है वहां दृष्टान्त अलंकार का आश्रय विशेष रूप में लिया गया है। रति-सुख में लीन नायिका के अधमुंदे नेत्रों की समता मृग-छौना के 'ऊँघते' हुए नेत्रों से की गई है (उपमा)।[2] इसी प्रकार मध्या नायिका के कोप को कुएं की छांह के उदाहरण द्वारा समझाया गया है।[3] विरह में कष्ट की तीव्रता व्यंजित करने के लिए नायिका को लोहार की 'सँड़सी' का रूप दिया गया है जो कभी आग में और कभी पानी मे पड़ती रहती है।[4] ऐसे अवसर पर उमड़ती हुई घटा की कल्पना मदन की ढाल के रूप में की गई है (उत्प्रेक्षा)।[5] दीपक अलंकार विरहिणी के अश्रुओं और बादलों के बरसने के बीच समता स्थापित करता है।[6] कभी-कभी युवती सोचती है कि मेरा शरीर चन्द्र के समान है—सम्भवतः इसीलिए राहु रूपी विरह पूर्वजन्म का वैर मानकर उसे ग्रस रहा है।[7] यहां प्रत्यनीक अलंकार द्वारा उक्ति को अत्यधिक मार्मिक बनाया गया है। विरह की इस तीव्रता में नायिका का धैर्य जहां निःशेष हो जाता है वहां उसकी विवेक-बुद्धि भी। इसीलिए प्रिय-मिलन के लिए आतुर नायिका अपनी छांह को प्रियतम मान बैठती है (भ्रम)।[8] अधैर्य की इसी अवस्था को रोगी के औषधि खाने में लाज के दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है।[9]

---

१. दामिनि दमकि देखि दृग नावैं। पिय पट पीत छोर सुधि आवैं॥
वही, रूपमंजरी, पृष्ठ ११६

२. अधमुंदित नैनन छवि पावैं। मृग छौनहिं मनौ ऊँघ सो आवैं॥
वही, रसमंजरी, पृष्ठ १२८

३. कोमल कोप कबहुँ जो गहै। कूप छांह जिमि हिय ही रहै।
वही, रसमंजरी, पृष्ठ १२८

४. इहि विधि बलि वैसाख इह, बीत्यो दुख सुख लागि।
सँड़सी भई लुहार की, खिन पानी खिन आगि॥
वही, विरहमंजरी, पृष्ठ १४५

५. अब देखिव उमगी घनमाला। जनु मदमत्त मदन की ढाला।
वही, विरहमंजरी, पृष्ठ १४६

६. घन अरु तिय के नैन, होड़नि बरसत रैन दिन॥ वही, विरहमंजरी, दोहा ५५

७. पूरब वैर सुमिरि रिस भर्‌यो। मो तन-चंद आनि कै धर्‌यो॥
वही, विरहमंजरी, पृष्ठ १४९

८. ज्यों चकई निज छांई चाहि। मुदित होत पति मानत ताहि॥
वही, विरहमंजरी, पृष्ठ १५०

९. जाकै अंग रोग है महा। औषध खात लाज है कहा॥
वही, विरहमंजरी, पृष्ठ १५०

भ्रमरगीत तो दृष्टान्त पर ही टिका है । 'पाप-पुण्य लोह सोने की बेरी',[1] 'घूप को छोड़ परछाईं ग्रहण करना,'[2] 'मीन का जल विना न रहना'[3]—आदि अनेक दृष्टान्त इस काव्य में प्रयुक्त है । इसके अतिरिक्त 'विरह-अनल'[4] और 'काम तरोवर-साँवरो'[5] में रूपक अलंकार का प्रयोग किया गया है ।

रुक्मिणीमंगल मे श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है । किन्तु श्रीकृष्ण के सौन्दर्य में कल्पना का चमत्कार विरल है और रुक्मिणी के सौन्दर्य को उपमा द्वारा स्पष्ट किया गया है । एक स्थान पर श्रीकृष्ण के पीताम्बर की चंचला विद्युत के रूप में कल्पना की गई है (उत्प्रेक्षा)[6] । रुक्मिणी के सम्बन्ध में की गई यह उत्प्रेक्षा बहुत सुन्दर है—

घूंघट पट दियो हुतो सु खोल्यो वदन डहडह्यो ।
जनु अंबर तें अब ही निकस्यो चंद गहगह्यो ॥[7]

रुक्मिणी की उज्ज्वल दन्त-पंक्ति को अरुन बादलो में चमकती हुई विद्युत के समान बताकर कवि ने अपने सूक्ष्म वर्ण-ज्ञान का परिचय दिया है ।[8] इसी प्रकार श्रवणों में पहनी हुई 'खुभी' को काम-कलभ की सद्यजात 'दतियो' की समानता दी गई है ।[9]

भाषा दशम स्कन्ध यद्यपि कथा-प्रधान काव्य है किन्तु कुछ स्थलों पर अलकारों का प्रयोग बहुत सुन्दर है । युवती-मुख पर पड़ी श्रमकण की बूंदों को लेकर यह कल्पना करना कि कनक कमल पर ओस की बूदें झलक रही है—सौन्दर्य के अनुकूल है ।[10] वैसे सामान्य कमल की कल्पना में इसे अधिक सुन्दर नही कहा जा सकता क्योंकि युवती के मुख को कमल केवल उसका खिला होना दिखाने के लिये ही कहा जाता है । पर ओस की बूंदें जब पड़ती है उस समय कमल मुंदा हुआ होता है । कंचन कमल कवि की कल्पना की उपज है । नेत्रों के सजल होने और मकरन्द भरे कमल के भ्रमर द्वारा

---

१. भ्रमरगीत, छन्द १६
२. भ्रमरगीत, छन्द-संख्या २८
३. भ्रमरगीत, छन्द-संख्या ३१
४. भ्रमरगीत, छन्द-संख्या ३४
५. भ्रमरगीत, छन्द-संख्या ७३
६. को जु रहे चकचौंध, रुचिर पीतांवर छवि पर ।
मनौं छबीली छटा रही थकि सुंदर घन पर ॥ वही, रूपमंजरी, पृष्ठ १८१
७. वही, रुक्मिणीमंगल, दोहा ११०
८. सोभा सदन सुबदन रदन की छवि द्युति ऐसी ।
अरुन बदरि मै दमकत दामिनि-अंकुर जैसी । वही, रूपमंजरी, दोहा १११
९. श्रवननि सुंदर खुभी, चुभी, सबके मन ऐसे ।
काम कलभ की अबहीं, उलही दतियाँ जैसे ॥ वही, रुक्मिणीमंगल, ११२
१०. आनन पर श्रमकन फत बनी । कनक कमल जनौं ओस की कनी ।
नन्ददास-ग्रन्थावली, भा० द०, पृष्ठ २१६

हिलाये जाने में उत्प्रेक्षा के आधार पर ही साम्य स्थापित किया गया है।[1]

पदावली में भी रूप-साम्य के पर्याप्त उदाहरण मिल जाते हैं। सुन्दरी अपने हाथों में मुकुर लिए बैठी है। उस समय की शोभा-वर्णन करते हुए कवि ने दो कमलों द्वारा लाये गए चन्द्रमा की कल्पना की है (उत्प्रेक्षा)।[2] पूर्ण विकसित मुख में अंजन-रहित नेत्र ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानो कमल पर खंजन पक्षी क्रीड़ा कर रहे हों (उत्प्रेक्षा)।[3] राधा के मुख-सौन्दर्य की प्रशंसा में सखी चन्द्रमा का भी तिरस्कार कर देती है (प्रतीप)।[4] उसकी शारीरिक दीप्ति दामिनी-सी है।[5] उसके नाक का मोती देखकर तारे भी सकुचा जाते है (प्रतीप)।[6] पात्रों के रूप-सौन्दर्य के अतिरिक्त कवि ने प्रकृति के सौन्दर्य को भी अपनी साम्य-योजना द्वारा स्पष्ट किया है। पावस ऋतु में आगे बढ़ते हुए बादलों को सांगरूपक के द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

चढ़यो घन मत्त हाथी, पवन-महावत साथी,
चपला को अंकुस दै बंकुस चलायो है।[7]

एक अन्य स्थल पर होली खेलते समय उड़ते हुए अबीर-गुलाल की कल्पना अनुराग के रूप में की गई है।[8] यह मूर्त्त के लिए अमूर्त्त उपमान की नियोजना है।

इस प्रकार कवि ने रूप-सौन्दर्य की उत्कृष्टता को अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त करने के लिए विभिन्न साम्यमूलक अलंकारों का प्रयोग किया है। इनमें से यद्यपि प्रधान स्थान उत्प्रेक्षा का ही है किन्तु उसके अतिरिक्त उपमा, रूपक, प्रतीप, दृष्टान्त, उदाहरण और प्रत्यनीक आदि अन्य अलंकारों का उपयोग भी किया गया है। इन अलंकारों के प्रयोग में सामान्यतया औचित्य का सर्वत्र ध्यान रखा गया है किन्तु एकाध उदाहरण ऐसा मिल जाता है जिसमें साम्य-योजना प्रसंग के अनुकूल नहीं है। प्रातःकाल कमलों के विकसित होने पर भ्रमरों के गुंजार की कवि ने अन्धकार पुत्रों के रोने के रूप में कल्पना की है।[9] इस कल्पना में भँवर की मधुर गुंजार को रोने के समान

---

१. डर ते नैन सजल ह्वै आये। जनु अरविन्द अलिन्द हिलाये।
वही, भा० द०, पृष्ठ २१७

२. सुंदर करनि में मंजु मुकुर की छवि रही फवि।
मानो बिवि कमलनि गहि आन्यो ससि॥ वही, पदावली, पद ४७

३. डह-डहे मुख-छवि छाजत राजत, लाजत कोटिक-मैना।
कंजन पै खेलत मनो खंजन अंजन-रंजित नैना॥ वही, पदावली, पद ५२

४. सरद निसा को चंद्रमा री तेरे पाँयनि बांध्यो सोहै। वही, पदावली, पद ७१

५. दामिनी सी दरसे रूप गुन आगरी। वही, पदावली, पद १२४

६. नासिका के मोती देखें उडुगन सकुचाय। वही, पदावली, पद १३७

७. वही, पदावली, पद १५०

८. एरी सखी, घुमड्यो अबीर, गुलाल मनु उनयों अनुरागु री। वही, पदावली, पद १७८

९. कंज कंज प्रति पुंज अलि, गुंजत इमि परभात।
जनु रवि उर तम तजि भज्यो, रोवत ताके तात॥ वही, रू० मं०, पृष्ठ १०५

स्वीकार करना किसी भी सहृदय को मान्य नही हो सकता ।

धर्म-साम्य—साम्य-योजना का दूसरा पक्ष धर्म-साम्य है । जब कवि रूप-साम्य द्वारा प्रस्तुत सौन्दर्य से सन्तुष्ट नही होता तब वह वस्तु के गुणों का आधार लेकर धर्म-साम्य का नियोजन करता है । इससे वह गुणों की उत्कृष्टता को बाह्य जगत् की मूर्त्त वस्तुओं अथवा अमूर्त्त भावों की तुलना में देखकर उनकी समता, उत्कृष्टता आदि स्थापित करता है । नन्ददास के काव्य में धर्म-साम्य के उदाहरण बहुत अधिक संख्या मे तो नही किन्तु पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते है ।

रासपंचाध्यायी के आरम्भ में भागवत के महत्त्व को स्पष्ट करने मे प्रयत्नशील कवि सूर्य के समान ससार को प्रकाशित करने वाले श्रीकृष्ण की चर्चा धर्म-साम्य के आधार पर करता है ।[1] इसी प्रकार भागवत को सूर्य के रूप में इसीलिए देखा गया है कि उसके उदय के साथ-साथ सम्पूर्ण लोक का अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है ।[2] वृन्दावन की सुषमा के वर्णन में भँवरों के गुञ्जार की चर्चा की गई है । यह गुञ्जार अत्यधिक मिठासपूर्ण है जिस पर कवि गन्धर्व, अप्सरा और किन्नर के गान को न्यौछावर करने को तैयार है (प्रतीप) ।[3] श्रीकृष्ण के द्वारा धारण की गई कौस्तुभ मणि अपनी दीप्ति मे सूर्य की द्युति को मिटा देती है (व्यतिरेक) ।[4] एक स्थान पर गोपियों को ज्योति-सी कहकर उनके स्वरूप को उपमा द्वारा स्पष्ट किया गया है ।[5] भक्तो की मानसिक तन्मयता यमुना-जल में लीन रहने वाली मछलियों के उदाहरण द्वारा स्पष्ट की गई है ।[6] रास-विहार के समय गोपियाँ अपनी अभिलाषा की पूर्ति विभिन्न साधनों द्वारा कर रही है । उनमें से एक निष्पलक नेत्रों से श्रीकृष्ण का रूप-निहारने मे तल्लीन है । उसके इस प्रकार एकटक दृष्टि से श्रीकृष्ण को देखने में अनुराग की जो झलक मिलती है उसको कवि ने बहुत उपयुक्त साम्य द्वारा स्पष्ट किया है ।

---

१. जब दिनमनि श्रीकृष्ण दृगनि तें दूरि भए दुरि ।
पसरि पर्‌यो अँधियार सकल संसार घुमड़ि घुरि ।। वही, रा० पं०, १-१३

२. तिमिर ग्रसति सब लोक-ओक लखि दुखित दयाकर ।
प्रगट कियो अद्‌भुत-प्रभाउ भागवत-विभाकर ।। वही, रा० पं०, १-१४

३. तिन मधि तिन के गंध लुब्ध अस गान करत अलि ।
बर किन्नर गंधर्व अपछरा तिन पर करि बलि ।। वही, रा० पं० १-२७

४. निकर विभाकर दुति मेटत सुभ मनि कौस्तुभ अस ।।
वही, रासपंचाध्यायी १-३३

५. तिनहि कहा कोउ गहै जोति सी जगत उज्यारी ।।
वही, रासपंचाध्यायी, १-५७

६. भगत जतन सों कहु जिनके भागवत धरम बल ।
ज्यों जमुना के मीन लीन नित रहत जमुन जल ।।
नं० ग्रं०, रासपंचाध्यायी ५-३८

कोउ पिय रूप नयन भरि उर में धरि धरि ध्यावति ।
मधु माँखी लौं डीठि दुहूँ दिसि अति छवि पावति ॥[1]

मधुमाखी के कथन मात्र से मधु की 'चिपचिपाहट' और दृष्टि का एक दूसरे से चिपके रहने का जो भाव सामने आता है वह बहुत सरस है । गोपियों के अनुराग का साम्य सिद्धान्तपंचाध्यायी के एक स्थल पर भी स्पष्ट किया गया है । वहाँ उनके आवेग को 'सावन-सरिता-जस' कहकर स्पष्ट किया गया है ।[2] छोटे व्यक्ति धन पाकर इतराते हैं और बड़े व्यक्ति फल से लदे वृक्षों के समान और भी झुक जाते हैं (उदाहरण) ।[3] पदावली में एक स्थल पर राधा के प्रति विशाखा नामक सखी के सेवा-भाव के आधिक्य को उपमा अलंकारद्वारा स्पष्ट किया गया है। वह राधा के साथ परछाई-सी लगी रहती है।[4]

गुण-साम्य के उदाहरणों में जिन विभिन्न अलङ्कारों का प्रयोग किया गया है वे हैं उत्प्रेक्षा, उपमा, उदाहरण, व्यक्तिरेक और प्रतीप । इनमें से किसी को प्रधान व गौण नहीं कहा जा सकता । सभी का समान रूप से गुणोत्कर्ष दिखाने के लिए प्रयोग किया गया है ।

प्रभाव-साम्य—भावोत्कर्ष की दृष्टि से प्रभाव-साम्य का अत्यधिक महत्त्व है । प्रभाव-साम्य में शारीरिक-सौन्दर्य और मानसिक गुणों को स्पष्ट करने की अपेक्षा कवि का ध्यान मन पर पड़ने वाले प्रभाव को व्यंजित करना होता है । इसलिए प्रभाव-साम्य सूचक उक्तियाँ अधिक मार्मिक होती हैं । नन्ददास की सभी काव्य-रचनाओं में प्रभाव सम्बन्धी उक्तियाँ बड़ी संख्या में प्राप्त होती हैं जिनसे कवि की भाव-गम्भीरता और भाव को संवेदनशील बनाने की क्षमता का परिचय हमें मिलता है ।

श्रीकृष्ण की मुरली ध्वनि सुनकर गोपियों के मन में जिस तीव्र प्रेम का उदय हुआ उसके परिणाम को व्यक्त करते हुए पिंजरे से उड़ने वाले प्रेम-विहंगम की समता प्रस्तुत की गई है ।[5] उत्प्रेक्षा और रूपक के समन्वित रूप से अनुराग की तीव्रता को कवि ने व्यंजित किया है । रसिक की प्रेम-कथा सम्बन्धी रुचि को स्पष्ट करने के लिए कवि ने लम्पट की पर-स्त्री-चर्चा में आसक्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया है ।[6] जहाँ तक भाव-तीव्रता का प्रश्न है, साम्य में कोई अनौचित्य प्रतीत नहीं होता किन्तु प्रेम-चर्चा में लम्पट की पर-स्त्री-चर्चा का उदाहरण बहुत-से सहृदयों को नहीं रुचेगा । एक बात का

---

१. नं० ग्रं०, पृष्ठ २५
२. सुनि उमगीं अनुराग-भरी सावन-सरिता-जस । नं० ग्रं०, सि० पं०, दोहा २९
३. फलन के भार नमित द्रुम ऐसे । संपति पाय बड़े जन जैसे ।
वही, रूपमंजरी, पृष्ठ १०५
४. सखियन में अति हितू विसाखा, जनु तन की परछांइ । वही, पदावली, पद १८३
५. तेउ पुनि तिहि मग चलीं रंगीली तजि गृह संगम ।
जनु पिंजरनि तें उड़े छुटे नव प्रेम विहंगम ॥ रा० पं०, १-५५
६. जाकों सुन्दर श्याम-कथा छिन-छिन नइ लागै ।
ज्यों लंपट पर-जुवति-बात सुनि अति अनुरागै ॥ वही, १-६१

हमे ध्यान रखना चाहिए कि पुष्टि-भक्ति में प्रेम की तीव्रता व्यक्त करने के लिए स्नेह, आसक्ति और व्यसन को प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं के रूप में स्वीकार किया गया है। आसक्ति और व्यसन का लौकिक उदाहरण प्रस्तुत सन्दर्भ में शायद ही कोई अन्य हो। अतः नन्ददास का ध्यान एकमात्र भाव-तीव्रता की ओर रहा, उसको स्पष्ट करने के लिए रखे गये उपादान की ओर नहीं।

मुरली-ध्वनि सुनकर गोपियाँ श्रीकृष्ण के सम्मुख उपस्थित है। उनका सौन्दर्य देखकर श्रीकृष्ण देखते ही रह जाते हैं। उस समयकी उनकी अवस्था को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कवि कहता है कि ऐसा लगता है जैसे दो चकोर बहुत-से चन्द्रमाओं को देखने में अपनी सुधि खो बैठे हों।[1] किन्तु जब वह गोपियों से घर वापस लौट जाने की बात कहते हैं तब गोपियों की अवस्था देखने लायक होती है। लगता है मानो 'बाल-मृगनि' की पंक्ति घने वन मे रास्ता भूल गई हो।[2] उनकी स्तब्धता को स्पष्ट करने के लिए कवि ने 'पुतलियों की पंक्ति' की कल्पना की है जिनकी छवि युक्त ग्रीवा दुःख के बोझ से कमलनाल के समान झुक गई हो (उपमा)।[3] किन्तु धैर्य धारण करके उन्होंने श्रीकृष्ण से अपनी विवशता व्यक्त करते हुए दैन्य स्वर में अनुरोध किया। उनके वचनों को सुनकर सादृश्य के आधार पर श्रीकृष्ण के द्रवित होने की बात बहुत ही मार्मिक ढंग से व्यक्त की गई है—

सुनि गोपिन के प्रेम वचन सी आँच लगी जिय।
पिघरि चल्यो नवनीत-मीत नवनीत-सदृस हिय॥[4]

और उसके बाद रमण में रंग बरसाते हुए नव घन के समान प्रेम की वर्षा होती है—(उदाहरण)।[5] मिलन के बाद बिछोह के समय निर्धन के धन चले जाने की सी उनकी स्थिति हो जाती है (उदाहरण)।[6] उनकी वियोग दशा को उत्प्रेक्षा और सन्देह से स्पष्ट किया गया है, घन से बिछुड़ने वाली बिजली अथवा चन्द्र से रूठकर पीछे रह गई चाँदनी।[7] इस प्रकार अपनी सखी को सम्मुख पाकर उनका उससे लिपटना ऐसा

---

१. सुभग वदन सब चितवन पिय के नैन बने यों।
बहुत सरद ससि माहिं अरबरे द्वै चकोर ज्यों॥ वही, १-६८
२. लाल रसिक के बंक वचन सुनि चकित भई यों।
बाल-मृगिन की माल सघन वन भूलि परी ज्यौं॥ वही, १-७३
३. दुख के बोझ छवि-सींव ग्रीव नै चली नाल-सी।
अलक अलिन के भार नमित मनु कमल माल सी। वही, १-७६
४. वही, १-८५
५. सरसत प्रेम अनंग रंग नव घन ज्यौं बरसत। वही, १-९६
६. थकि सी रही व्रजबाल लाल गिरिधर पिय बिनु यौं।
निधन महानिधि पाइ बहुरि ज्यों जाइ भई त्यौं॥ वही, २-४
७. जनु घन तें बिजुरी बिछुरी मानिनि-तनु काछें।
किधौं चन्द्र सों ससि चन्द्रिका रहि गइ पाछें। वही, २-३२

लगता है मानो सारी सम्पत्ति खो जाने पर आधी का प्राप्त हो जाना।[१] प्रिय का प्राप्त होना निर्जीव इन्द्रियों का प्राण पाकर फिर से सजीव हो जाने के समान है (उदाहरण)।[२]

सिद्धान्तपंचाध्यायी में भी श्रीकृष्ण के प्रेम को शशि के उदय पर उठनेवाली तरंगों के समान बताया गया है (उदाहरण)।[३] और गोपियों की कृष्ण-दर्शनजन्य व्याकुलता को मछली की तड़प के समान कहा गया है (उपमा)।[४] रचना के अनुकूल श्रीकृष्ण-गोपी-मिलन को परमहँस भागवत के मिलने पर संसारी जन को प्राप्त आनन्द का उदाहरण देकर समझाया गया है।[५] यहाँ साम्य के लिए स्वीकृत उपमान भक्ति-शास्त्रों से लिया गया है। 'नाममाला' में विरह से मुख की मलिनता को पवन से मलिन हुए दर्पण के समान बताया गया है (उपमा)[६] और अकारण मान को अमरबेल के समान निर्मूल कहा गया है (उपमा)।[७] ऐसी मानिनी को मनाने के यत्न तवे पर पड़ी बूँद के समान व्यर्थ हो जाते है।[८] रूपमंजरी में मानिनी का आधार लेकर वायु से हिलने वाली कमलिनी में लम्पट भ्रमर को बैठने के लिए मना करने वाली नायिका की कल्पना की गई है (उत्प्रेक्षा)।[९] कुचों के वर्णन में कवि ने एक नवीन अमूर्त उपमान की योजना की है। इस उपमान का सम्बन्ध सादृश्य से न होकर बहुत कुछ उसके परिणाम से है। बाह्य जगत् की वस्तुओं में से कुचों के सदृश उसे कोई नहीं जँचता। परिणामतः वह कल्पना करता है कि सुख को द्विधा विभक्त करके रमणी के वक्षस्थल पर रख दिया है (उत्प्रेक्षा)।[१०] अनुराग की तीव्रता के समय 'गुरुजन भय' डर कर चोर

---

१. दौरि भुजनि भरि लई सबनि लै लै उर लाई।
   मनहुँ महानिधि खोई मध्य आधी निधि पाई॥ वही, २-३६
२. पियहिं निरखि तिय वृन्द उठीं सब इकै बार यों।
   परि घट आए प्रान बहुरि उझकत इंद्री ज्यों॥ वही, ४-४
३. कमल नैन पिय कों हिय सुन्दर प्रेम समुद जस।
   पूरन शशितनु निरपि हरषि बाढी तरंग-रस॥ सि० पं०, २४
४. कृष्ण-दरस लालसा सु तरकै मीन की नाईं॥ वही, ९५
५. साँवरे पिय कर परस पाइ सब सुखित भईं यों।
   परमहँस भागवत मिलन संसारी-जन ज्यों। वही, १००
६. मुख रूखो ह्वै जात इमि, जिमि दरपन मुख पौन। नाममाला, दोहा ५९
७. अमरबेलि जिमि मूल बिन, इमि देखत तुव मान। नाममाला, दोहा ११०
८. हौं अनेक बातें कहीं, भई तवा को बुंद। नाममाला, दोहा २०५
९. पदमिनि कहुँ जब पौन दुलावै। तब लंपट अलि बैठि न पावै॥
   जनु ननुकारित मानिनि तिया। आन जुवति रत जान्यौ पिया॥
   नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पृष्ठ १०५
१०. तब की सुख की रासि बिबि करी। रवनी-उर-अवनी पर धरी।
   वही, रूपमंजरी, पृष्ठ १०८

के समान भाग जाता है (उपमा)।[1] और उसका मन समुद्र में जहाज के आसपास मँडरानेवाले पक्षी के समान श्रीकृष्ण के आसपास ही घूमता रहता है (उदाहरण)।[2] विरह मे उसका हृदय 'अवाँ'—भट्टी के समान जलता है (उपमा)।[3] इस अवस्था में प्राकृतिक पदार्थ उसके हृदय को और भी अधिक सन्तप्त करते है। द्वितीया के चन्द्रमा को वह काम-कटारी के रूप में देखती है (रूपक)।[4] विरह-व्याकुल रूपमंजरी जब आत्मसुधिविस्मृत हो जाती है तो उसे सम्भालने के लिए उसकी माता उसी प्रकार दौड़ती है जैसे गाय अपने वत्स की ओर (उदाहरण)।[5] प्रेमी-युगल को संयोग के समय जब किसी विवशतावश अलग होना पड़ता है उस समय उनकी व्यथा की तीव्रता की अनुभूति कराने के लिए कवि ने प्रात कालीन सूर्य को 'आरे' के समान कल्पित किया है जिसने दोनों प्रेमियों के शरीर काटकर अलग कर दिये हैं (उत्प्रेक्षा)।[6] अगहन का मास विरहिणी के शरीर को ग्रहण के समान आकर पकड़ लेता है (उदाहरण)।[7] विरहावस्था में रात्रि भी महावकी के समान निगलने के लिए आती है (उपमा)।[8] यह उपमान कवि ने श्रीकृष्ण की बकासुर लीला से लिया है। घर भी अघासुर समान हो गया (उपमा)।[9] भ्रमरगीत में योग-साधना के अनौचित्य, भयंकर रूप और कठोरता आदि के सम्बन्ध में पाठक का ध्यान आकर्षित करना गोपियों का विशेष लक्ष्य रहा है। इसी आशय से उन्होंने जोग को भुजंग के रूप में बताया है (रूपक)।[10]

रुक्मिणीमंगल में शिशुपाल से विवाह की बात सुनकर रुक्मिणी की जो अवस्था होती है उसके विभिन्न पक्षों को साम्य-योजना के अनुसार चित्रित किया गया है।

---

१. मन जनु उनहीं सौं अनुराग्यो। गुरुजन डर डरि चोर सौं भाग्यो।
वही, रूपमंजरी, पृष्ठ ११२

२. मन मन बूझै सहचरी, सूझै नहिं कछु और।
अर्नव-नाव-बिहंग जिमि, फिरि आवै तिहि ठौर॥
वही, रूपमंजरी, दोहा ३०३

३. अवाँ अगिनि जिमि अंतर जरै। वही, रूपमंजरी, पृष्ठ ११७

४. द्वैज चंद बिखि भै भरि भारी। उगी गगन जनु काम कटारी॥
वही, रूपमंजरी, पृष्ठ ११७

५. बात सुनत जननी उठि धाई। बाछी पर जस आछी गाई॥
वही, रूपमंजरी, पृष्ठ १२१

६. सूर उदोत करोत सम, चीरि किये बिवि गात। वही, रूपमंजरी, दोहा ५२०

७. अगहन गहन समान, गहियत मोर सरीर ससि। वही, विरहमंजरी, दोहा ७५

८. महाबकी जिमि आवति राति। झट दै मोहिं लीलि है जाति।
वही, विरहमंजरी, पृष्ठ १४६

९. सदन अघासुर से भये, तिन तन चह्यौ न जाय।
वही, विरहमंजरी, दोहा ८५

१०. मधुप यह लायो जोग भुअंग। भ्रमरगीत, छन्द ५८

चकित चहूँ दिसि चहति बिछुरि जनु मृगी मालते।
भयौ बदन कछु मलिन, नलिन जनु गलित नाल तें ॥[1]

इस छन्द में अपनी पंक्ति से बिछुड़ी हुई मृगी के समान नायिका को देखा गया है (उपमा) और उसके मुरझाये हुए वदन को नाल से गल गई नलिनी के रूप में कल्पित किया गया है (उत्प्रेक्षा)। प्रेमाश्रुपूरित नेत्रों की भ्रमरों द्वारा हिलाये जाने पर मकरन्द झरने वाले कमल के रूप में कल्पना की गई है।[2] विरह में झुलसा हुआ शरीर घाम में झुलसी हुई रूपवेली के सदृश है (उपमा)।[3] रुक्मिणी द्वारा भेजा गया ब्राह्मण द्वारावती में पहुँचकर उसी प्रकार आनन्द का अनुभव करता है जिस प्रकार जागतिक द्वन्द्व छूट जाने पर ब्रह्म प्राप्ति के समय जीव को होता है।[4] यह दार्शनिक बिम्ब-विधान ही कहा जायेगा। रुक्मिणीहरण के समय का दृश्य अत्यधिक मार्मिक है। उसका सादृश्य कवि ने मधु-मक्खियों की आँखों में धूल डाल कर मधु ले जाने वाले 'मधुहा' के कार्य से दिया है (उदाहरण)।[5] सन्तान की मृत्यु की आशंका से विलाप करने वाली यशोदा का सादृश्य गाय के डकारने से दिया गया है (उदाहरण)।[6] दूसरी ओर श्रीकृष्ण के जन्म पर दुष्ट-दानवों का नष्ट होने के लिए आने की बात को दीपक में गिरने वाले पतंगों के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है।[7] पदावली में भी प्रभाव-साम्य के आधार पर अलंकारों का नियोजन दृष्टिगत होता है। अनुराग में रँगी गोपिका का कृष्ण में तल्लीन हो जाना ऐसा ही है जैसा सारंग का पानी में मिल जाना (उपमा)।[8] प्रेम की अवस्था में अंगों का द्रवित होना ऐसा है जैसे आँच से घी का पिघलना (उदाहरण)।[9] होली के प्रसंग

---

१. नं० ग्रं०, रुक्मिणीमंगल, दोहा ४

२. भरि आए जल नैन, प्रेम रस ऐन सुहाये।
जनु सुंदर अरविंद अलिंदन बैठ हलाये ॥ वही, रुक्मिणीमंगल, दोहा ५

३. ह्वै गयो कछु विवरन-तन, छाजत यौं छवि-छाई।
रूप अनूपम वेलि, तनक मनु घाम में आई ॥ वही, रुक्मिणीमंगल, दोहा २४

४. कृष्ण भावती पुरी, निरखि द्विज हरष भयो अस।
जगत-द्वन्द्व तें छुट्यो, ब्रह्म-आनन्द मिल्यो जस ॥ वही, रुक्मिणीमंगल, दोहा ४०

५. लै चले नागर नगधर नवल तिया कों ऐसे।
माँखिन-आँखिन-धूरि-पूरि मधुहा मधु जैसे ॥
वही, रुक्मिणीमंगल, दोहा ११९

६. परी धरनि धुकि यों बिललाई। ज्यों मृतवच्छ गाइ डिडियाइ।
वही, भा० द०, पृष्ठ २११

७. दीपक प्रगट्यो नंद घर निर्मल जोति अभंग।
उड़ि-उड़ि परन लगे तहाँ दानव दुष्ट पतंग ॥ वही, भा० द०, पृष्ठ २११

८. नन्ददास प्रभु यौं मन मिलि गयो, ज्यों सारंग में पानी ॥
वही, पदावली, पद ८४

९. ऐसें अंग ढरे जैसे आगि लगें राग ढरत। वही पदावली, पद १३३

में गोपियों पर रंग भरी पिचकारी छोड़ने को प्रेम-लता को अमृत से सींचने के सदृश माना गया है।[1]

प्रभाव-साम्य के अन्तर्गत ऊपर किये गए अलंकारों के विवरण से स्पष्ट है कि प्रभाव-साम्य की महत्ता को नन्ददास ने पूरी तरह पहचाना है। परिणामतः उन्होंने यौवनकालीन प्रेम के संयोग और वियोगजन्य प्रभाव को पूरी तरह स्पष्ट किया है। इसी स्पष्टीकरण में उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, उदाहरण और दृष्टान्त—इन विभिन्न अलंकारों का प्रयोग किया गया है।

काल्पनिक साम्य : इस साम्य-रूप में कवि का कल्पना-विलास विशेष रूप से कार्य करता है। यहाँ कवि का उद्देश्य विलक्षण-साम्य की सृष्टि करना होता है जिससे चमत्कार की सृष्टि हो सके। भाव-तीव्रता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता और न ही प्रतिपाद्य का स्पष्टीकरण इसका उद्देश्य होता है किन्तु इस प्रकार के साम्य में पाठक के मन को कुछ समय के लिए आकृष्ट करने की शक्ति होती है। नन्ददास ने भी काल्पनिक साम्य के लिए अलंकारों का प्रयोग किया है। और इस प्रकार के अलकार उनकी प्रायः सभी रचनाओं में प्राप्त होते हैं।

रासपंचाध्यायी के शरद्-रजनी-वर्णन में चन्द्रिका के सम्बन्ध में कही गई यह उक्ति काल्पनिक साम्य का उदाहरण है—

मंद मंद चलि चारु चंद्रिका अस छवि पाई।
उझकति हैं पिय रमा-रमन कौं मनु तकि आई॥[2]

यहाँ चन्द्रिका को कल्पना के द्वारा मानवीकृत करके प्रस्तुत किया गया है जिसका उद्देश्य कोई रूप-सौन्दर्य, गुणोत्कर्ष अथवा भाव-तीव्रता दिखाना नहीं है अपितु केवल कल्पना से चमत्कार उत्पन्न करना है (उत्प्रेक्षा)। कृष्ण और गोपियों की क्रीड़ा को चन्द्रमा की नक्षत्रों से क्रीड़ा के उदाहरण से समझाया गया है।[3] श्री कृष्ण का अन्तर्ध्यान होकर फिर प्रकट हो जाना दृष्टिबन्ध का खेल माना गया है (उदाहरण)।[4] मण्डलाकार रास-नृत्य की समता को वृन्दावन द्वारा धारण की जाने वाली माला की कल्पना द्वारा स्पष्ट किया गया है (उत्प्रेक्षा)।[5] पीताम्बर धारण किए श्यामल वर्ण श्रीकृष्ण ऐसे लगते है मानो साक्षात् शृंगार ने ही रूप धारणा कर 'प्रेम-अम्बर' ओढ लिया

---

१. पहिलें कान्ह कुँवर पिचका भरि सकल तियन पै मेली।
मानों सोम सुधाकर सींचत, नवल प्रेम की बेली॥
वही, पदावली, पद १७३

२. नं० ग्रं०, रासपंचाध्यायी, १-४५

३. गोपीजन मन-मोहन-मोहन लाल बने यौं।
अपनी दुति के उडुगन उडुपति घन खेलत ज्यौं। वही, रा० पं०, १-८८

४. दृष्टिबंध करि दुरे बहुरि प्रगटे नटवर ज्यौं॥ वही, रा० पं०, ४-२

५. नव मर्कत-मनि स्याम कनक-मनिगन ब्रजबाला।
बृंदाबन कौं रीझि मनहुँ पहिराई माला॥ वही, रा० पं०, ५-५

हो (उत्प्रेक्षा)।[1] शृंगार के आकार धारण करने की कल्पना कवि ने अन्यत्र भी की है। नृत्य के समय श्रीकृष्ण के द्वारा धारण की गई मुक्ता-मालाएँ टूटकर गिरती हुई ऐसे प्रतीत होती हैं जैसे शृङ्गार के पहाड़ से सरस्वती की धारा नीचे आ रही हो (उत्प्रेक्षा)।[2] जल-क्रीड़ा के प्रसङ्ग में कमलों को सम्मुख देखकर कवि को लगता है जैसे इनकी आभा प्रातःकालीन दीपों की तरह गोपियों के आगे फीकी पड़ गई हो।[3] भीगे वस्त्रों से टपकते हुए जल कणों में बिछुड़ने का आभास पाकर आँसू बहाने की कल्पना बहुत प्राचीन है (उत्प्रेक्षा)।[4] 'नाममाला' में आभूषणों को लेकर कुछ कल्पनाएँ की गई हैं। स्नान, पूजा के लिए खिलने को उत्सुक वे कञ्चन-फूल हैं जिनको पूजा के बाद कामदेव ने यहाँ छिपा दिया है (उत्प्रेक्षा)।[5] युवती के द्वारा धारण की गई मेखला मदन-गृह पर बाँधी गई वन्दन-माल है (उत्प्रेक्षा)।[6] एक स्थान पर तो रूपमंजरी के सौन्दर्य का वर्णन कर सकने में असमर्थ कवि अपनी चेष्टा को उस बौने की चेष्टा के समान बताता है जो चन्द्रमा को पकड़ने के लिए हाथ पसारता है (उदाहरण)।[7] सुदामाचरित में द्वारका का वैभव-वर्णन करते समय कवि ने पताकाओं की बिना बादलों के चमकने वाली बिजली के रूप में कल्पना की है (उत्प्रेक्षा और विभावना)।[8] सुदामा के वापस लौटने पर उनकी स्त्री का प्रसन्नता में भरकर चमकना (खिलना) सुमेर पर्वत पर चमकने वाली बिजली के रूप में वर्णित किया गया गया है (उत्प्रेक्षा)।[9] कृष्ण जन्म के अवसर ब्रज-युवतियाँ सज-धज कर चली जा रही हैं। ऐसे अवसर पर उनके सिर से गिरने वाले

---

१. अद्भुत साँवल अंग बन्यो अद्भुत पीतांबर।
मूरति धरि सिंगार प्रेम-अंबर ओढ़े हरि॥ वही, पृष्ठ २२

२. टूटि मुकुति की माल छूटि रहि साँवरे उर पर।
जनु सिंगार पहार तें सुरसरि धाई धर्सो धर॥ वही, पृष्ठ २८

३. मुख कमलनि के आगें जल अरविन्द लगे अस।
भोर भएँ भौननि के आगे दीपक मंद परत जस॥ वही, पृष्ठ २९

४. रुचिर निचोरनि चुवत नीर लखि भे अधीर तनु।
तन बिछुरन की पीर चीर अँसुअन रोवत जनु॥ वही, पृष्ठ २९

५. कंचन-संपुट देव जनु, पूजि छिपाए मैन॥ नाममाला, दोहा ६२

६. क्षुद्रावलि जनु मयन-गृह, बाँधी वंदनमाल। वही, दोहा ६३

७. रूपमंजरी छवि कहन, इंदुमती मति कौन।
ज्यों निर्मल निसिनाथ कों, हाथ पसारै बौन॥
नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पृष्ठ १०९

८. तापर चपल पताका चमकै। बिनु घन जनु दामिनि सी दमकै॥
नं० ग्रं०, सुदामाचरित, पृष्ठ १८६

९. आतुर तिय लखि पियहिं सुचमकी। जनु सुमेर तें दामिनि दमकी।
वही, पृष्ठ १८८

पुष्पों को देखकर कवि कल्पना करता है कि मानों केश हँस रहे हों (उत्प्रेक्षा)[1] और उसके हाथ पर रखे कंचन-थार उसे कमल पर चढ़कर जाते हुए चन्द्रमा के समान प्रतीत होते हैं (उत्प्रेक्षा)। इसी कल्पना को कवि ने पदावली में दुहराया है।[2] शीश से झड़ने वाले कुसुमों की कल्पना को एक अन्य ढंग से भी प्रस्तुत किया गया है। यहाँ चरणों की गति पर रीझकर केशों के पुष्प बरसाने की बात कही गई है (उत्प्रेक्षा)।[3] श्रीकृष्ण का त्रिभंगी रूप और श्यामल वर्ण कवि की कल्पना के अनुसार राधा की भौंह की भंगिमा और काजलयुक्त दृष्टि से देखने का परिणाम है (उत्प्रेक्षा)।[4] इसी प्रकार कवि ने एक स्थान पर कल्पना की है कि प्रियतम का मन प्रिया के चिबुक-गड्ढे में गिर पड़ा है उसी को निकालने के लिए कुटिल अलक की फाँस लटक रही है (उत्प्रेक्षा)।[5]

इन काल्पनिक साम्य के लिए प्रयुक्त अलङ्कारो मे उत्प्रेक्षा की प्रधानता होना स्वाभाविक है। क्योंकि कल्पना के उड़ने वाले पंखों को इस अलङ्कार में विशेष आश्रय मिलता है। वैसे उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त उपमा और उदाहरण का भी प्रयोग हुआ है।

व्यंग्य-साम्य के भी कुछ उदाहरण नन्ददास की रचनाओं में प्राप्त हो जाते हैं। व्यंग्य-साम्य का उद्देश्य समता बताना न होकर किसी खास आशय की व्यंजना हुआ करता है। इसी कारण यहाँ व्यंजित आशय को जानकर ही साम्य-योजना की सार्थकता स्पष्ट होती है। वैसे व्यंग्य-साम्य द्वारा उक्तियाँ मार्मिक और तीव्र होती है। वेणी को सर्पिणी के सदृश मानकर दोनों में यह साम्य स्थापित किया गया है कि वेणी बुरी दृष्टि से देखने वाले व्यक्ति को सर्पिणी के समान काटती है।[6] यहाँ सर्पिणी का काटना और वेणी को देखकर कसक उठना दोनों मे समानता स्थापित की गई है। यद्यपि समता अधिक ग्राह्य नहीं कही जा सकती।

---

१. सुषम कुसुम सीसनि ते खसैं। जनु आनंद भरे कच हँसे॥
वही, भा० द०, पृष्ठ २०४

२. हाथनि कंचन थार रही लसि, कँवलन चढ़ि आये मानो ससि॥
वही, पदावली, पद २४

३. खसि खसि परत सुमन सीसन तें उपमा कहा बखानौं।
चरन चलन पै रीझि चिकुर-बर, बरषत फूलन मानौं॥
वही, पदावली, पद २९

४. तेरी भौंह की मरोर तें ललित त्रिभंगी भए,
अंजन दै चितए तबै भये स्याम, बाम री॥
वही, पदावली, पद ७२

५. चिबुक-कूप मधि पिय मन पर्यो अधर-सुधा रस आस।
कुटिल अलक लटकत काढ़न कौं, कंटक डारि बाँधि प्रेम के पास॥
वही, पदावली, पद ६३

६. बेनी बनी कि सांपनि सुहाई। बुरी दृष्टि देखे तिहि खाई॥
नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पृष्ठ १०७

नन्ददास के काव्य में अधिक संख्या साम्यमूलक अलङ्कारों की ही है। शेष वर्गों के अलङ्कार बहुत कम हैं। इनमें से कुछ की चर्चा की जा सकती है। शुकदेव का पृथ्वी पर गंगादिकों को भी पवित्र करते हुए विचरण करना[1], रूपमंजरी के सौन्दर्य के प्रकाश में दीप जलाने की आवश्यकता न पड़ना[2], युवती के शरीर का स्पर्श करने पर भी मृदुता के कारण स्पर्श का ज्ञान न होना[3], पेड़ों को देखने मात्र से भूख का भाग जाना,[4] विरहिणी की श्वासों को ज्वालामुखी मानना[5], नायिका के वक्षस्थल पर धारण किये हुए मोतियों का लाल हो जाना[6], अश्रुप्रवाह से सब कुछ भीग जाना[7], मन की गति धारण करना[8], गोपियों द्वारा घने वन में अपने मुख के प्रकाश का सहारा लेकर श्रीकृष्ण को खोजना[9], गर्मी की अधिकता मे दादुर का सर्प-फण के नीचे बैठना[10]—आदि उक्तियों में अतिशयोक्ति और अत्युक्ति अलङ्कार हैं।

रूपमंजरी के केश बिना इतर-फुलेल के ही सुगन्धित हैं (विभावना)।[11] श्रीकृष्ण के हाथ में मुरली है जिसमे से राग बिना बजाए ही निकलते है (विभावना)।[12] बिना अग्नि के युवती का जलना (विभावना)।[13] अञ्जन बिना लगाए नेत्रों का शोभित

---

१. गंगादिकनि पवित्र करत अवनि पर डोलैं। रा० पं०, १-१२

२. ता भूपन कें भवन कोउ, दीप न बारत सांझ।
विन ही दीपहि दीप जिमि, दिपय कुंवरि घर मांझ॥
नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पृष्ठ १०५

३. परसत ही जनु नाहिन परसी। अस मृदुता प्रमदा-तन परसी।
नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पृष्ठ १०६

४. रूखन देखि भूख भजि जाई॥ वही, पृष्ठ १११

५. ते उसास अगिनि की उषी, कुंवरि कि देवी ज्वालामुखी॥ वही, पृष्ठ ११७

६. हार के मुतिया उरझर माहीं। तचि तचि तरकि लवा ह्वै जाहीं।
वही, पृष्ठ १२३

७. उमग्यो ज्यों तहँ सलिल सिन्धु लै तन की धारन।
भींजत अंबुज नीर कंचुकी भूषन हारन॥ वही, भ्रमरगीत, छन्द ६१

८. मन की सी गति करें चलें कुंडिनपुर आये। वही, रुक्मिणीमंगल, ७५

९. अपने मुख चांदने चलें सुन्दरि तिन माहीं।
जहँ आवैं तम पुज कुंज गह्वर तरु छाहीं॥ वही, रा० पं०, २-१७

१०. अति निदाघ मैं अस सुधि नाहीं। दादुर रहत फनी-फन छांहीं॥
वही, रूपमंजरी, पृष्ठ १२३

११. सहज सुगन्ध सांवरी अलकें। विनहिं फुलेल उलेल सो झलकें॥
नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पृष्ठ १०६

१२. मुरली हाथ सुहाई माई। विनहि बजाई राग चुचाई।
वही, रूपमंजरी, पृष्ठ ११३

१३. अरे सकुनि, बिन अगिनि दहै रे। वही, रूपमंजरी, पृष्ठ ११६

होना (विभावना) ।[1] श्रीकृष्ण के पर-स्त्री के अधर-सुधा पान करने पर खंडिता नायिका का सिर घूमना (असंगति) ।[2] बादलों का गरजना और विरहिणी के नेत्रों का बरसना (असंगति) ।[3] प्रिय मेरे प्राण अथवा मैं तुम्हारे पास आयेंगे (विकल्प) ।[4] उद्धव के स्वामी कूबरीदास है (विरोध) ।[5] लक्ष्मी उमा आदि जिसकी दासी है तो फिर अप्स-राओं का क्या कहना (काव्यार्थापत्ति) ।[6] उस प्रभु का नाम लेने से तो भव-सागर पार किया जा सकता है तो शत-योजन सिंधु को पार करने की बात तो क्या है (अर्थापत्ति) ।[7] श्रीकृष्ण का सारी रात जागना और खंडिता के नेत्रो का अरुण होना (असंगति) ।[8] रात्रि घट गई पर तेरा मान नही घटा (विरोध) ।[9] जिसके दर्शन को सारा ससार तरसता है वह तुम्हारे दर्शन के लिए लालायित है (विरोध) ।[10] भँवरगीत में व्याज-स्तुति[11] और सम[12] के उदाहरण के अतिरिक्त इन्दुमति का रूपमंजरी को श्रीकृष्ण से मिलाने की प्रतिज्ञा में स्वाभावोक्ति अलङ्कार है[13] और कहाँ ईश्वर की दया और कहाँ इन्दुमति की कुटिलता में विषम अलंकार है ।[14]

अलङ्कारों की उपर्युक्त चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नन्ददास सौन्दर्य प्रिय कवि रहे है। उन्होंने अलङ्कारों के प्रयोग मे सौन्दर्य की सृष्टि को ही ध्यान

---

१. अंजन बिनु दिखि नैन सुहाये । वही, रूपमंजरी, पृष्ठ ११७
२. अधर सुधा सब पिय तुम पियो । घूमत है इह हमरो हियो ।
वही, रसमंजरी, पृष्ठ १२६
३. गरजै घन बरसै तिय नैन । वही, विरहमंजरी, पृष्ठ १४७
४. कै हौं कै इह जीय कोउक तुम पैं आय है । वही, विरहमंजरी, पृष्ठ १५०
५. स्वामी तुम्हरो स्याम कूबरीदास कहावै । वही, भ्रमरगीत, छन्द ४७
६. रमा उमा सी दासी जाकी । सुरपति-रवनी कौन बराकी ॥
वही, गोवर्धन लीला, पृष्ठ १६७
७. जा प्रभु को नाम लेत भव जल तरि जात हैं ।
सत जोजन सिन्धु कूद्यो तो किसी एक बात है ॥ वही, पदावली, पद १६
८. जागे हो रैन सब तुम नैना अरुन हमारे । वही, पदावली, पद ६१
९. तेरोई मान न घट्यो आली री घटि, जु गई रजनी ॥
वही, पदावली, पद १३१
१०. जाके नित दरसत कों सब जग तरसत रहैं,
सोई बिनु देखे तेरे नेकु न रह्यो जात री । वही, पदावली, पद १३६
११. मग में मारी ताड़का रघुवंशी कुलदीप । वही, भ्रमरगीत, छन्द ३६
१२. मनो त्रिभंगी आपु है करी त्रिभंगी नारी । वही, भ्रमरगीत, छन्द ५४
१३. ऐसे ही जौ तोहि मिलाऊँ । इन्दुमती तौं नाम कहाऊँ ॥
वही, रूपमजरी, पृष्ठ ११२
१४. कहँ हौं कुटिल कुचील कुहिय को । कहं इह दया सांवरे पिय की ।
वही, रूपमंजरी, पृष्ठ ११३

में रखा है। और प्रकृति तथा जीवन के सभी क्षेत्रों से उपमानों का चयन करके इस अभीष्ट की सिद्धि की है। उपमानों के चयन में कवि ने प्रकृति तथा जीवन के विभिन्न पक्षों के अतिरिक्त शास्त्र और पौराणिक कथाओं का भी उपयोग किया है। शास्त्रीय उपमानों का प्रयोग भक्ति-भाव और उससे प्राप्त परिणाम को स्पष्ट करने के लिए किया गया है। इसके विपरीत पौराणिक कथाओं को भाव-तीव्रता की अभिव्यंजना के लिए प्रयुक्त किया गया है। वस्तुतः इन सभी उपमानों के प्रयोग में कवि ने इस आदर्श को पूर्ण रूप से सम्मुख रखा है कि वे 'प्रस्तुत के समान ही सौन्दर्य, दीप्ति, कान्ति, कोमलता, प्रचण्डता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता इत्यादि की भावना को जगाते हैं।'[1]

प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही मूर्त्त और अमूर्त्त हो सकते हैं। सादृश्य-विधान के लिए नन्ददास ने उपमान-संयोजन के सभी सिद्ध रूपों को स्वीकार किया है—

१. मूर्त्त के मूर्त्त उपमान
२. अमूर्त्त के अमूर्त्त उपमान
३. मूर्त्त के अमूर्त्त उपमान
४. अमूर्त्त के मूर्त्त उपमान
५. मूर्त्तामूर्त्त उपमान

इनके प्रयोग के लिए किसी निश्चित सिद्धान्त को नहीं स्वीकार किया गया। भावोत्कर्ष और प्रतिपाद्य-विषय के स्पष्टीकरण के लिए जहाँ जैसी उपयुक्तता हुई, वैसा ही उपमान-संयोजन कवि ने स्वीकार कर लिया है। सारांश यह है कि अप्रस्तुत-योजना सौन्दर्य-बोध और भाव-तीव्रता—दोनों में सहायक होने के कारण अत्यधिक प्रभावपूर्ण है। यद्यपि उत्प्रेक्षा कवि का विशेष प्रिय अलङ्कार रहा है किन्तु अन्य अलङ्कारों के प्रयोग की उपेक्षा नहीं है। इनमें से उपमा, रूपक, उदाहरण, दृष्टान्त और अतिशयोक्ति पर कवि का ध्यान विशेष रहा है। अलङ्कारों का प्रयोग उन स्थलों पर बहुत स्पष्ट है जहाँ किसी प्रकार का वर्णन कवि को अभीष्ट रहा है। प्रकृति से लेकर रूप-वर्णन के सभी स्थल वर्णनात्मक कहे जाएँगे। जहाँ भाव की तीव्रता अधिक है वहाँ अलङ्कार-रहित सहज भावाभिव्यक्ति लक्षित की जा सकती है। किन्तु इस प्रकार के स्थल अधिक नहीं हैं। क्योंकि उनका मुख्य ध्येय चित्राङ्कन है। और चित्राङ्कन में अलङ्कारों का योगदान बहुत अधिक है। अलङ्कारों के प्रयोग से इन्होंने केवल मानवीय पात्रों का सौन्दर्य-वर्धन नहीं किया वरन् साथ ही प्राकृतिक पदार्थों को भी सजीव बनाया है। प्रभाव-साम्य के बहुत से चित्र लक्षणा के प्रयोग को सूचित करने वाले है। इस शब्द-शक्ति के प्रयोग के कारण सौन्दर्य और अनुभूति का अपूर्व सम्मिश्रण हो सका है। और यह नन्ददास के अलङ्कारों की एक बहुत बड़ी विशेषता है।[2] भाषा की दृष्टि से अलङ्कारों के सामूहिक प्रभाव को स्पष्ट करते हुए पं० उमाशंकर शुक्ल ने एक स्थल पर कहा है,

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि
२. ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प, डॉ० सावित्री सिन्हा, पृष्ठ ३४१

'अनुप्रासादि शब्दालंकारों तथा उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अर्थालंकारों से लदी हुई जिस साहित्यिक भाषा की कवि ने सृष्टि की है, उसमें सरस प्रवाह है, अद्भुत संगीत है और हृदय पर चोट करने की शक्ति है ।'[1] इस उक्ति से स्पष्ट है कि नन्ददास के काव्य में प्रयुक्त अलङ्कारों का भाषा के सौन्दर्य-वर्धक और उसे भावाभिव्यंजन के अनुरूप बनाने में कितना अधिक योगदान है ।

भाषा-समृद्धि

नन्ददास की सभी रचनाओं में प्रयुक्त भाषा व्रजभाषा है । यद्यपि नन्ददास संस्कृत के अच्छे पंडित थे किन्तु उनके द्वारा रचित किसी संस्कृत रचना का उल्लेख नही मिलता। इसके विपरीत संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर भाषा में ग्रंथ-रचना की बात उन्होंने स्वयं कही है[2]—दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता में भी ऐसा उल्लेख है । नन्ददास के समय व्रजभाषा के अतिरिक्त अवधी का भी काव्य-रचना के लिए प्रयोग किया जाता था । और सोरों से प्राप्त नन्ददास की जीवन-सामग्री उन्हें पूर्वी प्रदेश का निवासी सिद्ध करती है । किन्तु भाषा-प्रयोग की दृष्टि से अवधी का कोई विशेष प्रभाव उनके काव्य पर लक्षित नही होता । अवधी के कुछ शब्दों का प्रयोग उनकी भाषा में अवश्य है किन्तु इस प्रकार से शब्दों का आदान सभी बड़े कवियों में पाया जाता है । इसके विपरीत उनकी भाषा में शुद्ध व्रजभाषा का प्रयोग लक्षित होता है । अपनी भाषा को सज्जित तथा समृद्ध करने का भी पूर्ण यत्न नन्ददास ने किया है । भाषा में सज्जा का स्वरूप और उसके विविध साधनों की चर्चा हमने ऊपर की है । आगे हम उसकी समृद्धि की चर्चा करेंगे ।

भाषा को भावानुरूप अभिव्यंजना के योग्य बनाने के लिए कवि का शब्द-कोष समृद्ध होना अत्यधिक आवश्यक है । शब्द वस्तुतः भाव-प्रकाशन का मूल साधन हैं । इसीलिए उसी कवि की भाषा समृद्ध मानी जाती है, जिसके पास शब्दों का विस्तृत भण्डार हो । इन शब्दों के आधार पर ही वह प्रतिपाद्य वस्तु को अपनी इच्छानुसार प्रस्तुत कर सकता है । अर्थ को इच्छित रूप देने के लिए शब्द के सम्बन्ध मे पूर्ण ज्ञान होना अत्यधिक सहायक होता है और यदि शब्द की व्युत्पत्ति, स्वरूप विकास आदि का उसे पूर्ण परिचय हो तो वह शब्दों की काँट-छाँट कर उन्हें नया और अधिक अर्थ-गर्भित रूप देने में भी समर्थ हो जाता है । कवि को समानार्थक विभिन्न शब्दो में प्रसंग एवं सन्दर्भ के अनुकूल सबसे अधिक उपयुक्त शब्द का निर्णय करना होता है किन्तु यदि कवि का शब्द-कोष अधिक समृद्ध नही होता वह अपनी अभिव्यक्ति को समर्थ नही बना पाता । शब्द-समृद्धि के उद्देश्य से कवि केवल स्वीकृत भाषा के शब्दो तक सीमित नही रहता, अपनी पूर्ववर्ती और समकालीन अन्य भाषाओं के शब्दों को भी वह ग्रहण

---

१. नन्ददास, भूमिका, पृष्ठ १११

२. रसमंजरि अनुसार कै, 'नंद' सुमति अनुसार ।
बरनत बनिता-भेद जँह, प्रेम सार विस्तार ॥
नं० ग्रं०, रसमंजरी, पृष्ठ १२७

करता है। इसी प्रकार अनुकूल वातावरण-सृजन की दृष्टि से कवि साहित्यिक भाषा के शब्दों के अतिरिक्त देशज शब्दों को स्वीकार करता है। और भाषा में ध्वन्यात्मकता और संगीत की दृष्टि से कुछ शब्दों या स्वयं निर्माण करता है—इन शब्दों को हम अनुकरणात्मक शब्द कहते हैं। इस प्रकार शब्द-समूह के अन्तर्गत जिन विभिन्न वर्गों के शब्दों का प्रयोग होता है वे हैं—(१) तत्सम, (२) अर्ध तत्सम, (३) तद्भव, (४) देशज, (५) विदेशी, (६) प्रान्तीय भाषाओं के शब्द और (७) अनुकरणात्मक शब्द। इन्हीं विभिन्न वर्गों के आधार पर हम नन्ददास की शब्द समृद्धि पर प्रकाश डालेंगे।

तत्सम शब्द—संस्कृत से गृहीत शब्द तत्सम शब्द हैं। इनका प्रयोग कवि दो रूपों में करते हैं—(१) उनमे बिना किसी प्रकार का परिवर्तन लाये और (२) भाषा की प्रकृति के अनुरूप उनका थोड़ा-सा रूप बदलकर। तत्सम शब्दों के प्रयोग का उद्देश्य भाषा-समृद्धि के अतिरिक्त शब्द-क्रीड़ा के लिए भी किया जाता है। तत्सम शब्दों का प्रयोग नन्ददास के काव्य में दो स्थलो पर हुआ है—व्याख्यात्मक स्थल और अप्रस्तुत-योजना अथवा कल्पना-प्रधान स्थल। व्याख्यात्मक स्थलों में सिद्धान्त-निरूपण और स्तुति वाले प्रसंगों को लिया जा सकता है। नन्ददास ने स्तुति, भाषा दशमस्कन्ध और पदावली के आरम्भिक पदों में कराई है। अन्य रचनाओं में स्तुति प्रेमभरी कातरता-सूचक विनय और प्रार्थना के रूप में हमारे सामने आती है। अतः नन्ददास के काव्य में सिद्धान्त-चर्चा के प्रसंगो में तत्सम शब्दों की प्रधानता लक्षित की जा सकती है। सिद्धान्त-व्याख्या की दृष्टि से सिद्धान्त-पंचाध्यायी और भ्रमरगीत का विशेष महत्त्व है। इन्हीं रचनाओं में तत्सम शब्दों की प्रधानता है। सिद्धान्तपंचाध्यायी का आरम्भ तत्सम शब्दावली प्रधान छन्द से होता है—

जै जै जै श्रीकृष्ण रूप गुन कर्म अपारा।
परम धाम जग धाम परम अभिराज उदारा॥[1]

वस्तुतः यह स्तुति ही है—इसे कवि ने मंगलाचरण का रूप दिया है। मंगलाचरण उन्होंने अपनी प्रायः अधिकांश रचनाओ में दिये हैं। प्रस्तुत छन्द में 'जै जै' के अतिरिक्त सभी प्रयुक्त तत्सम शब्दो को ज्यों का त्यों ग्रहण किया गया है। 'जै'—जय का रूप है जिसे कवि ने भाषा की प्रकृति के अनुसार थोड़ा भिन्न कर दिया है। कहीं-कहीं तो समस्त पदावली का प्रयोग यहाँ लक्षित किया जा सकता है—

सो माया जिनकै अधीन नित रहत मृगी जस।
विश्व-प्रभव-प्रतिपाल-प्रलय कारक आरसु बस॥[2]

यहाँ शब्दावली का सामंजस्य है। व्रजभाषा की प्रचलित शब्दावली के साथ तत्सम शब्दों का प्रयोग यहाँ किया गया है। 'अधीन' और 'नित' शब्दों का तत्सम रूप क्रमशः 'आधीन' और 'नित्य' है। सिद्धान्तपंचाध्यायी सिद्धान्त प्रतिपादक अथवा स्थापक

१. सिद्धान्तपचाध्यायी, १
२. वही, ५]

रचना नहीं है। यहाँ सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण एवं व्याख्या पर बल है। इसीलिए तत्सम शब्दों के प्रयोग में लेखक का ध्यान रूढ़ और प्रचलित शब्दो के प्रयोग पर ही रहा है।

काल-कर्म-माया-अधीन ते जीव बखानें।
विधि-निषेध अरु पाप-पुण्य तिन में सब साने ॥[1]

इसके विपरीत भ्रमरगीत की भाषा शास्त्रीय तर्क-वितर्क की भाषा है। उसमे तत्सम शब्दों के प्रयोग में प्रतिद्वन्द्वी को परास्त करने की भावना अधिक है और पाठक पर भाव को स्पष्ट करने की चेष्टा सर्वत्र नहीं है। एक उदाहरण से हमारा आशय स्पष्ट हो जायेगा—

सगुन सबै उपाधि रूप निर्गुन लै उनको।
निराकार निर्लेप लगत नहिं तीनों गुन को।
हाथ पाँय नहिं नासिका नैन बैन नहिं कान।
अच्युत ज्योति प्रकासिका, सकल विस्व के प्रान ॥[2]

यहाँ ऐसे कई शब्दों का प्रयोग किया गया है जो यदा-कदा ही प्रयुक्त होते है। यह सत्य है कि इन शब्दों को प्रयुक्त करते समय उसने थोड़ा-सा रूप परिवर्तित कर दिया है पर उससे कोई विशेष अन्तर नही पड़ता। निराकार, निर्लेप, अच्युत, ज्योति-प्रकासिका—आदि ऐसे ही शब्द हैं। किन्तु जहाँ प्रचलित शब्दों को स्वीकार किया गया है वहाँ भाषा की सुबोधता बनी रही है।

कर्महि निंदौ कहा कर्म तें सदगति होई।
कर्म रूप तें बली नाहिं त्रिभुवन में कोई ॥
कर्महि तैं उतपत्ति है कर्महि तें सब नास।
कर्म किए तें मुक्ति होइ पारब्रह्म-पुर वास ॥[3]

यहाँ अनेक तत्सम शब्द प्रयुक्त है किन्तु वे सभी कथाश्रोताओं के परिचित है—क्योंकि उनके बिना पारमार्थिक कथा आगे बढती ही नही। कर्म, सद्गति, त्रिभुवन, उत्पत्ति, नाश, मुक्ति आदि ऐसे शब्द है जिनका प्रत्येक भाषा मे प्रयोग होता है। अपनी भाषा के अनुसार हम उसे *'नाश'* का *'नास'* भले ही कर लें परन्तु उसका प्रयोग अवश्य करते है।

अप्रस्तुत-योजना में तत्सम शब्दावली का प्रयोग अत्यधिक कौशल से किया गया है। इन शब्दों के प्रयोग से चमत्कार की सृष्टि के अतिरिक्त विषय की स्पष्टता का भी ध्यान रखा गया है।

मंद परस्पर हँसीं लसीं तिरछी अँखियाँ अस।
रूप उदधि उतराति रँगीली मीन पाँति जस ॥[4]

---

१. वही, १५
२. भ्रमरगीत, छन्द-संख्या ६
३. भ्रमरगीत, छन्द-संख्या १५
४. रासपंचाध्यायी, १-७४

प्रस्तुत छन्द में आये शब्द तत्सम हैं। किन्तु उन्हें भाषा में ऐसे जड़ दिया गया है कि वे ब्रजभाषा के अपने शब्द प्रतीत होते हैं। रुक्मिणीमंगल में ब्राह्मण द्वारका का वर्णन कर रहा है—

> उज्जल मनि-मय अटा, घटा सी बातें करई।
> जगमग ज्योति होति रवि ससि सों अरई॥[1]

यहाँ उज्ज्वल, मणिमय, अटारी, घटा, ज्योति, रवि, शशि इन तत्सम शब्दों को ब्रजभाषा के अनुरूप बनाकर कवि ने प्रयुक्त किया है। पर सभी अपना मूल रूप बनाये रखकर भी भाषा के सौन्दर्य और अर्थ को गौरव प्रदान कर रहे हैं। पदावली के उन स्थलों पर जहाँ भाव की प्रधानता है, अप्रस्तुत-योजना में तत्सम शब्दों की प्रचुरता नहीं है किन्तु लीला-वर्णन के उन पदों में जहाँ कवि उत्प्रेक्षा की लड़ियाँ-सी गूँथ देता है वहाँ तत्सम शब्दों का बाहुल्य स्पष्ट लक्षित होता है।

> कमल फिरावत कर वर बाला माला उरसि सराइ।
> मंजुल मुकुर मरीचिन सी मनु छिन-छिन छबि अधिकाइ॥[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि ने तत्सम शब्दावली का प्रयोग बहुलता से केवल कुछ स्थलों पर किया है। वैसे अन्य स्थलों पर तत्सम शब्दों का बहिष्कार नहीं किन्तु भाषा की स्वाभाविकता पर विशेष बल होने के कारण जो शब्द स्वतः प्रसंगवश आ गये हैं, केवल उन्हीं का प्रयोग किया गया है। क्योंकि भाषा सौन्दर्य और स्वाभाविकता—दोनों नन्ददास के लक्ष्य हैं। वैसे इस वर्ग के शब्दों का भण्डार नन्ददास के पास पर्याप्त था, यह बात अनेकार्थ भाषा और नाममाला ग्रन्थों मे प्रयुक्त शब्दों से स्पष्ट हो जाती है।

अर्द्धतत्सम शब्द—ऊपर हमने तत्सम शब्दों की चर्चा में इस बात का उल्लेख किया था कि नन्ददास ने ऐसे अनेक शब्दों को जो ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल नही थे, थोड़ा परिवर्तित कर स्वीकार किया है। कही यह परिवर्तन तत्सम की बहुत निकटता तक सीमित रहता और कहीं परिवर्तन की मात्रा पर्याप्त होती है। जहाँ परिवर्तन के द्वारा शब्द के रूप को बहुत कुछ बदल दिया जाता है वहाँ अर्द्धतत्सम शब्द ही माने जाते हैं। इस प्रकार के कुछ शब्द प्रयोग सहित हम नीचे देते हैं—

तत्सम रूप		अर्द्धतत्सम और उसका प्रयोग
आत्मनिष्ठ, आत्मगामी	:	ज्ञान आतमानिष्ठ गुनन यों आतमगामी।[3]
अन्तर्यामी	:	सब घट अंतरजामी स्वामी परम एक रस।[4]
परमात्मा	:	अनेक शक्ति करि आवृत सोहैं परमातम ज्यों।[5]

---

१. नं० ग्रं०, रुक्मिणीमंगल, ३५
२. वही, पदावली, पद १८३
३. सिद्धान्तपंचाध्यायी, ३९
४. वही, ८८
५. वही, १०४

अश्रद्धा : हीन असर्धा निंदक नास्तिक धरम बहिर्मुखी ।[1]
उज्ज्वल : यह उज्जवल रस-माल कोटि जतनन कै पोई ।[2]
परिक्रमा : अर्घासन बैठाय बहुरि परिकरिमा दीनी ।[3]
वीरुध : जहँ नग खग मृग कुंज लता बीरुध तृन जेते ।[4]
मूर्च्छा : मुरछि पर्‌यो तब मैन कहूँ धनु कहुँ निषंग सर ॥[5]
सगुण : सर्गुन सबै उपाधि रूप निर्गुन लै उनको ।[6]
स्नान उष्णोदक : अष्ट गंध उसनोदक सों असनान कराये ॥[7]

नन्ददास ने कुछ संस्कृत क्रियाओं को भी परिवर्तन के साथ स्वीकार किया है। राजति, हँसति, चलति, निरखति, विलपति आदि क्रियाएँ इसी प्रकार की हैं। कुछ प्रयोग ये हैं—

नृत्यति : देखो री नागर नट निरतत कलिंदी-तट ।[8]
विलप्य : सा बाला अति विलपि अखंडित प्रेम देखायो ।[9]

इस प्रकार के शब्दों की रचना भाषा की संगीतात्मकता, लय, और माधुर्य की रक्षा के लिए हुई है। जिन शब्दों में परिवर्तन किया गया है उनमें से कर्ण-कटु संयुक्ताक्षर और कठिन शब्दों के मधुर प्रयोग, सम्पूर्ण वर्ण तथा सरलता की ओर कवि का ध्यान विशेष रहा है।

तद्‌भव शब्द—तद्‌भव शब्द भाषा का सबसे बड़ा आधार होते हैं। क्योंकि भाषा की स्वाभाविकता के लिए इन्हीं का प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है। और इन्हे भाषा की निजी सम्पत्ति कहना अनुचित न होगा। मूलतः ये शब्द संस्कृत शब्दों से गृहीत हैं किन्तु परिवर्तन और प्रयोग दोनों के कारण ये मूल रूप से बहुत मात्रा में भिन्न हो जाते है। अत इन्हीं के प्रयोग से भाषा को व्यावहारिक और सजीव रूप प्राप्त होता है। नन्ददास के काव्य में तद्‌भव शब्दों का प्रयोग भाषा के इसी लक्ष्य—स्वाभाविकता और व्यावहारिकता को ध्यान में रखकर किया गया है। कुछ प्रयोग इस बात को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त होंगे—

अंधियार : पसरि पर्‌यो अँधियार सकल संसार घुमड़ि घुरि ।[10]

---

१. रासपंचाध्यायी, ५-३७
२. वही, ५-४०
३. भ्रमरगीत, छन्द ४
४. रासपंचाध्यायी १-१८
५. वही, १-६६
६. भ्रमरगीत, छन्द ६
७. नं० ग्रं०, रुक्मिणी मंगल, ५०
८. वही पदावली, पद ११६
९. सिद्धान्तपंचाध्यायी, ६०
१०. रासपंचाध्यायी, १-१३

गहि : सिंघासन बैठाइ हाथ गहि कुंवरि दिखाई ।[1]
फटिक : फटिक छरी-सी किरन कुंज-रंध्रनि जब आई ॥[2]
छादन : छबीलि अपने छादन छवि सों विछा दियो है ।[3]
तिय : कोउ सखि कर पर तिरप बांधि निरतत छविली तिय ।[4]
पाछें : छविली तियन के पाछें आछें विलुलित बेनी ।[5]
छाहीं : दादुर रहत फनी फन छाहीं ।[6]
ठगौरी : प्रेम-ठगौरी लाई ।[7]
दाहिहौ : विरह अनल अब दाहिहौ।[8]
थार : हाथनि कंचन थार रही लसि ।[9]

इनके अतिरिक्त प्रयुक्त तद्भव शब्द इस प्रकार हैं—बानक, दीठि, चंद, बैस, लसै, विजन, कान्हर, पावस, हिय, पाहन, ओपी, सूरि, मग, मरहठ, अंचरा, पचि-पचि, हेरी, दिसि, साँझ, सरिस, सजनी, मीत, बूडत, जीह, जुगति, औसर आदि ।

देशज शब्द—इन शब्दों का प्रयोग भाषा-विशेष के रूप को स्थिर रखने के लिए अत्यधिक आवश्यक है । अन्य प्रकार की शब्दावली चाहे कितनी भी अधिक हो, वह तब तक भाषा को अपनापन देने में समर्थ नहीं जब तक भाषा-विशेष के पास अपनी शब्दावली नहीं होती । यही देशज शब्द उसे अन्य भाषाओं से पृथक् करने में सहायक हुआ करते हैं । ब्रजभाषा तो इस प्रकार के शब्दों से समृद्ध है । इन्हीं के साथ मिलकर तत्सम, तद्भव आदि शब्द ब्रजभाषा की सम्पत्ति हो जाते हैं । नन्ददास के काव्य में प्रयुक्त होने वाले कुछ देशज शब्दों की सूची पर्याप्त होगी—

बीर, रूसि, बिरिया, चोरा, ढरक्यो, लुनाई, घुमारे, नेरे, ओस, सिरावहु, अहुरि बहुरि, छेंकि, नैसुक, बिथुरन, छिया, बिररौ, खुभी, पहपटिया, नौहरि, लवा, होड़नि, बीरी, बागैं, चुचात, राँच्यो, डहडहे, मनमूसे, उलहे, बिलोलैं, काछें, बिलुठत, अपबस, मलकनि, बिलुलित, चाहि, कैंक, उसेसी, निसैनी, नितसि, फंदे, अरगाई, साख, गहर, सौंधे, पटोरन, कोप, हुमेल, बंकुस, मयार, कोरैं, गहरु, कामरि, हथलेवा, ढुलिया, बिसैसी, बीजना आदि ।

विदेशी शब्द—नन्ददास की भाषा में विदेशी शब्दों का प्रयोग बहुत सीमित

---

१. स्याम-सगाई, २५
२. रा० पं०, १-४४
३. वही, ४-८
४. वही ५-१२
५. वही, ५-१०
६. नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पृष्ठ १२३
७. भ्रमरगीत, छन्द ८
८. वही, छन्द ३४
९. पदावली, पद २४

है। उन्होंने अपने समकालीन सभी कवियों से विदेशी शब्दों का व्यवहार कम किया है। यद्यपि इस्लामी संस्कृति और भाषा के प्रचार से फारसी और अरबी के कुछ अत्यधिक प्रचलित हो रहे थे किन्तु नन्ददास के सम्पूर्ण काव्य में विद्वानों को ढूंढ़ने पर चार शब्दों—गरज, अरदास, लायक और महल का प्रयोग मिल सका है। डॉ० दीनदयालु गुप्त ने प्रथम तीन का[1] और डॉ० भवानीप्रसाद उप्रेती ने अन्तिम तीन शब्दों का उल्लेख किया है।

गरज : 'जाकी रंचक रज गरज, अज सें मरि पचि जात।'

लायक : 'अहो विप्र धन लोभ न कीजै। या लाइक, नाइक कूं दीजै।
कूर वचन जनि कहौ नहिन ये तुम्हारे लाइक।

अरदास : 'बहुत भाँति वंदन कही, बहुतहिं करि अरदास।

प्रान्तीय भाषाओं के शब्द—व्रजभाषा से इतर भाषाओं में से नन्ददास ने अवधी से कुछ शब्द ग्रहण किये हैं। नन्ददास की भाषा में इन शब्दो का आ जाना स्वाभाविक है। क्योंकि कुछ अवधी भाषा के शब्द उस काल में इतने अधिक प्रचलित हो गए थे कि वे व्रजभाषा के शब्दों के समान सामान्यतया प्रयुक्त होने लगे थे। वैसे भी यदि वल्लभ-सम्प्रदायी-साहित्य के आधार पर नन्ददास का तुलसीदास से कुछ भी सम्बन्ध स्वीकार किया जाए तो ये शब्द उनकी मातृभाषा के शब्द माने जाएँगे। पर अवधी के शब्दों का अत्यधिक प्रयोग न होना उनके व्रजभाषा-अधिकार का सूचक है। अवधी के कुछ शब्दों का प्रयोग इस प्रकार है—

हमरे : हमरे सुन्दर स्याम प्रेम को मारग सूधो।[2]
रावरे : विचारो रावरे।[3]
कीनी : स्याम-सखा निज जानि बहुरि हित सेवा कीनी।[4]
माहिं : निर्गुन भए अतीत के सगुन सकल जग माहिं।[5]
अस : सुनि निजु धरम न तजै तरुनि त्रिभुवन महिं को अस।[6]
दीनी : कूर कुरूप कुंवर कहुँ दीनी।[7]
इह : जो इह रूप अफल नहिं जाई।[8]
आही : निर्मल जल जनु मुनि-मन आही।[9]

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ८७८
२. भ्रमरगीत, छन्द ८
३. भ्रमरगीत, छन्द ३१
४. भ्रमरगीत, छन्द ४
५. वही, छन्द २६
६. रा० पं०, १-८४
७. नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पृष्ठ १०६
८. वही, रूपमंजरी, पृष्ठ १०६
९. नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पृष्ठ १०५

नीकी : नीको राधे कुंवरि, स्याम इत मेरो नीको ।[1]

आनि : कर्म-धूरि कों आनि प्रेम-अमृत में सानें ।[2]

अनुकरणात्मक शब्द—अनुकरणात्मक शब्द कवि की अपनी सृष्टि होती है। भाषा में ध्वन्यात्मकता और वर्ण-साम्य की दृष्टि से शब्दों के नये रूप कवि स्वयं बना लेता है जिससे भाषा की अर्थ-शक्ति में पर्याप्त वृद्धि होती है और रूप में निखार आ जाता है। नन्ददास की रचनाओं में इस प्रकार के शब्द प्रचुर संख्या में उपलब्ध होते हैं। कुछ का प्रयोग इस प्रकार है—

ठनगन : ठनगन तें सब बाम, बसनन सजि सजि कें गई ।[3]

जुरली : त्यौं ही पिय की मुरली जुरली अधर-सुधा-रस ।[4]

झकोरत : इत घनसार तुसार मलय मंदार झकोरत ।[5]

छिलछिल : छिलछिल सलिल न परै परै तो छबि नहिं करइ ।[6]

झुनक मुनक : झुनक मुनक पुनि छबिलि भाँति सब प्रगट भई जब ।[7]

लटकनि, मटकनि, झलकनि : लटकनि मटकनि झलकनि कल कुंडल हारन की ।[8]

पटकनि, चटकनि : तैसिय मृदु पद पटकनि चटकनि कठतारन की ।[9]

मलकनि ढलकनि : मोहन पिय की मलकनि ढलकनि मोर मुकट की ।[10]

थिरकि : सुभग घटा पर छटा छबीली थिरकि रहत ज्यों[11]

घुमड़त : मनो सघन अनुराग घटा उमड़त घुमड़त रस ।[12]

रस धुकी : नहिन रुकीं रस धुकीं जाय सो मिलीं तहाँ सब ।[13]

अलबल : विह्वल ह्वै गई बाल बाल सों अलबल बोलें ।[14]

जगमग : जगमग-जगमग ज्योति होति रवि ससि सों अरई ।[15]

---

१. स्याम-सगाई, ४
२. भ्रमरगीत, छन्द १४
३. पदावली, पद २७
४. रा० पं०, १-८४
५. वही, १-६२
६. वही, १-१०३
७. वही, १-६७
८-९. वही, ५-८
१०. वही, ५-११
११. नं० ग्रं०, पृष्ठ २६
१२. वही, पृष्ठ २६
१३. सिद्धान्तपंचाध्यायी, ३५
१४. वही, ९६
१५. रुक्मिणीमंगल, ३५

उरवा मुरवा	: आनंद भरि भरि उरवा, नाचत मधुरे मुरवा ।[1]
गहगह्यो	: जनु अंबर तें अब ही निकस्यो चंद गहगह्यो ।[2]
अरबराइ	: अरबराइ मुरझाय कछू न वसाय तिया पैं ।[3]
उचकि	: तब कह्यो यह लंकापुर उचकि लीजिये ।[4]
झमकत	: कमल-बदनि सिगरी कमला-सी झमकत कुंडल हार ।[5]
चुहचांनी	: चिरैया चुहचांनी, सुन चकई की बानी ।[6]
कूलैं	: चरन अंगूठा मुख किलक-किलक कूलैं ।[7]
ररकत	: ररकत ढरकत री तिलक मृग भेदन ।[8]
वंकुस	: चपला को अंकुस दै वंकुस चलायो है ।[9]
झिलमिलाति	: झिलमिलाति झाईं अंग अंग प्रति ।[10]
रमक	: रमक रमक झूमत पिय प्यारी सुख वरषत तिहिं काल ।[11]

ऊपर दिये गये शब्दों और उनके प्रयोग से स्पष्ट है कि इन शब्दों की सृष्टि विशेष कारण से हुई है । इनके द्वारा वस्तु और भाव दोनों का विम्ब ग्रहण सहज हो जाता है । प्रत्येक शब्द निश्चित उद्देश्य से निर्मित है । यह उद्देश्य अनुभूति-व्यंजना, कार्य-व्यापार और रूप-व्यंजना तथा ध्वनि-व्यंजना—किसी भी प्रकार का हो सकता है । नन्ददास की कला-सजगता इन शब्दों के निर्माण में अत्यधिक स्पष्ट है ।

लोकोक्तियाँ और मुहावरे

भाषा मे स्पष्टता, सजीवता और प्रवाह लाने के लिए लोकोक्ति एवं मुहावरों का प्रयोग अत्यधिक आवश्यक है । लोकोक्तियाँ जहाँ युगों से चली आती हुई साभिप्राय प्रसिद्ध उक्तियों से सम्बन्धित है वहाँ मुहावरों का प्रयोग भाषा को वक्र, मार्मिक और तीखा बनाने के लिए किया जाता है । मुहावरे का आधार लक्षणा है। इसी शब्द-शक्ति के सहारे मुहावरे को प्रसंग-विशेष में बिठाया जाता है । नन्ददास ने अपने कथा-काव्यों में लोकोक्ति-मुहावरों का उचित प्रयोग किया है ।

---

१. वही, ३७
२. वही, ११०
३. वही, ११६
४. पदावली, पद २०
५. वही, पद २५
६. वही, पद ३२
७. वही, पद ३४
८. वही, पद १०५
९. वही, पद १५०
१०. वही, पद १६२
११. वही, पद १६४,

लोकोक्ति

सावन सरित न रुकै करै जो जतन कोउ अति ।[1]
को जड़ को चैतन्य कछु न जानत विरही जन ।[2]
महानिधि खोइ मध्य आधी निधि पाइ ।[3]
किन कीनी चंद्र तें चारु चंद्रिका न्यारी ।[4]
अवसि अनादर जो रहे निरन्तर पास ।[5]
वचनदग्ध जे जीव वलि वहुरि न अंकुर लेत ।[6]
अति सर्वत्र भलो नहिं ।[7]
भई तवा को वुंद ।[8]
अलि विन कँवलहि को पहचानै ।[9]
फलनि के भार नमित द्रुम ऐसे संपति पाय वड़े जन जैसे ।[10]
किन पाई या सपन कहानी ।[11]
विजननि वातन कवन अघाये ।[12]
काके भूख मन लड़वन गई ।[13]
गंधी को सौंधो नहीं जन जन हाथ विकाइ ।[14]
वातन दीपग नां वरै वारे दीपग होय ।[15]
विधि गत जव विपरीत तव पानी ही में आगि ।[16]
दाम खरचि मनों मोल लई री ।[17]

---

१. रा० पं०, १-५६
२. वही, २-५
३. वही, २-३६
४. सिद्धान्तपंचाध्यायी, ६४
५. नाममाला, १४२
६. वही, १५६
७. वही, २०३
८. वही, २०५
९. नं० ग्रं०, पृष्ठ १०३
१०. नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पृष्ठ १०५
११. वही, पृष्ठ ११२
१२. वही, पृष्ठ ११२
१३. वही, पृष्ठ ११२
१४. वही, दोहा ३२५
१५. वही, दोहा ५३५
१६. वही, विरहमंजरी दोहा ७४
१७. पदावली, १२६

पांयन कछु मेंहदी दई ।[1]
घर आए नाग न पूजहीं बांवी पूजन जाहिं ।[2]

मुहावरे

पानी पर पाथर तिरे ।[3] कर मीड़े सहचरि पछताई ।[4] बहकि गयो हियो।[5] मणि जैसे कपि कंठ ।[6] दाधे पर जस लागत लौन ।[7] ग्यान की आंखिन देखौ ।[8] छुधित ग्रास मुख काढ़ि ।[9] गांठि की खोइ के ।[10] फाटि हिय दृग चल्यौ ।[11] जबहिं लौं बांधी मूठी ।[12] प्रीति न डारौ तोरि ।[13] चोर चित लै गए ।[14] हिय लौन लगावौ ।[15]

इनके अतिरिक्त भाषा की सरसता के लिए कवि ने कुछ नीति सम्बन्धी सुन्दर उक्तियां भी कही हैं—

सत्रु भलौ जौ होय सयाना । मूरख मित्र जु अहित समाना ।[16]
नेह नवोढा नारि कौं बारि-बारुका न्याय ।
थलराये पै पाइये नीपीड़े न रसाय ।।[17]

नन्ददास की भाषा पर जो प्रकाश डाला गया है उससे उनके काव्य की भाषागत-समृद्धि बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है । शब्द-समूह और लोकोक्ति-मुहावरे के प्रयोग से नन्ददास ने भाषा को भावानुरूप, सजीव, सरस, स्पष्ट और प्रवाहमय बनाने का यत्न किया है । वास्तव में नन्ददास ने भाषा की ओर जितना ध्यान दिया है उतना सम्भवत: अन्य किसी कला-तत्त्व की ओर नही । अनुकरण शब्दों का समुचित प्रयोग इसका बहुत बड़ा प्रमाण है ।

---

१. वही, पद १२६
२. भ्रमरगीत, छन्द १८
३. नाममाला, १३०
४. नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पंक्ति ८६
५. वही, विरहमंजरी, पृष्ठ १४४
६. नाममाला, १६०
७. नं० ग्रं०, विरहमंजरी, पृष्ठ १५०
८. भ्रमरगीत, छन्द ७
९. वही, छन्द ४१
१०. वही, छन्द ५६
११. भ्रमरगीत, छन्द ६०
१२. वही, छन्द ७१
१३. वही, छन्द ३२
१४. वही, छन्द ३४
१५. वही, छन्द ३२
१६. नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पृष्ठ १०६
१७. वही, रूपमंजरी, दोहा ५०१

संगीत और छन्द

आचार्य शुक्ल ने चिन्तामणि में एक स्थल पर काव्य में संगीत के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "जिस प्रकार मूर्त विधान के लिए कविता चित्र-विद्या की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद-सौन्दर्य के लिये वह संगीत का कुछ-कुछ सहारा लेती है। नाद-सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है। ताल-पत्र, भोज-पत्र, कागज आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों की जिह्वा पर नाचती रहती है। बहुत-सी उक्तियों को लोग उनके अर्थ की रमणीयता इत्यादि की ओर ध्यान ले जाने का कष्ट उठाये बिना ही प्रसन्नचित्त रहने पर गुनगुनाया करते हैं। अतः नाद-सौन्दर्य का योग भी कविता का पूर्णस्वरूप खड़ा करने के लिये कुछ न कुछ आवश्यक होता है।"[1] इतने विस्तार से कविता में नाद-सौन्दर्य का महत्त्व स्पष्ट करने का उद्देश्य केवल यही है कि कविता में लय के कारण जिस माधुर्य की सृष्टि होती है उससे उसका स्थायित्व बढ़ जाता है। इसीलिए कवि का ध्यान सबसे पहले कविता में लय की ओर जाता है। शब्दों का चयन, नियोजन और सज्जा—सभी कविता में लय-सृष्टि के लिये प्रयुक्त साधन माने जा सकते हैं। बिना लय के कविता गद्य की भाँति शुष्क-सी प्रतीत होती है। आधुनिक कवियों ने भी इस महत्त्व को स्वीकार किया है। यही लय काव्य का संगीत है।

काव्य में संगीत का विधान दो रूपों में सम्भव है—(१) आन्तरिक संगीत और (२) बाह्य संगीत। कविता में मुख्य रूप से आन्तरिक संगीत की ही व्यवस्था हुआ करती है। पर कृष्ण-भक्त कवियों ने बाह्य-संगीत का सहारा पूर्ण रूप से लिया है। आन्तरिक संगीत में वर्ण, शब्द, तुक आदि के द्वारा भाषा में लयात्मक संगीत की सृष्टि की जाती है। केवल तुकबन्दी प्रभावात्मक संगीत की सृष्टि करने में समर्थ नहीं है। वर्ण और शब्द ही ऐसे हैं जो उसे वास्तव में संगीतमय बनाने की सामर्थ्य रखते हैं—इसीलिए आधुनिक काल में तो तुक की उपेक्षा कर दी गई है। बाह्य संगीत का कविता में समावेश संगीतज्ञ कवि के द्वारा ही सम्भव है। विभिन्न राग-रागिनयों में बाँधकर कवि अपने भावों को प्रस्तुत करता है किन्तु कई बार राग-रागिनियों का बन्धन उसकी भावाभिव्यक्ति के लिए घातक सिद्ध होता है। और जहाँ ऐसा होता है वहाँ कविता की दृष्टि से उस रचना का मूल्य निःशेष हो जाता है। स्वामी हरिदास की रचना के सम्बन्ध में यही धारणा स्थिर होती है। अतः अधिकांश कृष्ण-भक्त कवियों ने बाह्य-संगीत को स्वीकार करके भी आन्तरिक संगीत को प्रधानता दी है। नन्ददास के काव्य में संगीत के उभय रूप स्वीकृत हैं किन्तु नन्ददास की रचनाएँ अधिकतर छन्दोबद्ध हैं। यहाँ तक कि उनकी पदावली में विशिष्ट छन्दों का सन्धान किया गया है। डॉ० दीनदयालु गुप्त ने नन्ददास के द्वारा स्वीकृत संगीत के दोनों रूपों की चर्चा करते हुए कहा है—'अष्टछाप में संगीत और शब्दों की अर्थानुगामिनी ध्वनि का सबसे अधिक मधुर गुण नन्ददास की भाषा में है और विशेष रूप से उनकी 'रासपंचाध्यायी' में। नन्ददास

---

१. चिन्तामणि, भाग–१ पृष्ठ १७९

के 'रोला' छन्दों की भाषा में जैसी लय, प्रवाह और संगीतात्मकता है वह ब्रजभाषा के किसी भी कवि की रचना में नहीं है । नन्ददास के पदों में यह गुण इतना प्रबल नहीं है ।'[1] स्पष्ट है कि नन्ददास के काव्य में बाह्य-संगीत की अपेक्षा आन्तरिक संगीत पर विशेष ध्यान दिया गया है । यद्यपि उन्होंने राग-रागिनियों में पद-रचना की है—जैसा कि अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने किया है किन्तु इस पद्धति में नन्ददास को सूरदास परमानन्ददास आदि की भाँति सफलता प्राप्त नहीं हुई । यही कारण है कि उनकी सभी श्रेष्ठ रचनाएँ छन्द-विशेष में लिखी गई हैं और उनका सर्वाधिक प्रिय छन्द रोला है।

नन्ददास ने रासपंचाध्यायी, सिद्धान्तपंचाध्यायी, रुक्मिणीमंगल में तो स्पष्ट रूप से रोला छन्द का प्रयोग किया है । किन्तु भ्रमरगीत की रचना का आरम्भिक छन्द त्रिलोकी है और उसके बाद के सभी छन्द रोला-दोहा का मिश्रण है । इसके बाद दस पंक्तियों की टेक भी दी गई है । श्याम-सगाई की रचना भी इसी छन्द में की गई है । रोला छन्द के अतिरिक्त अनेकार्थ भाषा और नाममाला में दोहा छन्द का प्रयोग किया गया है । दोहा-चौपाई छन्द में तीन मंजरियों—रूपमंजरी, विरहमंजरी, रसमंजरी के अतिरिक्त सुदामाचरित, गोवर्द्धन-लीला और भाषा दशम स्कन्ध, की रचना हुई है । पदावली में पद और छन्दों का मिश्रण है । पदों के रूप मे जिन विभिन्न छन्दों का कवि ने प्रयोग किया है वे हैं[2]—सरसी,[3] सार,[4] चौपई,[5] विष्णुपद,[6] चौपाई,[7]

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, पृष्ठ ७६१

२. द्रष्टव्य, ब्रजभाषा के कृष्णभक्ति-काव्य में अभिव्यंजना शिल्प, डॉ० सावित्री सिन्हा, पृष्ठ ४१५-४१६

३. सरसी छन्द—

> नंद कुमार भजन सुखदायक, पतितन पावन करन ।
> अतुल प्रताप महामहि सोभा, सोक ताप अघहरन ।।

४. सार छन्द—

> पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम, श्री वल्लभ सुखदाई ।
> नाचत तरुन, वृद्ध अरु बालक, उर आनंद न समाई ।।

५. चौपई छन्द—

> प्रकटित सकल सृष्टि आधार । श्रीमद्वल्लभ राजकुमार ।
> धेय सदा पद अम्बुज सार । अगणित गुण महिमा जु अपार ।।

६. विष्णुपद—

> या सुख भजन प्रताप तजे तें, छिन इत उत न टरौ ।
> पावन रूप दिखाइ प्राणपति, पतितन पाप हरौ ।।

७. चौपाई—

> होतहि ढोटा ब्रज की सोभा, देखो सखि कछु औरहि ओभा ।
> मालिन सी जँह लक्ष्मी डोले । बंदन माला बाँधत डोले ।।

सोरठा,[1] दोहा,[2] कवित्त[3] और सवैया ।[4]

छन्द-सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नन्ददास ने अपना काव्य छन्द और पद—दोनों शैलियों में लिखा है । इन दोनों में संगीत का जो विधान हुआ है उससे नन्ददास के संगीत-ज्ञान का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है । पदों में तो संगीत-तत्त्व आन्तरिक और बाह्य दोनों रूपों में प्राप्त होता है किन्तु छन्दों में भी आन्तरिक संगीत के कारण अपूर्व माधुर्य की सृष्टि हुई है । इस आन्तरिक संगीत की सृष्टि में नन्ददास की वर्ण-योजना और अनुकरणात्मक भाषा ने अत्यधिक सहयोग दिया है । सारांश यह कि नन्ददास की कुछ रचनाएँ तो संगीत की दृष्टि से अपने समय की श्रेष्ठ रचनाएँ मानी जा सकती हैं ।

काव्य-रूप

स्थूल रूप से काव्य के लिए प्रबन्ध और निर्बन्ध—इन दो रूपों को स्वीकार किया जाता है । प्रबन्ध काव्य एक परस्पर सम्बद्ध कथात्मक रचना होती है और निर्बन्ध काव्य में कथा या घटना का कोई बन्धन नहीं होता । प्रसङ्ग भी केवल संकेतित होता है, कथित नहीं । प्रबन्ध और निर्बन्ध—दोनों के भेदों का पर्याप्त विस्तार है । प्रबन्ध-काव्य के दो भेद हैं—महाकाव्य और खण्डकाव्य । महाकाव्य में जीवन को व्यापक रूप में लिया जाता है; उसका आदर्श महान, वर्ण्य-सामग्री विस्तृत और भाषा-शैली विषय के अनुकूल वैविध्यपूर्ण होती है । खण्डकाव्य में तत्त्व तो महाकाव्य के ही होते हैं किन्तु उनके विकास का क्षेत्र कथा के घटना-विशेष तक सीमित होने के कारण अधिक व्यापक नहीं हो पाता । निर्बन्ध के दो भेद प्रधान हैं—मुक्तक और गीतिकाव्य । मुक्तक पाठ्य हैं और गीति-काव्य गेय । दोनों ही अपने आप में स्वतन्त्र और पूर्ण हैं । गीतिकाव्य के भेदों का और भी विस्तार किया गया है जिसको हम यथावसर स्पष्ट करेंगे । नन्ददास के काव्य में प्रबन्ध और गीति—दोनों तत्त्वों का समावेश है । अतः क्रमशः इन दोनों काव्य-रूपों

---

१. सोरठा—

विछुवन की झंकार, गलिन गलिन अति ह्वै रही ।
हायन कंचन थार, उर पर समकन फव रही ॥

२. दोहा—

जाचक जुरि मिलि आवते, करत सबद उच्चार ।
पुहुप वृष्टि सुरपति करें, बोलें जै जै कार ॥

३. कवित्त—

वेद रटत ब्रह्मा रटत, संभु रटत सेस रटत,
नारद सुक व्यास रटत, पावत न पार री ।

४. सवैया—

आगम गहरि, गहरि गरजन सुनि, चौंकत औचक बाल सलोनी ।
प्यारी अंक दुरि रही ऐसें, जैसें केहरि-क्रंदन सुनि मृगि-छौनी ।

के आधार पर हम नन्ददास के काव्य की चर्चा करेंगे ।

प्रबन्ध काव्य-रूप—नन्ददास की सभी रचनाएँ श्रीकृष्ण-लीला पर आधारित हैं । और जिन लीलाओं को स्वीकार किया गया है वे राग तत्व प्रधान हैं । विषय की व्यापकता के इस अभाव के साथ-साथ रचनाओं का उद्देश्य एकान्तिक प्रेमा-भक्ति का प्रतिपादन रहा है । परिणामतः ये समस्त रचनाएँ विषय और उद्देश्य—दोनों दृष्टियों से समाज को सम्मुख रखकर नहीं चली है । इनके लीलागान से सहृदय का मनोरंजन भले हो जाये किन्तु उसका वास्तविक आधार व्यक्तिगत साधना है । इसीलिए शृंगार-लीलाओं में सन्निविष्ट बहुत-से स्थूल वर्णन—हृदय का मनोरंजन भी नहीं कर पाते हैं । स्पष्ट है कि नन्ददास द्वारा स्वीकृत आधार महाकाव्य के सर्वथा अनुपयुक्त है । श्रीमद्भागवत पर आधारित उनकी कुछ रचनाओं—रासपंचाध्यायी, सुदामाचरित, गोवर्द्धन लीला, रुक्मिणीमंगल और भाषा दशम स्कन्ध मे कथा तत्त्व उपलब्ध हो जाता है । इसके अतिरिक्त रूपमंजरी और श्याम-सगाई में भी कथा का आधार है, परन्तु दोनों की कथा कल्पित है । भ्रमरगीत के लिए श्रीमद्भागवत और सूरदास से कवि ने प्रेरणा ग्रहण की है, किन्तु विषय का विकास उसका सर्वथा मौलिक प्रयास है । इसी प्रकार सिद्धान्तपंचाध्यायी में भी कवि ने रासपंचाध्यायी का आधार स्वीकारा है । शेष सभी रचनाएँ निर्बन्ध काव्य मानी जायेंगी । इनमे से रसमंजरी नायिका-भेद का परिचय देने वाली रचना है, विरहमंजरी दूती-काव्य के रूप में लिखा गया है, अनेकार्थ भाषा कोष-ग्रंथ है और पदावली गीतिकाव्य है । नाममाला कोषग्रन्थ के साथ एक छोटे-से प्रसङ्ग को लेकर चलने वाली काव्य-रचना है । इस प्रकार नन्ददास की सम्पूर्ण काव्य-रचनाएँ कथात्मक काव्य, गीतिकाव्य, नायिका-भेद सम्बन्धी काव्य, दूती-काव्य और कोष-ग्रन्थ के रूप में लिखी गई हैं । काव्य रूप की दृष्टि से हम यहाँ केवल दो—कथात्मक काव्य और गीतिकाव्य—की चर्चा करना आवश्यक समझते हैं ।

कथात्मक काव्य—नन्ददास की कथापरक रचनाओं की चर्चा विद्वानों द्वारा खण्डकाव्य के अन्तर्गत की गई है । उनकी दृष्टि में खण्डकाव्य की सभी विशेषताएँ इनमें प्राप्त हो जाती हैं ।[1] किन्तु इन रचनाओं में केवल कथा के कुछ तत्त्व प्राप्त करके उसे खण्डकाव्य स्वीकार कर लेना हमारे विचार में समीचीन नही है । इसके अतिरिक्त कथा का विकास भी बहुत सीमित है और पात्र सभी अलौकिक है जिनके चरित्र का परिचय अथवा व्याख्या भले ही नन्ददास ने की हो पर उसके विकास के लिए वहाँ कोई अवसर नहीं । गोपियों के श्रीकृष्ण-मिलन के बीच जो व्यवधान उत्पन्न होते हैं वे केवल प्रेम-परीक्षा कहे जायेंगे, उन्हें अन्तर्द्वन्द्व नही कहा जा सकता । स्पष्ट है कि इन काव्यों में सामाजिक जीवन की प्रायः उपेक्षा है—केवल साधनात्मक दृष्टिकोण से प्रेम तत्त्व का प्रतिपादन है । कथा की बहुत क्षीण रेखा काव्य के विभिन्न सूत्रों को परस्पर सम्बद्ध रखने मे प्रयत्नशील है । पर ये सूत्र लीला-वर्णन के विस्तार के साथ कभी-कभी टूट भी जाते हैं । अतः हम इन्हें केवल ऐसे कथा काव्य कहना अधिक पसन्द करेंगे

---

१. ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति-काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प : डॉ० सावित्री सिन्हा, पृष्ठ ४५६

जिनका उद्देश्य एकान्तिक भक्ति अथवा प्रेमाभक्ति के आदर्श को स्थापित करना रहा है। इनका महत्त्व केवल लीला-वर्णन की दृष्टि से है।

कथा का समुचित विकास केवल रुक्मिणी मंगल और श्याम-सगाई में देखा जा सकता है। किन्तु इनमें से श्याम-सगाई का आधार इतना सीमित है कि इसे यदि केवल घटना-काव्य कहा जाये तो अधिक समीचीन होगा। हाँ, रुक्मिणी मंगल में कथा का अविच्छिन्न प्रवाह है—उसके साथ वैभव और सौन्दर्य का वर्णन है। साथ ही स्त्री और पुरुष दोनों के मानसिक भावों को अत्यधिक मार्मिकता से प्रस्तुत करने का प्रयत्न है। रुक्मिणी-प्रेम के वर्णन में पुरुष के प्रति स्त्री के साहजिक प्रेम का प्रकाशन है, किसी प्रकार की अलौकिकता का संस्पर्श हमें यहाँ प्राप्त नहीं होता। इसीलिए कथात्मक काव्य की दृष्टि से रुक्मिणी मंगल श्रेष्ठ काव्य माना जायेगा।

रासपंचाध्यायी में कथा का आधार अवश्य है किन्तु उसे केवल विभिन्न वर्णन-स्थलों तक पहुँचने का साधन-मात्र स्वीकार किया गया है। यही कारण है कि वहाँ वर्णन-स्थल अधिक है और कथा बहुत कम है। इन्हीं वर्णन स्थलों में कवि की काव्य-प्रतिभा का सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। रसिक के रूप में कवि द्वारा शुकदेव-वर्णन, वृन्दावन-वर्णन, शरद् रजनी वर्णन, गोपी-विरह-वर्णन और फिर रास तथा जल-क्रीड़ा-वर्णन किया गया है—यही रासपंचाध्यायी का क्रम है। यह बात रूपमंजरी के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। सिद्धान्तपंचाध्यायी में तो सिद्धान्त की व्याख्या का समावेश करने से काव्य के ये वर्णनात्मक स्थल बहुत सीमित हो गए हैं। सुदामाचरित, गोवर्द्धन-लीला को तो केवल प्रसंग-वर्णन कहकर ही सन्तोष करना पड़ेगा और भाषा-दशम-स्कन्ध में भागवत की कथा को भाषा में कहीं-कही सरस ढंग से कहने की चेष्टा-मात्र है।

भ्रमरगीत उपालम्भप्रधान काव्य है। इसके तीन भाग बहुत स्पष्ट हैं—ज्ञान-भक्तिपरक संवाद, उपालम्भ और प्रेमावस्था का निरूपण। उद्धव का आगमन—श्रीकृष्ण का सन्देश देना और गोपियों से विदा होकर उद्धव का श्रीकृष्ण के पास आना—सम्पूर्ण काव्य की कथा के यही तीन सूत्र हैं। इसलिए इसे कथा-काव्य के रूप में स्वीकार करने में हमें संकोच होता है।

गीतिकाव्य—गीतिकाव्य कृष्णभक्त कवियों के लिए सबसे अधिक अनुकूल विधा है। इनकी रागात्मिका भक्ति व्यक्तिसापेक्ष है और लीला-वर्णन भावप्रधान है। रस साधना में अनुभूति की तीव्रता से इन्हें लीलागान की प्रेरणा मिलती है। कृष्ण-कीर्तन ने इन्हे संगीत का ज्ञान कराया है। ये सभी बातें इसी ओर संकेत करती है कि कृष्ण-काव्य सफल गीतिकाव्य हो सकता है, नन्ददास की पदावली गीतिकाव्य की परम्परा मे ही है।

गीतिकाव्य के अनेक वर्ग हैं जिनमें से लोकगीत और कलागीत प्रधान है। लोक-गीतों का सम्बन्ध भावों की सहज अभिव्यक्ति से है। गीत हमारे जीवन का अभिन्न अङ्ग हैं—और जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, विवाह, उत्सव, श्रम-परिहरण आदि अनेक अवसर है जिनमें गीत के द्वारा व्यक्ति अपने भावों को गुनगुनाकर अथवा गाकर अभिव्यक्त करता है। सहज अभिव्यक्ति के ये रूप ही लोकगीतों में सुरक्षित है। भावों की सहजता कलागीतों में भी पाई जाती है। अन्तर केवल उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति में है।

वक्रता और विदग्धता इनका मुख्य गुण है । इन दो वर्गों के अतिरिक्त तीसरा वर्ग शुद्ध गीतों का है जिनमें विनय और आत्म-निवेदन पर विशेष बल होता है । नन्ददास के काव्य में अन्य समकालीन कृष्णभक्त कवियों के समान गीत के तीनों रूप प्राप्त होते है ।

लोकगीत—पदावली के जन्म-वधाई, होली आदि गीत लोकगीत परम्परा मे आते हैं । इनमें अभिव्यक्तिगत सहजता का वह रूप तो प्राप्त नही होता जो लोकगीतो में होना चाहिए किन्तु भाव-व्यंजना की अपेक्षा वर्णनात्मकता की प्रधानता यहाँ लक्षित होती है । अभिव्यक्ति में भी थोड़ी बहुत कलात्मकता के अतिरिक्त सहजता का रूप सुरक्षित है । इसीलिए इन्हें परिष्कृत लोकगीत कहना अधिक समीचीन होगा ।

हरि सँग, होरी खेलन आजु, अरी, चलि वेगि छवीली ।
निकस्यो मोहन-सांवरो हो फागु खेलत व्रज मांझ ।।
घुमड्यो अवीर, गुलाल गगन में, मानों फूली सांझ ।
वाजत ताल, मृदंग, मुरज, डफ कही न परत कछु बात ।।
रँग सों भनि ग्वाल बाल सब, मानों मदन-वरात ।
जुरि आई व्रज-सुन्दरी हो करि-करि आपुनों ठाट ।।
खेलत नहिं कोऊ कुँवर कान्ह सों निरखति तुम्हरी वाट ।
विनु राजा दल कौन काम कों, वलि उठौ छांड़ि कै ऐंड़ ।
उमग्यो निधि ज्यों नवल-नन्द कों, रुकत रावरी मैंड़ ।।[1]

उल्लास की सहज अभिव्यक्ति को थोड़ा कलात्मक रूप देने का प्रयत्न यहाँ वहुत स्पष्ट है । 'मानो फूली सांझ', 'मदन-वरात', 'बिन राजा दल कौन काम को' और 'रुक्त रावड़ी मैंड़'—ऐसी उक्तियाँ है जिनके कारण अभिव्यक्ति मे कुछ चमत्कार की सृष्टि होती है और इस प्रकार भाव की अभिव्यक्ति विशेष रूप से संवेद्य बन जाती है। इस प्रकार वर्णनात्मकता की प्रधानता होते हुए भी भाव की सरसता इन पक्तियों मे सर्वत्र विद्यमान है ।

कलागीत—वाल-लीला, पूर्वानुराग, व्रजबालाओं का प्रेम, खंडिता, रास, छाक-लीला, दान-लीला, मान-लील आदि ऐसे अनेक प्रसङ्ग हैं जिनमे कलागीतों का प्रयोग किया गया है । इनमें भावाभिव्यंजन और कलात्मकता—दोनों में सामंजस्य स्थापित किया गया है उक्ति वैदग्ध्यपूर्ण, तीखी और मार्मिक होती है । इन गीतों में अपनी वात को स्पष्ट सीधे ढंग से अभिव्यक्त करने की अपेक्षा ऐसे ढंग से कहा जाता है कि सुननेवाला प्रभावित हुए बिना नही रहता । इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए व्यंग्य और वचनवक्रता का भी प्रयोग किया जाता है । सारांश यह कि कला-गीतों में कला पर उतना ही ध्यान होता है जितना कि भावतीव्रता पर । नन्ददास के काव्य में कलागीतों का अपेक्षाकृत अधिक विस्तार है ।

मिस ही मिस हो आवे गोकुल की नार ।
नंद महर के आंगन मोहन मुरति बिना देखहुं न परे

1. नं० ग्रं०, पदावली, पद १७६

फल भुलि काम धाम आछो बदन निहार ।।
दीपक ले चली यार बाट में धरो कर डार
फेरि आवे नन्द द्वार बायेरे फूं देति गार ।
'नन्ददास' नंदनन्दन सुं ह्वो लागे नयनां
पलक की ओट मानु री बीते जुग चार ।[1]

यहाँ गोपी की एक-एक उक्ति उसके प्रेम को विशेष कुशलता से व्यंजित करती है । केवल वचन ही नही उसकी क्रिया भी विदग्धतासूचक है ।

शुद्ध-गीत—नन्ददास की पदावली में शुद्ध गीतों की संख्या अधिक नहीं है । आरम्भ में यमुना-स्तुति, गङ्गा-स्तुति, आचार्य-प्रभु की स्तुति आदि कुछ पदों को इस वर्ग के अन्तर्गत लिया जा सकता है । वस्तुत: ये नन्ददास के आरम्भिक पद हैं । अत: काव्यत्व की दृष्टि से ये बहुत ही साधारण कोटि के पद माने गये हैं ।

भजों श्री वल्लभ-सुत चरन ।
नंद-कुमार भजन सुखदाइक, पतितन-पावन करन ।
दूरि किए कलि-कपट वेद-विधि मत-प्रचंड विस्तरन ।
अति प्रताप महिमा समाज जस, सोक, ताप, अघहरन ।।[2]

निष्कर्ष

ऊपर काव्य-कला के विभिन्न अङ्गों के आधार पर नन्ददास की रचनाओं का जो कुछ परिचय दिया गया है उससे नन्ददास का कलाकार रूप नितान्त स्पष्ट हो जाता है । किसी भी कवि की कला तभी सार्थक है जब उसके द्वारा भावों की अभिव्यक्ति प्रभावपूर्ण ढंग से हो सके । इस दृष्टि से नन्ददास की काव्य-कला पूर्ण समर्थ है । नन्ददास ने भावाभिव्यक्ति के माध्यम—भाषा को सब प्रकार से सम्पन्न बनाया है । उसका बाह्यरूप मधुर और संगीतमय है तथा उसकी अर्थ-शक्ति चित्र, ध्वनि आदि के कारण गम्भीर है । भाषा की इस सम्पन्नता के आधार पर अपनी बात को स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण ढंग से कहने में उन्हे किसी प्रकार की कठिनाई नही होती । उनकी भाषा की मधुरता और सङ्गीत जिस प्रकार उनकी वर्ण-योजना पर आश्रित है उसी प्रकार उसकी अर्थ-स्पष्टता चित्र-योजना पर । बिम्ब-विधान नन्ददास की भाषा की बहुत बड़ी विशेषता है । इसी के सहारे उन्होंने प्रकृति और जीवन को एक दूसरे के इतना समीप ला दिया है कि जीवन का प्रत्येक स्पन्दन प्राकृतिक पदार्थों में सुना जा सकता है । बिम्ब और चित्र जहाँ अर्थ स्पष्ट करने वाले सिद्ध होते हैं वहाँ प्रकृति अथवा किसी अन्य वस्तु का सजीव दृश्य भी पाठक की आँखों के सम्मुख ले आते हैं । यह नन्ददास की चित्र-योजना के आधार पर सरलता से स्पष्ट किया जा सकता है । चित्र-योजना के अतिरिक्त उनकी अर्थ-गम्भीरता और स्पष्टता का अन्य कारण शब्द-शक्तियों का प्रयोग

---

१. वही, पदावली, पद ६०
२. वही, पदावली, पद ८

है । यद्यपि नन्ददास को उत्प्रेक्षा अलङ्कार अत्यधिक प्रिय था किन्तु फिर भी उनके काव्य में अभिधा का विशेष प्रयोग सूचित करता है कि उन्हें चमत्कार अथवा घुमा-फिराकर अपनी बात कहना अधिक रुचिकर नही था। उत्प्रेक्षा का प्रयोग भी उनकी सौन्दर्यप्रियता को स्पष्ट करता है।

नन्ददास ने विभिन्न रचनाओं में विषय के अनुकूल काव्य-भाषा को विभिन्न रूप दिए हैं। गोवर्द्धन-लीला, सुदामा चरित, भाषा दशम स्कन्ध, विरहमंजरी, रसमंजरी आदि ग्रन्थों में भाषा का प्राञ्जल प्रवाहमय प्रौढ रूप नही मिलता। 'स्याम-सगाई' की भाषा में सरलता, मार्दव और घरेलूपन अधिक है। 'भ्रमरगीत' की भाषा में तर्क-शक्ति, सङ्गीत और प्रवाह सभी कुछ मिलता है। पदों की भाषा में सङ्गीत-तत्व का प्राधान्य है। सिद्धान्तपंचाध्यायी और रासपंचाध्यायी की भाषा का एक-एक शब्द अपने स्थान पर जड़ा हुआ है। प्रवाह, अलंकृति, सङ्गीतात्मकता, मधुरता और प्राञ्जलता और प्रौढ़ता सभी दृष्टियों से इन कृतियों की भाषा श्रेष्ठ है।[1] जिस कवि का भाषा पर इतना अधिकार है कि उसके सच्चे कलाकार होने में सन्देह क्या ?

१. मध्ययुगीन काव्य-साधना, डॉ० रामचन्द्र तिवारी, पृष्ठ २०५

आचार्य

नन्ददास की रचनाओं में उनका आचार्य रूप स्पष्टतया व्यक्त हुआ है, इस बात को प्रकारेण डॉ० दीनदयालु गुप्त[1], डॉ० सावित्री सिन्हा[2], डॉ० रामकुमार वर्मा,[3] प्रभृति अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है। किन्तु यह हम पहले बता आए हैं कि नन्ददास का यह रूप अत्यधिक गौण है। यद्यपि नन्दादस की रचनाओं में रसमंजरी, अनेकार्थ भाषा और नाममाला में काव्यशास्त्र और कोष-रचना का स्पष्ट परिचय मिलता है किन्तु यह केवल परिचय कहा जायेगा—सिद्धान्त प्रतिपादन नही। यह सत्य है कि नन्ददास का स्वतन्त्र चिन्तक रूप इन रचनाओं में भी लक्षित हो जाता है पर आचार्य के लिए केवल इतना पर्याप्त नही है। स्वतन्त्र चिन्तन और स्वतन्त्र स्थापना में अन्तर है। हमारे विचार से आचार्य के लिए दूसरा अधिक महत्त्वपूर्ण है। काव्यशास्त्र-सम्बन्धी कोई विशिष्ट रचना प्रस्तुत करना अथवा कोष-ग्रन्थ लिखना नन्ददास का उद्देश्य भी नही था। इस दृष्टि से उन्होंने जो कुछ भी लिखा है वह केवल प्रेम-तत्त्व के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से। नायिका-भेद के प्रसंग में इसी आशय को व्यक्त करने के लिए उन्होंने कहा है—

जब लग इनके भेद न जानें। तब लग प्रेम न तत्व पिछानें ॥[4]

उनका वास्तविक उद्देश्य हरि-रस-चर्चा रहा है। अतः रस-चर्चा का जो भी रूप नन्ददास ने अपने काव्य में ग्रहण किया है वह केवल हरि-रस-चर्चा के अन्तर्गत है। यदि किसी को यह बात समझ में नहीं आती है तो उसके लिए रसमंजरी का यह दोहा उद्धृत किया जा सकता है—

रूप प्रेम आनंद रस, जो कुछ जग मैं आहि।
सो सब गिरिधर देव कौं, निधरक बरनौं ताहि ॥[5]

स्पष्ट है कि नन्ददास का प्रथम वक्तव्य-विषय भक्ति है। किन्तु फिर भी नन्द-

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग २, पृष्ठ ७६५
२. ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प, पृष्ठ ४७
३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ८०५
४. नं० ग्रं०, रसमंजरी, पृष्ठ १२६
५. वही, रसमंजरी, पृष्ठ १२६

दास ने काव्यशास्त्र अथवा कोष-रचना के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा है उसका महत्त्व कम नहीं है—चाहे वह केवल परिचयात्मक ही क्यो न हो। अतः आगे के पृष्ठों मे हम नन्ददास के काव्य की उस सामग्री का परिचय देने का यत्न करेंगे जिसके आधार पर उपर्युक्त विद्वानों ने नन्ददास को आचार्य के रूप में स्वीकार किया है। विवेच्य सामग्री को सुविधा और स्पष्टता के लिए हम तीन भागों में बांट सकते हैं—(१) काव्य सिद्धान्त, (२) नायक-नायिका-भेद और (३) कोष ग्रन्थ।

काव्य सिद्धान्त

इस सम्बन्ध में कवि का स्पष्ट उल्लेख हमें रूपमंजरी में प्राप्त होता है। सरस्वती की वन्दना के समय कवि ने जिन तत्त्वों की चर्चा की है उनसे काव्य-रचना, सहृदय और वक्तव्य-विषय के सम्बन्ध मे कवि के विचार प्रकाश में आते है। विषय और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य के सम्बन्ध में वे सरस्वती से कामना करते हुए कहते हैं—

> रसमय सुरसुति के पग लागौं। अस अक्षर दो इहि वर मांगौं।
> सुंदर कोमल बचन अनूठे। कहत सुनत समुझत अति मीठे॥
> नाहिन उघरे गूढ़ न ऐसे। मरहठ देस-वधू-कुच जैसे॥[1]

इन पंक्तियों में जहाँ कवि के काव्यशास्त्र सम्बन्धी अध्ययन का पता चलता है वहाँ उनके स्वतन्त्र चिन्तन का भी। उपर्युक्त उद्धरण की अन्तिम पंक्ति नन्ददास की नहीं है किन्तु ऊपर की दो पक्तियों से उनका दृष्टिकोण नितान्त स्पष्ट है। सरस रचना कवि का उद्देश्य रहा है अतः यदि उन्होंने सरस्वती के आगे अपने इस आशय को रख दिया हो तो आश्चर्य नही। ऊपर के अध्यायों में हम यह बात स्थान-स्थान पर स्पष्ट कर आये हैं कि नन्ददास सौन्दर्य और यौवन के कवि है और इसीलिए उन्होंने दाम्पत्य प्रेम अथवा मधुर भाव की रति को अपने काव्य में विशेष स्थान दिया है। नन्ददास ने 'मीठे' शब्द के द्वारा इसी ओर संकेत किया है। सम्भवतः सरस्वती को 'रसमय' कहने मे भी कवि का यही भाव रहा हो। दूसरी ओर 'सुंदर', 'कोमल बचन अनूठे' वाली पंक्ति नन्ददास की कला-सम्बन्धी धारणा को स्पष्ट करती है। कवि की भाषा के पद-लालित्य, माधुर्य और संगीत पर हमने 'कलाकार'-नामक अध्याय में जो कुछ परिचय प्राप्त किया है यह दृष्टिकोण उसी का पोषक है। भाषा को सँवारने, सजाने में कवि ने जो सफलता पाई है उससे उनकी सजगता का ज्ञान होता है। और यह सजगता इस सरस्वती-वन्दना मे भी व्यक्त होती है। कवि के मन में यह चिन्ता है कि मेरी रचनाएँ नीरस व्यक्ति न सुने। यह चिन्ता केवल नन्ददास की नहीं है, प्रायः सभी कवि ऐसा सोचते है। संस्कृत की यह प्राचीन उक्ति "अरसिकेषु कवित्व निवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख"—इसी बात की ओर संकेत करती है। वस्तुतः काव्य-रचना की सफलता कवि को पाठक से प्राप्त होती है। यदि वह उस रचना को आदर नही देता तो कवि का परिश्रम व्यर्थ ही जाता है। अतः प्रत्येक कवि चाहता है कि

---

१. वही, रूपमंजरी, पृष्ठ १०४

उसकी रचना सहृदय पाठक के हाथ में जाये। क्योंकि वही रचना का सच्चा पारखी है—रस का ग्राहक है। नन्ददास के शब्दों में प्रस्तुत भाव को इस प्रकार कहा जा सकता है—

रसविहीन जे अच्छर सुनहीं। ते अच्छर फिरि निज सिर धुनहीं।
वाला-स्मित कटाच्छ अरु लाजा। अँधरे वालम कँ किहि काजा।
ज्यों तिय सुरत समय सितकारा। निफल जाहि जौं वधिर भतारा।
कवि-अच्छर अरु तरुनि-कटाछैं। ए दोहु सुलग लगै हिय आछैं ॥[1]

स्पष्ट है कि प्रस्तुत भाव नन्ददास ने परम्परा से ग्रहण किया है किन्तु उसको उन्होंने अपने ढंग से समझाने का यत्न किया है। उनका रसपरक दृष्टिकोण इन पंक्तियों में भी व्यक्त हो उठा है। यौवन की उमंग ने काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों को रसमय वनाकर प्रस्तुत किया है। सहृदय से नन्ददास का आशय काव्य-सहृदय की अपेक्षा अधिक विशिष्ट रहा होगा। जिस मधुर भाव को उन्होंने अपने काव्य का आधार स्वीकार किया है वह सामान्य सहृदय के लिए ग्राह्य होगा, यह सन्दिग्ध है। अतः उसका भक्तिनिष्ठ होना नितान्त आवश्यक है। सामान्य सहृदय इन रसपरक रचनाओं में शृंगार का ही आस्वादन करेगा। किन्तु इससे नन्ददास के उज्ज्वल रस की परिकल्पना को व्याघात पहुँचेगा। और नन्ददास ने स्पष्ट शब्दों में इसका विरोध किया है।[2] इस बात की पुष्टि के लिए ही कवि ने काव्य-रचना सम्बन्धी विषय पर अपने विचार व्यक्त किए है। इस सम्बन्ध में उन्होने तुलसीदास की इस उक्ति 'कीन्हें प्राकृत जन गुनगाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना' को आदर्श माना है। अपने ढंग से प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—

तुव जस रस जिहि कवि न होई। भीति-चित्र सम चित्र है सोई ॥
हरि जस रस जिहि कवित नहिं, सुनै कवन फल ताहि।
सठ कठपूतरि संग घुरि, सोए कौ सुख आहि ॥[3]

स्पष्ट है कि कवि ने केवल विषय-वर्णन तक ही अपने आपको सीमित नही रखा है। उस वर्णन को पढ़कर प्राप्त होने वाले रस अथवा आनन्द की ओर भी उसका ध्यान गया है। और भक्ति-रस को शृंगार की अपेक्षा श्रेष्ठ मानने के कारण कवि ने केवल भक्तिरस की रचनाओं को ही मान्यता दी है। शृंगार की रचनाओं को तो उसने निर्जीव, आनन्द का भ्रम उत्पन्न करने वाली माना है।

इस प्रकार कवि ने काव्य की सरसता पर विशेष वल दिया है। यह सरसता विषय और शैली—दोनों से ही सम्बन्धित है। किसी पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु सरसता का सम्बन्ध श्रीकृष्ण और उनकी मधुरा भक्ति से ही कवि ने

---

१. वही, रूपमंजरी, पृष्ठ १०४
२. जे पंडित शृंगार ग्रंथ मत यामैं सानै।
ते कछु भेद न जानै हरि को विषई मानै ॥ सिद्धान्तपंचाध्यायी, ४६
३. नं० ग्रं० मंरूपजरी, पृष्ठ १०४

माना है---किसी प्राकृत शृंगार से नहीं । हम कवि के इस दृष्टिकोण से भले सहमत न हों किन्तु हमें उसे समझने का यत्न करना चाहिए । वैसे कवि ने शृंगार के माध्यम से लौकिक और कृष्ण-रति का अपूर्व समन्वय अपनी रचनाओं में किया है ।

इन स्पष्ट उक्तियों के अतिरिक्त रासपंचाध्यायी का निम्न छन्द भी हमारा ध्यान आपित करता है—

उज्जल रस कौ यह सुभाव बाँकी छवि छावै ।
बंक चहनि पुनि कहनि बंक अति रसहिं बढ़ावै ॥[1]

यहाँ कवि ने दो तथ्यों की ओर संकेत किया है—(१) उज्ज्वल रस और (२) वचनवक्रता । उज्ज्वल रस शब्द भक्त्याचार्य जीवगोस्वामी का दिया हुआ है । मधुर भक्ति रस के लिए उन्होंने इस शब्द का प्रयोग 'उज्ज्वलनीलमणि' की टीका में किया है । नन्ददास इस शब्द और इसके आशय से परिचित थे । अतः शृंगार रस के स्थान पर उन्होंने रासपंचाध्यायी में 'उज्ज्वल रस' शब्द का ही प्रयोग किया है । यह संकेत उनकी रस-सम्बन्धी विशेष मान्यता को सूचित करता है । दूसरी ओर 'कहनि बंक अति रसहिं बढ़ावै'—द्वारा रस सिद्धान्त को प्रमुख मानते हुए भी वचन की वक्रता पर विशेष बल है । और कवि ने यह माना है कि वचन की वक्रता रस-पोषक होती है । नन्ददास का भँवरगीत उनकी इसी धारणा को स्पष्ट करता है ।

काव्य-सिद्धान्त का दूसरा पक्ष भाव, हाव, हेला, रति आदि के स्पष्टीकरण में प्राप्त होता है । इनकी चर्चा रूपमंजरी और रसमंजरी दोनों में हुई है । रूपमंजरी में यह अवसर नायिका को श्रीकृष्ण से स्वप्न में मिलन के बाद की अवस्था के वर्णन-समय उपस्थित हुआ है । रसमंजरी में नायिका और नायक-भेद की चर्चा करने के उपरान्त संक्षेप में भाव, हाव आदि की चर्चा की गई है । किन्तु यह चर्चा केवल स्वरूप-स्पष्टीकरण है । इसके विपरीत रूपमंजरी में स्वरूप और नायिका की अवस्था पर उसे घटित करके दिखाया गया है । इसीलिए रूपमंजरी वाले वर्णन की सरसता निःसन्दिग्ध है ।

प्रियतम के प्रति प्रेम का प्रथम रूप भाव ही है ।[2] जब यही भाव बढ़ते हुए इस अवस्था तक पहुँच जाये कि अन्य किसी वस्तु या व्यक्ति के लिए हृदय मे आकर्षण ही न रहे तो यह अवस्था हाव कहलाती है । इस दशा में अन्य वस्तुओं का अच्छा लगना अपने प्रिय की इच्छा, रुचि आदि पर निर्भर करता है । मन की यह अवस्था शारीरिक चेष्टाओं से भी व्यक्त होती है । नायिका का बोलना, उल्लास में भरकर चलना-फिरना आदि इसी के सूचक लक्षण है ।[3] प्रिय के प्रति तीव्र प्रेम का परिणाम यह होता है कि

---

१. वही, रासपंचाध्यायी, १-७१

२. प्रथमहि प्रिय सौं प्रेम जु आही । कवि जन भाव कहत हैं ताही ॥
नं० ग्रं०, रूपमंजरी, पृष्ठ ११४

३. भाव बढ़्यो क्यों जानिय सोई । और वस्तु कहुँ ठौर न होई ॥
भाव तें बहुरि हाव छबि भई । सहचरि निरखि बलैया लई ॥
रूप जोति सी लटकति डोलै । सब सौं बचन मनोहर बोलै ॥

नायिका अपने को सजाने-सँवारने की ओर विशेष ध्यान देती है । नायिका की यह शृंगारोन्मुखता हेला की सूचक है ।[1] रति अवस्था काव्यशास्त्र के अनुसार प्रेम की पूर्णावस्था है। इस अवस्था में नायिका को अपनी सुधि का ही ध्यान नहीं रहता । भूख-प्यास मिट जाती है । कभी आँख में आँसू और कभी मुख पर उल्लास । विभिन्न सात्त्विकी भाव रति की अवस्था का ज्ञान करवाते है ।[2]

ऊपर भाव, हाव आदि का जो परिचय हमने प्राप्त किया है उससे स्पष्ट है कि नन्ददास ने लक्षण-निरूपण के लिए निश्चित ही किसी काव्यशास्त्र सम्बन्धी रचना का आधार लिया होगा । भानुदत्त कृत रसमंजरी में 'रति' और सात्त्विकी भावों की चर्चा है पर हाव, हेला आदि का कोई उल्लेख नही है । अतः इनका आधार कोई अन्य रचना रही होगी । पर कवि का योगदान उनके स्पष्टीकरण में है । रूपमंजरी की अवस्थानुसार प्रत्येक दशा को व्याख्या सहित प्रस्तुत किया गया है । हाव, भाव, हेला आदि के अतिरिक्त नन्ददास ने नायिका के सौन्दर्य की चर्चा में रूप[3], माधुर्य[4], रमणीयता[5], सौन्दर्य[6], मृदुता[7], सुकुमारता[8] आदि के भी काव्यशास्त्रीय शैली के अनुसार लक्षण दिये हैं। काव्य-सिद्धान्त सम्बन्धी उपर्युक्त सभी तथ्य इस बात के सूचक हैं कि कवि ने काव्यशास्त्र का

अंग अंग पेम उमंग अस सोहै । हेम छरी जराय जरि को है ।।
नैन बैन जब प्रगटै भाव । ताकहुँ सुकवि कहति हैं हाव ।।
वही, रूपमंजरी, पृष्ठ ११५

१. वार वार कर दर्पन धरै । कुंतल हार सँवारचो करै ।
अति शृंगार मगन मन रहै । ता कहुँ कवि हेला छवि कहै ।।
वही, रूपजमंरी, पृष्ठ ११५

२. मन की गति पिय पै इहि ढारा । समुद मेलि जस गंग की धारा ।।
डभक दै नैन नीर भरि आवहि । पुनि सुखि जाय महा छवि पावहि ।।
पुलक अंग स्वरभंग जनावै । बीच बीच मुरझाई आवै ।।
बिवरन तन अस देइ दिखाई । रूप बेलि जस घाम मैं आई ।।
वही, रूपमंजरी, पृष्ठ ११५

३. बिनु भूषन भूषित अंग जोई । रूप अनूप कहावै सोई ।।
वही, रूपमंजरी, पृष्ठ १०६

४. निरखत जाहि तृपति नहि आवै । तन में सो माधुरी कहावै ।।
वही, रूपमंजरी, पृष्ठ १०६

५. देखत अनदेखी सी जोई । रमनीयता कहावै सोई ।। वही, पृष्ठ १०६

६. सब अंग सुमिल सुठौनि सुहाई । सो कहिए तन सुंदरताई ।। वही, पृष्ठ १०६

७. परसत ही जनु नाहिन परसी । अस मृदुता प्रमदा-तन सरसी ।।
वही, पृष्ठ १०६

८. अमल कमल-दल सेज बिछैये । ऊपर कोमल बसन डसैये ।
तापर सोवत नाक चढ़ावै । सो वह सुकुमारता कहावै ।। वही, पृष्ठ १०६

अध्ययन किया था और सभी आवश्यक सामग्री का उपयोग उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है।

नायक-नायिका-भेद

रसमंजरी नन्ददास की नायिका-भेद सम्बन्धी रचना है। रसमंजरी के तुरंत बाद लिखी गई रूपमंजरी में नायिका-भेद के लक्षणों का कुछ प्रभाव लक्षित होता है। बहुत सी उक्तियाँ—विशेष रूप से अज्ञात-यौवना और मुग्धा नायिका-सम्बन्धी—समान हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि रूपमंजरी की अवस्था को एक विशिष्ट—सम्भवतः मुग्धा नायिका के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। कुछ स्थलों पर तो यह बात बहुत स्पष्ट हो गई है—

नेह नवोढ़ा नारि को वारि-वारुका न्याय।
थलराये पं पाइये नीपीड़े न रसाय॥[1]

रूपमंजरी के लिए नवोढ़ा शब्द का प्रयोग अन्य स्थलों पर भी हुआ है और नवोढ़ा मुग्धा का ही एक भेद माना गया है। इस प्रकार रूपमंजरी में नायिका-भेद का प्रभाव पूर्ण है। पर प्रयोग-पक्ष प्रधान होने के कारण और केवल एक नायिका-रूप तक सीमित होने के कारण उसे नायिका भेद सम्बन्धी रचना नहीं कहा जा सकता।

'रसमंजरी' की रचना का आधार भानुदत्त की रसमंजरी माना गया है। स्वयं कवि ने 'रसमंजरी' का आधार ग्रंथ के रूप में उल्लेख किया है किन्तु रचयिता का कहीं उल्लेख नहीं किया। पर विद्वानों के अनुसार नन्ददास के समय तक केवल भानुदत्त की रसमंजरी ही प्रसिद्ध थी। वैसे भी भानुदत्त की रसमंजरी से तुलना करने पर यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि नन्ददास द्वारा स्वीकृत आधार-ग्रन्थ भानुदत्त की रसमंजरी है।

भानुदत्त के आधार पर नन्ददास ने रस-विस्तार के लिए तीन प्रकार की नायिकाएँ मानी हैं—स्वकीया, परकीया और सामान्या। यद्यपि भानुदत्त ने इन तीनों के पृथक् पृथक् लक्षण लिए हैं पर नन्ददास ने इसकी आवश्यकता नही समझी। और सामान्या का तो उन्होंने केवल एक बार ही उल्लेख किया है। उक्त नायिकाओं के तीन-तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा। इनके वर्गीकरण का आधार नन्ददास ने विहार माना है—यद्यपि ऐसा स्पष्ट रूप से भानुदत्त ने कहीं नहीं कहा। मुग्धा के चार भेदों की चर्चा की गई है—अज्ञात-यौवना और ज्ञात-यौवना तथा नवोढ़ा और विश्रब्ध नवोढ़ा। भानुदत्त की रसमंजरी में मुग्धा के उक्त भेदों का क्रम यही है और इसके द्वारा यह ग्रहण किया जाता है कि अन्तिम दो भेद मुग्धा ज्ञात-यौवना के हैं—अज्ञात-यौवना के नहीं। किन्तु नन्ददास के वर्णन से यह बात स्पष्ट नही हो पाती। यद्यपि चारों भेदों का परिचय वहाँ भी कराया गया है पर क्रम भिन्न है—मुग्धा नवोढ़ा, विश्रब्ध नवोढ़ा, अज्ञात यौवना और ज्ञात यौवना। काव्यशास्त्र ग्रन्थ में यह भूल क्षम्य नहीं है—पर नन्ददास

---

१. वही, रूपमंजरी, दोहा ५०१

की रचना का उद्देश्य केवल परिचय है। मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा के सोदाहरण परिचय के बाद नायिका के अन्य भेदों की चर्चा की गई है। सबसे पहले मानावस्था के आधार पर धीरा, अधीरा और धीराधीरा। नन्ददास ने इस वर्गीकरण का कारण तो स्पष्ट नहीं किया किन्तु मुग्धा में ये भेद नहीं होते, यह मानकर कारण का केवल आभास दे दिया है। भानुदत्त ने तो यह भी स्पष्ट कर दिया है कि मान पर अवलम्बित होने के कारण ये भेद स्वकीया में ही सम्भव है। नन्ददास ने धीरादि के ज्येष्ठा और कनिष्ठा—इन दो भेदों की कोई चर्चा नहीं की है। इसी प्रकार परकीया के दो रूप—परोढ़ा और कन्यका में से उन्होंने केवल परोढ़ा को लिया है। परोढ़ा के भेदों में से नन्ददास ने तीन की चर्चा की है—गुप्ता, विदग्धा और लक्षिता। इनके अतिरिक्त कुलटा, अनुशयाना और मुदिता को छोड़ दिया है। भानुदत्त की रसमंजरी में गुप्ता के तीन भेद दिये गए हैं—वृत्तसुरत गोपना, वर्तिष्यमाण सुरतगोपना और वृत्तवर्तिष्यमाण सुरतगोपना। किन्तु इन तीनों का उदाहरण एक ही है। अतः नन्ददास ने सभी भेदों का उल्लेख न करके 'सुरतगोपना' की चर्चा की है। विदग्धा के भी भानुदत्त ने दो भेद दिये हैं—वाग्विदग्धा और क्रियाविदग्धा। नन्ददास ने इनमें से केवल वाग्विदग्धा की चर्चा की है, क्रियाविदग्धा को छोड़ दिया है। स्वकीया-परकीया के इस प्रकरण के बाद भानुदत्त की रसमंजरी में नायिका के तीन अन्य भेदों—अन्य-सम्भोग दुःखिता, वक्रोक्तिगर्विता और मानवती—की चर्चा हुई है। परन्तु नन्ददास ने इस पूर्ण प्रसंग को ही छोड़ दिया है। उन्होंने नायिका की मनोदशासूचक नौ अवस्थाओं—प्रोषितपतिका, खंडिता, कलहंतरिता, उत्कंठिता, विप्रलब्धा, वासकसज्जा, अभिसारिका, स्वाधीनवल्लभा और प्रीतमगवनी (प्रवत्स्यपतिका) की चर्चा की है। भानुदत्त ने ये अवस्थाएँ स्वकीया के तीन वर्ग—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा, परकीया और सामान्या—सभी में स्वीकार की है, किन्तु नन्ददास ने सामान्या को छोड़ दिया है। भानुदत्त की रसमंजरी में अभिसारिका के तीन भेदों—ज्योत्स्ना, तामिस्रा और दिवसाभिसारिका की चर्चा है। नन्ददास ने इनका कोई उल्लेख नहीं किया। इसी प्रकार नायिका के उत्तम, मध्यम और अधम भेद छोड़ दिये गए हैं।

नायिकाभेद के बाद नन्ददास ने नायक-भेद का परिचय कराया है—पर यह अपेक्षाकृत बहुत संक्षिप्त और साधारण है। भानुदत्त की रसमंजरी में नायक के तीन भेद हैं—पति, उपपति और वैशिक। आगे पति के चार भेद हैं—अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ। नन्ददास ने पति के इन चार भेदों का ही उल्लेख किया है। भानुदत्त कृत रसमंजरी में नायक-भेद का और भी विस्तार है जिसे नन्ददास ने छोड़ दिया है।

नन्ददास और भानुदत्त की रसमंजरी की उक्त तुलना से जो तथ्य प्रकाश मे आते हैं वे इस प्रकार हैं। नन्ददास की रसमंजरी काव्यशास्त्र सम्बन्धी रचना नही, केवल नायक-नायिका-भेद का परिचय कराने के लिए लिखी गई है। यही कारण है कि क्रम और विस्तार दोनों का स्वेच्छानुसार पालन किया गया है। क्रम में अस्पष्टता एवं विपर्यय हो सकता है पर स्वरूप-स्पष्टीकरण में किसी प्रकार की त्रुटि लक्षित नही होती है। इसी प्रकार अधिक विस्तार कवि को अभीष्ट नही रहा है। दूसरी बात जो सामने

आती है वह यह है कि नन्ददास द्वारा किया गया यह नायक-नायिका-भेद केवल कृष्ण-भक्ति पक्ष को लेकर है। इसी कारण सामान्या की चर्चा बिलकुल छोड़ दी गई है। और भी अनेक ऐसे भेद हैं जिनको इसीलिए छोड़ दिया गया है कि वे कृष्ण-भक्ति के अनुकूल नहीं हैं। सामान्य नायिकाओं में उत्तम, मध्यम और अधम का वर्गीकरण किया जा सकता है पर कृष्ण भक्तों में एक ही दशा स्वीकार की जा सकती है। कहीं-कहीं तो कृष्ण-सम्बन्धी उल्लेख भी हैं।[1] यही बात नायक-भेद की संक्षिप्तता के सम्बन्ध में कही जा सकती है। भानुदत्त की रसमंजरी मे विप्रलम्भ शृंगार की चर्चा हुई है। नन्ददास ने इस विषय को विरहमंजरी में प्रस्तुत किया है किन्तु भानुदत्त के आधार पर नहीं—स्वतन्त्र रूप में और वहाँ उन्होंने व्रज के विरह की विलक्षणता को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। अतः नन्ददास की रचना में भानुदत्त की रसमंजरी का अनुसरण अवश्य हुआ है पर इस अनुसरण के कारण कवि ने किसी प्रकार का बन्धन नहीं स्वीकार किया। अपनी इच्छानुसार उन्होंने ग्रहण भी किया है और छोड़ा भी है।

नन्ददास ने रसमंजरी से जो कुछ ग्रहण किया है उसको तीन वर्गों में विभाजित करके समझा जा सकता है—(१) संकेत, (२) आधार और (३) पूरा प्रसंग। किन्तु इन सभी के बारे में एक बात सामान्य रूप से कही जा सकती है और वह है व्याख्या की। प्रायः सभी स्थलों की व्याख्या कवि ने स्वयं की है। कहीं-कही तो विषय को स्पष्ट करने के लिए उन्होने दोहे का भी प्रयोग किया है। ये सभी दोहे व्याख्यापरक हैं। संकेत ग्रहण करने की दृष्टि से मध्या प्रोषितपतिका का यह उदाहरण लिया जा सकता है। नन्ददास ने मध्या प्रोषितपतिका का परिचय इस प्रकार दिया है—

मध्या पिय जब बिरह जुर दहै। इहि परकार सखी सों कहै ॥
सखि हो वहै वहै कर वलै। ऐपरि फर करिये नहिं चलै ॥
वसन तेई कटि किंकिनि सोई। छिन छिन आधि अधिक क्यों होई ॥
कवन समय आयो इह सजनी। इंदु अनल बरषै सब रजनी ॥
इहि परकार कहति जो लहिये। मध्या प्रोषितपतिका कहिये ॥[2]

इस परिचय का आधार रसमंजरी का निम्न श्लोक है—

वासस्तदेव वपुषो वलयं तदेव
हस्तस्य सैव जघनस्य च रत्नकाञ्ची ॥
वाचालभृङ्गसुभगे सुरभौ समस्त-
मद्याधिकं भवति ते सखि! किं निदानम् ॥[3]

उक्त श्लोक की प्रथम दो पंक्तियाँ ही नन्ददास ने स्पर्श की है—शेष को छोड़ दिया है। गृहीत पंक्तियों मे कुछ बातों का उल्लेख है, अन्य की उपेक्षा की गई है।

---

१. जिहि मनमोहन पिय-हित माई। अकिली वन घन बसि न डराई ॥
नं० ग्रं०, रसमंजरी, पृष्ठ १३८

२. वही, रसमंजरी, पृष्ठ १३१

३. रसमंजरी, भानुदत्त, श्लोक ४०

पर जो कुछ लिखा गया है वह दोनों की समता का संकेत अवश्य देता है । आकार वाले स्थलों पर साम्य नगण्य है । प्रौढ़ा धीराधीरा का नन्ददास ने इस प्रकार परिचय दिया है—

> नागर नारि रसीले नैना । कोमल मान गहे पर बाला ।
> प्रेम भरे सुनि वचन पिया के । हँसहि कपोल मसोस लिया के ।।
> रोती सुख हिय हंसा सों भोये । मानहुँ मीन महावर धोये ।।
> कछु नम हिय कछु प्रहिष सहीये । प्रौढ़ा धीराधीरा कहिये ।।[1]

रसमंजरी का श्लोक इस प्रकार है—

> तल्पोपान्तमुपेयुषि प्रियतमे वक्रीकृतग्रीवया
> काकु व्याकुलयापि साचि हसितं स्फूर्जत्कपोलश्रिया ।
> हस्तन्यस्तकरे पुनर्मृगदृशा लाक्षारसक्षालित—
> प्रोष्ठीपृष्ठमपूर्वमांसलरुचो विस्फारिता दृष्टयः ।।[2]

इस श्लोक की अधिकांश बातों को नन्ददास ने अपने परिचय में समाविष्ट कर लिया है । और अपनी ओर से अन्तिम पंक्ति में व्याख्या भी प्रस्तुत की है । परन्तु ऐसे उदाहरण हैं जहाँ नन्ददास ने प्रायः वही कहा है जो रसमंजरी में कहा गया है । मध्या खंडिता का यह परिचय ऐसा ही है ।

नन्ददास—

> प्रीतम-उर कुच-चिन्हन चहैं । जानै परि कछु बैन न कहैं ।।
> पुनि तिन में नख रखै देखै । सांस न भरै कनाखिन पेखै ।।
> चपरि चखनि तें जो जल आवै । इहि परकारि तिया जु जनावै ।।
> मुख धोवन मिस ताहि मिलावै । इहि प्रकार तिय प्रीति जनावै ।।
> सा मध्या खंडिता कहावै । सुनै सुनावै सो सुख पावै ।।[3]

भानुदत्त—

> वक्षोजचिह्नितमुरो दयितस्य वीक्ष्य
> दीर्घं न निश्श्वसिति जल्पति नैव किञ्चित् ।
> प्रातर्जलेन वदनं परिमार्जयन्ती
> बाला विलोचनजलानि तिरोदधाति ।।[4]

इस श्लोक में जो कुछ बताया गया वही सभी नन्ददास ने ज्यों का त्यों ग्रहण किया है । यह सत्य है कि उसके अतिरिक्त भी उन्होंने उसकी व्याख्या के रूप में कुछ कहा है पर पूर्णाधार रसमंजरी का ही है ।

इस परिचय से नन्ददास का व्याख्याता रूप ही हमारे सम्मुख आता है ।

---

१. नं० ग्रं०, रसमंजरी, पृष्ठ १३०
२. रसमंजरी, भानुदत्त, श्लोक १७
३. नं० ग्रं०, रसमंजरी, पृष्ठ १३२
४. रसमंजरी, भानुदत्त, श्लोक ४५

नायिका-भेद की चर्चा उन्होंने अपने निश्चित लक्ष्य के अनुरूप की है। इसके आधार पर उनके काव्यशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान का परिचय तो मिलता है पर वे काव्यशास्त्र के आचार्य थे—ऐसा नहीं कहा जा सकता। खण्डन-मण्डन का अभाव और केवल एक ग्रन्थ का आधार ग्रहण करना इसी बात का पोषक है।

कोष ग्रन्थ

नन्ददास ने अनेकार्थ भाषा और नाममाला को कोष-ग्रन्थ के रूप में लिखा है। इन दोनों रचनाओं के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए भी कवि ने संस्कृत शब्दों के भाषा पर्यायवाची देने की बात कही है।[1] किन्तु इन रचनाओं को मात्र कोष-ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। 'नाममाला' तो निश्चित रूप से मानवती राधा को मनाने के प्रसंग को ध्यान में रखकर लिखा गया है।

गूँथनि नाना नाम को, अमरकोष के भाय।
मानवती के मान पर, मिले अर्थ सब आय ॥[2]

अनेकार्थभाषा में प्रत्येक दोहा भक्ति से किसी न किसी प्रकार से सम्बद्ध है। अतः कवि ने इन दोनों रचनाओं में शब्द-कोष और भक्ति तथा शब्द-कोष और मान-लीला मे अपूर्व सन्तुलन स्थापित करने का यत्न किया है। यही इन रचनाओं की सबसे बड़ी विलक्षणता है। यद्यपि अनेकार्थभाषा का आरम्भिक रचना होने के कारण काव्य की दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं है पर नाममाला में कवि की प्रतिभा और कला दोनों का पूर्ण परिचय हमें प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि केवल कोषग्रन्थ के रूप मे इन रचनाओं को स्वीकारना कवि के प्रति न्याय नहीं होगा।

अनेकार्थभाषा में कुल ११३ शब्दों के पर्यायवाची नन्ददास ने प्रस्तुत किये हैं। इन शब्दों को उन्होंने स्वयं चुना अथवा किसी कोषग्रन्थ से ग्रहण किया—यह विद्वानों के अनुमान का विषय है। स्वयं कवि ने इस दिशा में कोई संकेत नहीं दिया है। डॉ० भवानीदत्त उप्रेती ने इस सन्दर्भ में अमरकोष और अनेकार्थ समुच्चय—इन दो रचनाओं का उल्लेख किया है। और तुलना द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि अनेकार्थभाषा और इन कोष-ग्रन्थों में कहीं-कहीं साम्य मिल जाता है।[3] पर यह साम्य इतना नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि अनेकार्थभाषा की रचना इन्हीं के अनुसार हुई है। फिर ऐसे शब्द भी है जो उक्त दोनों कोष-ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते। अतः समुचित यही प्रतीत होता है कि नन्ददास ने अपने अध्ययन काल में जिन कोष-ग्रन्थों

---

१. उचरि सकत नहिं संस्कृत, जान्यो चाहत नाम।
तिन हित 'नंद' सुमति जथा, रचत नाम के दाम ॥ नाममाला, २
उचरि सकत नहिं संस्कृत, अर्थ ज्ञान असमर्थ।
तिन हित नंद सुमति जथा, भाषा कियो सुअर्थ ॥ अनेकार्थभाषा, ३

२. नाममाला, ३

३. नन्ददास, पृष्ठ ६६-१०१

को देखा होगा उनके कुछ बहुप्रयुक्त शब्द चुनकर अनेकार्थभाषा की रचना कर दी हो। इन अधीत कोष-ग्रन्थों में सम्भवतः अमरकोष का स्थान विशेष रहा हो। किन्तु शब्द-चयन के सम्बन्ध में यह बात निश्चित है कि उन्होंने केवल उन्हीं शब्दों को लिया जो बहुप्रयुक्त, प्रचलित और आवश्यक प्रतीत हुए। क्योंकि इस रचना का लेखन एक साधारण पाठक के लिए ही हुआ जिसका संस्कृत ज्ञान बिलकुल नहीं है। अन्यथा कोष-ग्रन्थ का इतना संक्षिप्त रूप देखकर आश्चर्य होगा। अन्य बात यह भी है कि शब्दों को आकारादि क्रम से प्रस्तुत नहीं किया गया है। यह भी स्वेच्छानुसार शब्द के चयन को सूचित करता है।

नाममाला के ऊपर उद्धृत दोहे में 'अमरकोष' की सहायता की बात संकेतित है। किन्तु यह सहायता केवल भाव ग्रहण तक सीमित है। कवि ने शब्दों का क्रम मानलीला-प्रसंग के अनुसार रखा है और इस लीला को समाप्ति के साथ-साथ रचना भी समाप्त हो जाती है। 'नाममाला' कोष-ग्रन्थ और कवित्व का अपूर्व मिश्रण है—यह बात ऊपर कही जा चुकी है। परिणामतः ऐसे अनेक दोहे हमें मिल जाते हैं जिनका सम्बन्ध लीला से है, शब्द के पर्यायवाची देने से नहीं। निम्न उदाहरण से इस आशय की पुष्टि होती है।

एकहु सिद्धी बस करे, तेहि सिध कह संसार।
ते वृषभानु भुआल के, द्वार बोहारनहार।
मुक्ति जु चार प्रकार की, नहिं पैयत जप जोग।
ते वृषभानु भुआल के, पावत पामर लोग॥[1]

सामान्यतया नाममाला की प्रथम पंक्ति में पर्यायवाची दिये गए है और दूसरी पंक्ति लीला-वर्णन को आगे बढ़ाती है। किन्तु कई स्थल इसके अपवाद हैं। यहाँ बहुधा दो दोहे और कहीं-कहीं तीन दोहे मिलते हैं। इनमें से एक दोहा पर्यायवाची शब्द प्रस्तुत करता है और दूसरे का सम्बन्ध लीला से है। तात्पर्य यह कि लीला-वर्णन की ओर कवि की दृष्टि सदैव रही है और नाममाला में वही शब्द लिये गए है जिनका लीला-वर्णन में उपयोग किया जा सकता है। यही नाममाला के शब्द-चयन का मात्र आधार है। सम्पूर्ण रचना में २६४ दोहे हैं जिसमें २०७ शब्दों के पर्यायवाची दिये गए है। मान-लीला वर्णन में कवि ने व्याज से वृषभानु के ऐश्वर्य,[2] राधा के सौन्दर्य,[3] कृष्ण के महत्त्व,[4]

---

१. नाममाला, २३ और २७
२. ये नवनिधि जे जगत में, बिरले काहू दीख।
   ते वृषभानु भुआल के परत भिखारिन भीख॥ वही, २५
३. हस्त बाहु सुख पानि, कर, कबहूँ धरत कपोल।
   बर अरबिंद बिछाय जनु, सोवत इंदु अडोल॥ वही, ६१
४. कोटि विनायक जो लिखें, महि से कागर कोटि।
   ता परि तेरे पीय के, गुन नहिं आवै टोटि॥ वही, १२५

और दैन्य[1] तथा वृन्दावन-सुपमा[2] का वर्णन किया है । ये सभी स्थल कवित्व की दृष्टि से सुन्दर है ।

नन्ददास के आचार्य रूप का यह परिचय हमे इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि कवि ने स्वतन्त्र रूप से काव्यशास्त्र अथवा कोष-ग्रन्थ की रचना नही की है । प्रेम तत्त्व को अधिक ग्राह्य और बहुप्रयुक्त संस्कृत शब्दों के पर्यायवाची प्रस्तुत करने के उद्देश्य से कवि ने रसमंजरी और अनेकार्थभापा एवं नाममाला की रचना की है । किन्तु इन सभी रचनाओं को उन्होंने कृष्ण अथवा कृष्ण की भक्ति से सम्बद्ध करके प्रस्तुत किया है । रसमंजरी ही एक ऐसी रचना है जिसमें रीति-ग्रन्थ होने के तत्त्व उपलब्ध होते हैं । किन्तु यह रचना परिचयात्मक है । लक्षण और उदाहरण को पृथक्-पृथक् देकर नहीं समझाया गया है । कवि ने दोनों को मिलाकर प्रस्तुत किया है, जिसमे विषय के स्पष्टीकरण और नायक-नायिका के स्वरूप-कथन पर विशेप बल है । किन्तु विद्वानों ने रसमंजरी के ऐतिहासिक महत्त्व को स्वीकार किया है ।[3] हिन्दी साहित्य की रीति-सम्बन्धी रचनाओं में रसमंजरी आरम्भ की रचना है । रीतिकाल आरम्भ होने से पूर्व लिखी गई इस रचना का ऐतिहासिक महत्त्व तो निःसन्दिग्ध है । किन्तु इसके अतिरिक्त भक्ति और रीति तथा भक्ति और कोप का अपूर्व समन्वय नन्ददास की बहुत बड़ी उपलब्धि है । नन्ददास मूलतः भक्त थे पर विद्वान और कलाकार भी । इसीलिए उन्होंने भक्ति के जिस रूप को ग्रहण किया उसके विभिन्न पहलुओं पर विचार भी किया है । नायक-नायिका-भेद का ज्ञान रसपोषक हो सकता है—इसीलिए कवि ने उसका परिचय कराया है पर उसका रीतिग्रन्थ के रूप में जो स्थान है वह उसे प्राप्त होना ही चाहिए । नन्ददास के समय में हिन्दी भापा मे ऐसे परिचयात्मक ग्रन्थों का लिखा जाना बहुत बड़ी बात है । अतः नन्ददास को यदि आचार्य के रूप में स्मरण कर लिया जाता हो तो इसमे कोई आश्चर्य नही । उनका काव्य के प्रति दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट है । उसी भक्तिपरक दृष्टिकोण का प्रतिफलन उनकी प्रत्येक रचना में दृष्टिगत होता है

---

१. कल्पतरु तरें तल्प रचि, कब के बिलपत पीय ।
   तदपि न तनिक दया कहूँ, उपजति निर्दय हीय ॥ वही, १६७
२. यह बृंदाबन बाग तुव, दिख बलि छवि कौ धाम ॥
३. अष्टछाप के कवि नन्ददास, कृष्णदेव, पृष्ठ १२१

योगदान

कवि का महत्त्व उसके साहित्यिक योगदान से आँका जा सकता है और भक्त का उसकी प्रेम-तीव्रता से। नन्ददास कवि भी हैं और भक्त भी। इनमें से कौन-सा रूप प्रधान है—इस सम्बन्ध में विद्वानों ने अधिक विचार की आवश्यकता नहीं समझी। नन्ददास के काव्य का प्रेरणा-स्रोत भक्ति-भाव एवं प्रेम तत्त्व रहा है, अतः सभी ने नन्ददास को पहले भक्त और बाद में कवि स्वीकार किया है। विद्वानों के इस निर्णय का आधार नन्ददास की रचनाओं के विषय के अतिरिक्त रूपमंजरी की वे पंक्तियाँ हैं जिसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि कविता की सार्थकता हरि-यश का वर्णन करने में ही है। अपनी रसिक-प्रवृत्ति के अनुरूप उदाहरण देकर इस बात को उन्होंने जन सामान्य के लिए ग्राह्य बना दिया है—

तुव जस रस जिहि कवि न होई। भीति-चित्र सम चित्र है सोई।
हरि जस रस जिहि कवित नहिं, सुनै कवन फल ताहि।
सठ कठपूतरि संग धुरि, सोए कौ सुख आहि॥[1]

वस्तुतः प्रेम व्यक्ति-द्वय के चेतन सम्बन्ध को सूचित करता है, जिसका उद्देश्य आनन्द है। इसीलिए आनन्द की चिन्मयता प्रेमियों के चैतन्य रूप पर निर्भर करती है। यही कारण है कि नन्ददास को इस प्रकार का उदाहरण देने की आवश्यकता पड़ी। वैसे नन्ददास ने स्थूल श्रृंगार के उल्लेख में कोई संकोच नहीं बरता है। इसका कारण उनकी एकान्तिक भक्ति और प्रेम की तीव्रता में संकोच का अभाव है। अपने आशय को उन्होंने रसमंजरी में बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है।

रूप प्रेम आनंद रस, जो कछु जग मैं आहि।
सौ सब गिरधर देव कौं, निधरक बरनौं ताहि॥[2]

इस प्रकार नन्ददास ने तुलसीदास के समान ही 'कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना'—वाली बात को अपनी शब्दावली में स्पष्ट किया है। और उनकी इन पंक्तियों के आधार पर यह निर्णय कर लेना कि कवि ने जो कुछ लिखा वह सब 'हरि-भक्ति-रस' से ओतप्रोत है—सर्वथा स्वाभाविक है। किन्तु 'हरि-

---

१. रूपमंजरी, पंक्ति ३४-३५

२. रसमंजरी, दोहा ७

रस-दृष्टि' प्रधान होते हुए भी नन्ददास की काव्य-कला का जो रूप हमारे सामने आता है उससे उनका कवि-रूप भक्त-रूप से किसी प्रकार अप्रधान नहीं है। नन्ददास की रचनाओं में कलात्मक अभिव्यंजना का जो परिचय हमने ऊपर प्राप्त किया है वह इसी आशय को पुष्ट करता है। और अधिक नही तो नन्ददास के कलाकार रूप का महत्त्व विद्वानों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। डॉ० दीनदयालु गुप्त ने स्पष्ट शब्दो मे इस भाव को व्यक्त करते हुए कहा है— "केवल पद-लालित्य और भाषा-माधुर्य की दृष्टि रखी जाय तो नन्ददास अपने कुछ चुने हुए ग्रन्थो की भाषा के कारण प्रथम स्थान, सूरदास द्वितीय स्थान और परमानन्ददास तृतीय स्थान पर रखे जायेंगे।"[1] और सत्यता यही है कि नन्ददास भक्ति-भाव की गहनता के कारण नही अपितु अपनी काव्य-कला के आधार पर ही हिन्दी-साहित्य में स्थान बना सके है। नन्ददास के भाव-चित्रण की उपेक्षा नहीं की जा सकती। "'रासपंचाध्यायी' में भाव-चित्रण तथा भाषा-माधुर्य की जैसी सफलता नन्ददास को मिली है वैसी परमानन्ददास को तो मिली ही नही है, कदाचित् सूरदास और तुलसीदास को भी अपनी कुछ ही पंक्तियों में मिली हो।"[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि नन्ददास का योगदान साहित्यिक और भक्ति-भाव दोनों दृष्टियों से है।

नन्ददास सौन्दर्य और यौवन के कवि है। उनकी अधिकांश रचनाओं से उनके इस रूप का समर्थन होता है। विषय की दृष्टि से रासपंचाध्यायी, नाममाला, रूपमंजरी, रसमंजरी, विरहमंजरी, भ्रमरगीत, श्यामसगाई, रुक्मिणीमंगल और पदावली—ये सभी रचनाएँ यौवनकालीन प्रेम की पोषक है। और इनमे शायद ही कोई ऐसी रचना हो जहाँ सौन्दर्य-वर्णन अपने विभिन्न रूपों में प्राप्त न होता हो। यह सत्य है कि शारीरिक सौन्दर्य के प्रति नन्ददास का विशेष लगाव है किन्तु इसके कारण प्राकृतिक अथवा नागरिक सौन्दर्य की उन्होने उपेक्षा नही की है। वृन्दावन-सुषमा का वर्णन ही रासपंचाध्यायी, नाममाला, रूपमंजरी, भाषा दशमस्कन्ध आदि में प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त निर्भयपुर की अमराइयाँ और द्वारका के उपवन भी प्राकृतिक-सौन्दर्य का परिचय देते है। वृषभानु की 'पौरि' और द्वारका के वैभव-वर्णन में नागरिक सौन्दर्य का सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होता है। अन्य जहाँ भी कवि को सौन्दर्य-वर्णन का जैसा अवसर मिला है उसने उसका पूर्ण उपयोग किया है।

यौवन की उमङ्ग-चित्रण के आधार मुख्य पात्र हैं—श्रीकृष्ण, राधा और गोपियाँ, रूपमंजरी तथा रुक्मिणी। इन विभिन्न पात्रों के माध्यम से कवि ने यौवनावस्था के सभी सम्भव भावों को व्यंजित किया है। यही एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ कवि की गति निर्बाध है। श्रीकृष्ण के बाल-स्वभाव और मातृ-हृदय की वत्सलता का परिचय नन्ददास ने अपने काव्य में दिया है—पर यह सूक्ष्म होते हुए भी संक्षिप्त है। इसलिए नन्ददास का भावात्मक-सौन्दर्य केवल दाम्पत्य-भाव में देखा जा सकता है। दाम्पत्य-भाव के संयोग और वियोग दोनों पक्ष अपने पूर्ण माधुर्य के साथ नन्ददास के काव्य में विद्यमान है।

---

१. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, पृष्ठ ८९५

२. वही, पृष्ठ ८९३

जहाँ कवि ने मिलन के उल्लासपूर्ण ऐसे चित्र प्रस्तुत किये है—

केलि-कला कमनीय किसोर, उभय रस-पुंजन कुंजन नेरैं।
हास, विनोद कियौं बलि आलि, किलो सुख हेतु है हरि हेरैं ॥[1]

वहाँ वियोग की कसक का अनुभव करानेवाली ऐसी उक्तियाँ भी हैं—

अजरि परत अब अंग सब, चोवा चंदन लागि।
विधि-गति जब विपरीत तब, पानी ही मैं आगि ॥[2]

इसके अतिरिक्त पूर्वराग में मिलनेच्छा की तीव्रता के कारण व्याकुलता की व्यंजना, मान में मिलनेच्छा पर गर्व का अंकुश और खंडितावस्था में उपालम्भ सम्बन्धी उक्तियों में मानसिक-वेदना, आकुलता, अधीरता आदि की मार्मिक व्यंजना नन्ददास के काव्य की विशेषता है। इन सभी भाव दशाओं को कवि ने अत्यधिक कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। उसकी कला की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ वर्ण-विन्यास और चित्र-योजना है। वर्ण-विन्यास ने जहाँ भाषा को संगीत, माधुर्य, सरसता, प्रवाह आदि प्रदान किया है, वहाँ नन्ददास की चित्र-योजना ने विषय के सदृश दृश्य उपस्थित कर भाव और भाषा की स्पष्टता में सहायता दी है। काव्य-कला का इतना सजग प्रयोग अन्य समकालीन कवियों में विरल है। उनका पद-लालित्य संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि जयदेव का स्मरण करा देता है।

नागर नवल किसोर कान्ह कल-गान कियो अस।
बाम बिलोचन बालन को मन हरन होई जस ॥[3]

अप्रस्तुत-योजना में नन्ददास का प्रिय अलङ्कार उत्प्रेक्षा है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार का जितने अधिकार से कवि ने प्रयोग किया है उतना सम्भवतः अन्य किसी अलङ्कार का नहीं। जब वे उत्प्रेक्षा करना आरम्भ करते है तो एक के बाद एक उत्प्रेक्षा की लड़ी बनती चली जाती है। और इसका प्रयोग करते हुए वे कभी थकते नहीं हैं। सादृश्य के लिए उन्होंने प्रकृति, शास्त्र, लोक-रीति और अनुभूति के आधार पर मूर्त और अमूर्त दोनों उपमेय प्रस्तुत किए है। कहीं-कहीं तो एक ही छन्द मे दो-दो उत्प्रेक्षाएँ की गई हैं। रुक्मिणी की मनोदशा-चित्रण की यह मार्मिकता उत्प्रेक्षाओं के कारण है—

चकित चहूँ दिसि चहति, बिछुरि मनु मृगी माल तें।
भयौ बदन कछु मलिन, नलिन जनु गलित नाल तें ॥[4]

वर्ण-विन्यास और अप्रस्तुत-योजना के अतिरिक्त शब्द-शक्ति और काव्य-गुण भी नन्ददास की भाषा की श्रीवृद्धि करते हैं। प्रसाद और माधुर्य—यही दो गुण उनके काव्य-विषय के अनुकूल है। श्याम-सगाई में इन दो गुणों का अपूर्व माधुर्य लक्षित होता है। शब्द-समूह में नन्ददास की भाषा सभी प्रकार के शब्दों से समृद्ध है—तत्सम,

१. पदावली, ७६
२. विरहमंजरी, दोहा ७४
३. रासपंचाध्यायी, १-४८
४. रुक्मिणीमंगल, ४

अर्द्धतत्सम, तद्भव और देशज पर विदेशी शब्दों का प्रयोग उन्होंने शायद बचाया है। उन्होने सहज और अलंकृत दोनों शैलियों का प्रयोग किया है। यद्यपि काव्य-दोष के उदाहरण इनकी रचनाओं में ढूंढे जा सकते हैं पर नन्ददास की भाषा इतनी कलापूर्ण ढंग से प्रस्तुत की गई है कि उनकी ओर पाठक का ध्यान विशेष प्रयत्न के बाद ही जाता है। भाषा के इस कलात्मक प्रयोग के कारण ही नन्ददास 'जड़िया' है।

कृष्ण-भक्ति काव्य के प्रायः सभी कवियों ने अपने को राधा-कृष्ण एवं गोपी-कृष्ण की लीला-गायन तक सीमित रखा। नन्ददास ने भी ऐसा किया है। किन्तु रूप-मंजरी और रुक्मिणी को उन्होंने काव्य मे स्थान दिया है। इन पात्रों द्वारा यद्यपि कवि ने कृष्ण-प्रेम की व्यंजना की है किन्तु नन्ददास के द्वारा कृष्ण-प्रेम की अभिव्यक्ति में नवीन दिशा का विकास हुआ है। इसी प्रकार लीला-गान की प्रधानता के कारण अधिकांश कृष्ण-काव्य गेय है। पर नन्ददास ने कई आख्यानात्मक रचनाएँ प्रस्तुत की है। कृष्ण-काव्य की साहित्यिक समृद्धि में नन्ददास का यह योग महत्त्वपूर्ण है। नन्ददास की अनेकार्थभाषा, नाममाला और रसमंजरी केवल परिचयात्मक हैं किन्तु कवि का कोष-ग्रन्थ और नायिका-भेद की दिशा में प्रयास स्तुत्य है।

नन्ददास ने अपनी अधिकांश रचनाओं का विषय भागवत से लिया है। केवल रूपमंजरी, विरहमंजरी और श्याम-सगाई को ही उनकी स्वतन्त्र रचना कहा जा सकता है। हो सकता है इनकी प्रेरणा भी उन्हें कही से प्राप्त हुई हो पर इन रचनाओं का विकास कवि का अपना है। इसलिए उन्हें कवि की स्वतन्त्र रचनाएँ कहा जा सकता है। जहाँ तक मौलिकता का प्रश्न है, नन्ददास की सभी रचनाएँ मौलिक है। क्योंकि मौलिकता विषय पर नही, वस्तु अर्थात् कवि के दृष्टिकोण पर निर्भर करती है। वस्तु ही वास्तव में सम्प्रेष्य है। अतः नन्ददास की रचनाओं मे भाषा दशमस्कन्ध को छोड़-कर शेष सभी का रूप मौलिक है। भाषा दशमस्कन्ध में भी कई स्थलों पर कवि का स्वस्थ रूप सम्मुख आता है। विशेष रूप से रसानुकूल वातावरण या प्रसङ्ग उपस्थित होने पर। दृष्टिकोण की यह मौलिकता कोष-ग्रन्थ अनेकार्थभाषा और नाममाला तथा रसमंजरी में भी देखी जा सकती है। नाममाला तो निश्चित रूप से मानलीला के सांचे में ढाली गई रचना है। उसका अनेकार्थ-परिचयात्मक रूप भी वहाँ विद्यमान है किन्तु मान-लीला रूप अधिक प्रभावपूर्ण है। इसी प्रकार रूपमंजरी मे प्रेम-तत्व को समझने के लिए पृष्ठभूमि तैयार करना ही कवि का लक्ष्य है। नायिका-भेद पर ग्रन्थ लिखना नही।

भक्ति के क्षेत्र में नन्ददास का योगदान महत्त्वपूर्ण है। अष्टछापी कवियों में आचार्य वल्लभ के भक्ति-सिद्धान्तों के व्याख्याता के रूप मे नन्ददास ही सामने आते है। उन्होंने केवल साधना-सम्बन्धी सिद्धान्तो को ही स्पष्ट नही किया है अपितु भ्रमरगीत और सिद्धान्तपंचाध्यायी के द्वारा सम्प्रदाय के दार्शनिक पक्ष को भी। विचारो के स्पष्टी-करण में इन रचनाओं में दो शैलियाँ स्वीकार की गईं—दो पात्रो की तर्क-वितर्क शैली और कवि की व्याख्यात्मक शैली। भ्रमरगीत हमारे विचार में वाद-विवाद सम्बन्धी रचना नहीं है। यह कवि का अपने विचारों को स्पष्ट करने का एक मौलिक प्रयोग

है । उद्धव का स्वरूप एक जिज्ञासु और शंकालु का है । गोपियाँ उसकी शंकाओं का समाधान करती हैं । भ्रमरगीत के अन्त में उद्धव के सम्बन्ध में कही गई ये पंक्तियाँ इसी दिशा में स्पष्ट संकेत कर रही है—

प्रेम विवस्या देखि सुद्ध यों भक्ति प्रकासी ।
दुविधा ग्यान गलानि मंदता सगरी नासी ।।
कहत भयौ निश्चै यहै हरि रस कौ निज पात्र ।
हौं तो कृतकृत ह्वै गयौ इनके दरसन मात्र ।।
मेटि मल ग्यान को ।।[1]

उक्त छन्द की दूसरी पंक्ति पर विशेष ध्यान जाता है । द्विविधा—असमंजस की वह स्थिति है जो शङ्का के कारण उत्पन्न होती है और बाद में 'सगरी नासी'—शब्दावली शङ्का के पूर्ण समाधान की ओर संकेत करती है । दूसरी बात यह भी है कि कवि ने गोपियों को अनेक स्थलों पर 'गुरु' कहा है और यहाँ तो वास्तव में वे गुरु का पार्ट अदा कर रही हैं । शास्त्रार्थ में एक पक्ष का झुँझला उठना उसकी हार है । किन्तु गुरु का कुतर्की शिष्य पर झुँझला उठना उसका अधिकार है । इसी अधिकार का प्रयोग गोपियों ने भ्रमरगीत में किया है—

नास्तिक हैं जो लोग कहा जानैं निज रूपैं ।
प्रकट भानु को छाँड़ि गहत परछाईं धूपैं ।।[2]

गुरु की इस झुँझलाहट से शिष्य उद्धव का चुप हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है । किन्तु नन्ददास अपने विचारों की व्याख्या को यहीं नहीं छोड़ देते । गोपियों का प्रेम-तीव्रताजनित व्यवहार उस शङ्का का समाधान कर देता है जो विचार द्वारा सम्भव नहीं हो सका । यह शङ्का-समाधान पद्धति कवि के विचारों के सर्वथा अनुकूल है । इसे पढ़कर रूपमंजरी की यह उक्ति स्मरण हो आती है—

कथनी नाहिंन पाइये, पाइये करनी सोय ।
बातन दीपग नां बरै, बारे दीपग होय ।।[3]

विचार-स्पष्टीकरण के क्षेत्र में नन्ददास की यह पद्धति अत्यधिक प्रभावपूर्ण और मौलिक है । सिद्धान्तपंचाध्यायी के समान व्याख्यात्मक पद्धति को अन्य कवियों में भी लक्षित हो सकती है पर भ्रमरगीत की शैली नन्ददास की कलात्मक प्रौढ़ता की परि-चायक है ।

विचारात्मक क्षेत्र में श्रीकृष्ण की रस-रूप में प्रतिष्ठा नन्ददास की देन है । श्रीकृष्ण के ब्रह्म, मायाधिपति, आत्माराम, सर्वान्तर्यामि आदि रूपों का नन्ददास ने उल्लेख किया है किन्तु प्रतिपादन रसमय श्रीकृष्ण का ही हुआ है । रासपंचाध्यायी के 'लाल रसिक', 'सिद्धान्तपंचाध्यायी' के 'नवल चितचोर एकरस', रूपमंजरी के 'प्रेममय',

---

१. छन्द ६२
२. भ्रमरगीत, छन्द २८
३. रूपमंजरी, दोहा ५३५

रुक्मिणी मंगल के 'कोटि काम-लावन्य' और पदावली के 'नागर नन्दकिसोर'—सभी का समाहार रसमंजरी में वन्दित श्रीकृष्ण में हो गया है—

नमो नमो आनन्दघन, सुन्दर नन्दकुमार।
रस-मय, रस-कारन, रसिक, जग जाके आधार ॥[1]

इनके सम्पर्क में आकर गोपियों का रस-रूपिणी बन जाना स्वाभाविक है क्योंकि रास के अवसर पर रमण की पहली आवश्यकता उन्हें अपने समान बनाना ही है।[2] भ्रमरगीत में गोपियों के इसी रूप को उभारकर सम्मुख लाया गया है।

रस रूप श्रीकृष्ण की आराधना भी प्रेम रस वाली है। यह बात नन्ददास की उस आरम्भिक रचना में ही स्पष्ट हो जाती है, जहाँ उन्होंने सामान्य भक्ति का परिचय कराया है। रस शब्द का अर्थ देते हुए वे कहते हैं—

रस वर को रस प्रेम रस, जाके बस बलबीर।[3]

स्पष्ट है कि इस प्रथम रचना में उन्होंने जिस बात को कहा है उसे अपनी शेष रचनाओं में सिद्ध किया है। श्रीकृष्ण का संयोग प्राप्त करने वाले जितने पात्र हैं—राधा, गोपियाँ, रूपमंजरी और रुक्मिणी—सभी में प्रेम की तीव्रता समान है। इन पात्रों से सम्बन्धित ये उक्तियाँ हमारे आशय को बिलकुल स्पष्ट कर देंगी।—

राधा— बड़ी बेरु बीती जबै, तब सुधि आई नैंकु;
स्याम स्याम रटिबे लगी, एकुहि बेर जु व्हैंकु।
बदति ज्यों बावरी ॥[4]

गोपियाँ— सुनत स्याम को नाम बाम गृह की सुधि भूली।[5]

रूपमंजरी—ताके रूप अनूप रस बौरी हौं मेरी आलि।[6]

रुक्मिणी— आगि लागि जरि जाहुँ लाज जो काज बिगारै।
सुन्दर नन्दकुँवर नगधर सों अन्तर पारै ॥[7]

यही प्रेम-तीव्रता नन्ददास की भक्ति का आदर्श रही है। भ्रमरगीत में तो प्रेम-पराजित उद्धव इसी प्रेम-पद्धति का समर्थन करते हुए कहते हैं।

जे ऐसी मरजाद मेटि मोहन को ध्यावैं।
काहे न परमानन्द प्रेम पदवी को पावैं ॥
ग्यान जोग सब कर्म तें परे प्रेम ही साँच।
हौं या पटतर देत हौं हीरा आगे काँच।[8]

---

१. रसमंजरी, मंगलाचरण
२. रम्यो चहत रस रास इनहिं अपनी समसरि करि। सि० पं०, ६६
३. अनेकार्थभाषा, ११६
४. श्याम-सगाई, ११
५. भ्रमरगीत, छन्द ३
६. रूपमंजरी, दोहा २४५
७. रुक्मिणी मंगल, २१
८. भ्रमरगीत, छन्द ६४

स्पष्ट है कि नन्ददास ने माधुर्य भक्ति का अनुसरण किया—यही भक्ति उनकी रुचि के अनुकूल भी थी। रूपमंजरी में 'इन्दुमती' के रूप में अपने को प्रस्तुत कर उन्होंने अपनी साधना-स्थिति को बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। माधुर्य भक्ति में स्वीकृत प्रेम-तीव्रता के दोनों भाव—स्वकीया और परकीया—उनके काव्य में ग्रहण किए गए हैं। स्याम-सगाई और पदावली में स्थापित राधा का स्वकीयात्व सम्प्रदाय के विचारानुकूल है और रूपमंजरी और गोपियों में दिखाया गया परकीया भाव नन्ददास की रुचि के अधिक अनुकूल है। सिद्धान्तपंचाध्यायी की ये पंक्तियाँ इस बात का स्पष्ट निर्देश करती हैं—

कृष्ण तुष्ट करि कर्म करै जो आन प्रकारा।
फल बिभचार न होइ होइ सुख परम अपारा॥[1]

कृष्ण-प्रेम का अनुसरण करने के लिए नन्ददास ने रूपमार्ग और नादमार्ग की चर्चा की है। यह कोई नवीन साधना-पद्धति नहीं है किन्तु नन्ददास ने केवल नाम देकर उन्हें प्रस्तुत किया—यही नवीनता है। वैसे तो सभी कृष्ण-भक्तों ने गोपियों को मुरली-ध्वनि और कृष्ण-रूप से आसक्त हो प्रेममार्ग पर आगे बढ़ते हुए दिखाया है।

सारांश यह कि नन्ददास ने साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का अध्ययन और मनन करके जो कुछ अपनाया उसे अपनी प्रेम रस-पद्धति में रंग कर प्रस्तुत कर दिया है। वे विद्वान थे पर रसिक विशेष थे। इसीलिए उन्होंने प्रेम-तत्त्व का प्रतिपादन किया। उनकी दृष्टि में बिना प्रेम-तत्त्व जाने रस की प्राप्ति नहीं हो सकती।

परम प्रेम पद्धति इक आही। 'नंद' जथामति बरनत ताही।
जाके सुनत गुनत मन सरसै। सरस होय रस वस्तुहिं परसै॥
रस सरसे बिनु तत्त्व न जानै। अलि बिनु कँवलहि को पहिचानै॥[2]

अतः माधुर्य भक्ति पर ही उन्होंने अपना ध्यान केन्द्रित किया। उनकी रचनाओं में भक्ति के अन्य प्रकार—दास्य, सख्य और वात्सल्य—में से प्रथम दो तो माधुर्य भक्ति का अंग बनकर आये हैं। और वात्सल्य का कवि ने संक्षिप्त परिचय भर दिया है। श्रीकृष्ण के प्रति तीव्र प्रेम उनके लिए सर्वस्व है। स्वकीया राधा को छोड़कर शेष सभी पात्र लोक-लाज, कुल-कानि सभी कुछ त्याग कर श्रीकृष्ण से प्रेम की बात कहते है। यही नन्ददास का आदर्श है।

भ्रमरगीत परम्परा और नन्ददास

भ्रमरगीत मूलतः भागवत का एक प्रसंग है। कृष्णभक्तों ने इस प्रसङ्ग को लेकर अपनी रुचि के अनुसार प्रस्तुत किया है। सूरदास से भ्रमरगीत की यह परम्परा हिन्दी कविता में आरम्भ हुई और इसका निर्वाह आधुनिक काल में भी हुआ है। इस परम्परा के प्रमुख कवि हैं—

---

१. सिद्धान्तपंचाध्यायी, ३४
२. रूपमंजरी, पंक्ति ३-५

भक्तिकाल —सूरदास, परमानन्ददास, नन्ददास, अक्षर अनन्य
रीतिकाल —रस नायक, रसरासि, ग्वाल कवि, व्रज निधि
आधुनिककाल—अयोध्यासिंह उपाध्याय, सत्यनारायण कविरत्न, रत्नाकर, मैथिलीशरण गुप्त, और डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'।

इनके अतिरिक्त तुलसीदास, मतिराम, देव आदि कवियों के भी कुछ स्फुट पद मिल जाते हैं। इन विभिन्न कवियों ने भ्रमरगीत के इस प्रसंग का अपनी रुचि और समयानुसार उपयोग किया है।

भ्रमरगीत का सम्बन्ध विरह-भावना से है। गोपियों के कृष्ण के प्रति विरहपूर्ण उद्‌गार ही प्रधान रूप से इसमें स्थान पा सके है किन्तु कुछ कवियों ने विरह के इस एकांगी पक्ष को कृष्ण-विरह दिखाकर समाप्त किया है। भ्रमरगीत का यह प्रसंग भागवत के ४६-४७ अध्याय में वर्णित है। यहीं से प्रेरणा लेकर सूरदास ने भ्रमरगीत की रचना की है। नन्ददास अपने भ्रमरगीत के लिए भागवत और सूरदास दोनों के ऋणी हैं। पर उनके भ्रमरगीत की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं जो इसे भागवत और सूरदास के भ्रमरगीत से पृथक् स्थान देती हैं।

नन्ददास का भ्रमरगीत नाटकीय शैली में लिखा गया है। उन्होंने किसी प्रकार की भूमिका बांधने की आवश्यकता नही समझी और सीधे ही विषय से आरम्भ किया है। पात्र-परिचय के बाद गोपियो की प्रेम-तीव्रता दिखाकर उद्धव-गोपी-संवाद आरम्भ होता है। भागवत में उद्धव वक्ता है और गोपियां श्रोता और सूरदास के उद्धव को तो अपनी बात कहने का अवसर ही नही मिलता। किन्तु नन्ददास ने बीच का रास्ता अपनाया है। उद्धव-गोपी-सम्वाद इसी का परिणाम है। कवि ने स्वयं 'तरक रसरीति' कहकर तर्क-पद्धति को स्वीकार करने की बात कही है। किन्तु नन्ददास ने केवल तर्क-पद्धति से अपनी बात स्पष्ट की हो ऐसी बात नहीं, उन्होंने गोपियों की प्रेम-विह्वला स्थिति का भी परिचय कराया है। भागवत के उद्धव गोपियों का प्रेम देखकर उनके महत्त्व को स्वीकार करते है और नन्ददास के उद्धव तो सब प्रकार से परास्त है— उन्होने तर्क-पद्धति और प्रेम-पद्धति दोनों के आगे सिर झुकाया है। उनका लज्जित होना पराजय का ही सूचक है। परिणाम दोनों में समान है। किन्तु नन्ददास के उद्धव श्रीकृष्ण से जाकर जो कुछ कहते है उनमें गोपियों की प्रेम-तीव्रता का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। उपालम्भ की उक्तियों से पूर्व भ्रमर-प्रवेश नन्ददास की मौलिक कल्पना है। 'कृष्ण-प्रति उपालम्भ' और 'भ्रमर-प्रति उपालम्भ' के छन्दों में नन्ददास ने व्यंग्य और कटु वचनों का प्रयोग किया है और यह तीखापन भागवत या सूरदास में उपलब्ध नही होता। नन्ददास ने उद्धव और गोपियो के अतिरिक्त अन्य किसी पात्र का उल्लेख नहीं किया है। स्पष्ट है कि नन्ददास मधुर प्रेम में कोई विषयान्तर पसन्द नहीं करते।

सूरदास की गोपियो और नन्ददास की गोपियों में स्पष्ट अन्तर है। सूरदास की गोपियां भोली है, विरह-विधुरा हैं और अपने आप मे खोई हुई हैं। अपनी बात कहते-कहते उन्हे उद्धव के सम्मुख रहने का भी सम्भवतः ज्ञान नही रहता। वे कहती जाती हैं, अपनी विरह-व्यथा दिखाती जाती है पर उद्धव को अपनी बात कहने का मौका नही

मिलता । ये भी व्यंग्य करती हैं पर उसमें कटुता नहीं है । उद्धव उनकी इस दशा पर मुग्ध हैं, लज्जित नहीं । सूरदास और नन्ददास दोनों ने उपालम्भ के समय कुब्जा को भी सम्मुख रखा है । और अपने-अपने स्वभावानुसार गोपियों के भाव को व्यक्त किया है । भ्रमरगीत के अन्त में नन्ददास के कृष्ण उद्धव को अपना वास्तविक रूप दिखाकर गोपियों से अपनी अभिन्नता का परिचय कराते हैं पर सूरदास में ऐसा नहीं है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भ्रमरगीत परम्परा में नन्ददास का योगदान महत्त्वपूर्ण है। भ्रमरगीत को विचार और भाव दोनों से कवि ने पुष्ट किया है । गोपियों की प्रेम-तीव्रता की व्यंजना द्वारा मधुरा भक्ति की उत्कृष्टता सिद्ध करना उनका उद्देश्य रहा है—और इसके लिए उन्होंने अपनी तर्कपूर्ण और रसपूर्ण दोनों प्रकार की भाषाओं का यथास्थान प्रयोग किया है। गोपियों के उपालम्भों की कटुता प्रेम-तीव्रता का मनोवैज्ञानिक परिणाम है। सारांश यह कि गोपियां प्रेम में इतनी पागल है कि वे स्वयं को वश में नहीं रख पाती । उनके लिए कृष्ण का एक ही रूप ग्राह्य है और वह है प्रेम रूप । जहां भी उन्हें इस बात का आभास मिलता है कि हमारा प्रेम हम से छिन रहा है—वे झुंझला उठती हैं। अतः नन्ददास की उपालम्भ सम्बन्धी उक्तियां प्रेम परिपुष्ट हैं । तभी तो सब कुछ कहने के बाद—'फाटि दृग हिय चल्यो' में उसका उपसंहार किया गया है ।

ऊपर साहित्यिक तथा भक्ति की दृष्टि से और भ्रमरगीत-परम्परा में नन्ददास के योगदान का जो परिचय कराया गया है उससे उनके काव्य का महत्त्व नितान्त स्पष्ट है । कवि का प्रेमपरक विशिष्ट दृष्टिकोण तीनों स्थलों पर दृष्टिगत होता है । वस्तुतः मधुर प्रेम उनके काव्य की प्रेरणा है और वही उनके काव्य का सम्प्रेष्य है । इसीलिए उनके काव्य मे मधुर-प्रेम ही सर्वत्र व्याप्त है ।

ग्रन्थानुक्रमणिका

पुस्तक में उद्धृत, उल्लिखित और लेखन में सहायक ग्रन्थों की सूची-

हिन्दी

ग्रन्थ	लेखक
अष्टसखामृत	प्राणनाथ
अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय	डॉ० दीनदयालु गुप्त
अष्टछाप	डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
अष्टछाप परिचय	प्रभुदयाल मीतल
अष्टछाप के कवि नन्ददास	प्रो० कृष्णदेव
अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन	डॉ० मायारानी टण्डन
आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प	डॉ० कैलाश वाजपेयी
इसत्वार-दे-ला लितेरात्यूर एन्दुई ए हेन्दुस्तानी	गार्सां-द-तासी
काव्य में अप्रस्तुत-योजना	रामदहीन मिश्र
काव्य-दर्पण	रामदहीन मिश्र
काव्य के रूप	बाबू गुलाबराय
कल्पना और छायावाद	केदारनाथसिंह
काव्य में बिम्ब	डॉ० नगेन्द्र
गोवर्द्धननाथजी की प्राकट्य वार्त्ता	
गोस्वामी तुलसीदास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
गीतावली	तुलसीदास
चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता	गो० गोकुलनाथ
चिन्तामणि (दो भाग)	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
तुलसी की जीवनभूमि	चन्द्रवली पाण्डेय
तुलसीदास	डॉ० माताप्रसाद गुप्त
दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता	गो० गोकुलनाथ
नन्ददास-ग्रन्थावली	ब्रजरत्नदास
नन्ददास	डॉ० भवानीदत्त उप्रेती
नन्ददास	पं० उमाशंकर शुक्ल
नन्ददास	डॉ० रामरतन भटनागर
नन्ददास	रमेशकुमार खट्टर
नन्ददास का भँवरगीत : विवेचन और विश्लेपण	डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव
पुष्टिमार्गीय पद-संग्रह	
ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्य भक्ति	डॉ० रूपनारायण
ब्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति-काव्य में अभिव्यंजना शिल्प	डॉ० सावित्री सिन्हा
ब्रजमाधुरीसार	वियोगी हरि
भक्तमाल	नाभादास
भक्तनामावली	ध्रुवदास
मूल गुसाईंचरित	बाबा बेनीमाधवदास
मध्ययुगीन काव्य-साधना	डॉ० रामचन्द तिवारी
रासपंचाध्यायी	सं० डॉ० प्रेमनारायण टण्डन
रासपंचाध्यायी	सं० डॉ० उदयनारायण तिवारी
रासपंचाध्यायी और भँवरगीत	सं० डॉ० सुधीन्द्र
रासपंचाध्यायी और भँवरगीत	सं० राधाकृष्णदास

रासपंचाध्यायी	सं० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
रीतिकाव्य की भूमिका	डॉ० नगेन्द्र
शिवसिंह सरोज	शिवसिंह सेंगर
साहित्य-लहरी	सूरदास
सूरदास	ब्रजेश्वर वर्मा
सोरों-सामग्री	
सूरदास और भगवद्-भक्ति	डॉ० मुंशीराम शर्मा
सूर की काव्य-कला	डॉ० मनमोहन गौतम
सूर-साहित्य	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी-साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी साहित्य	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डॉ० रामकुमार वर्मा
हिन्दी पुस्तक साहित्य	डॉ० माताप्रसाद गुप्त
हिन्दी साहित्य में भ्रमरगीत परम्परा	सरला शुक्ल

संस्कृत

अणुभाष्य	आचार्य वल्लभ
अभिज्ञान शाकुन्तलम्	कालिदास
अमरकोष	
अनेकार्थ समुच्चय	
उज्ज्वलनीलमणि	रूपगोस्वामी
उज्ज्वलनीलमणि की टीका	जीवगोस्वामी
तत्त्वदीप निबन्ध	आचार्य वल्लभ
बृहत्स्तोत्र सरित्सागर	आचार्य वल्लभ
भागवत टीका (सुबोधिनी)	आचार्य वल्लभ
भागवत टीका	गुसाईं विट्ठलनाथ
रसगंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ
रघुवंश	कालिदास
रसमंजरी	भानुदत्त
विद्वन्मण्डन	गुसाईं विट्ठलनाथ
शृंगाररसमण्डन	गुसाईं विट्ठलनाथ
शुद्धाद्वैत मार्त्तण्ड	गिरिधर
षोडश ग्रन्थ	आचार्य वल्लभ
साहित्य दर्पण	विश्वनाथ
हरिराय वाङ्मुक्तावली	गो० हरिराय

English

Cambridge History of India	
Form in Modern Poetry	Herbert Read
Modern Vernacular literature of Hindustan	Griersen
Principle of Literary Criticism	I.A. Richards
Poetic Image	C.D. Lewis